शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव-नियति

आनन्द मिश्र

शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव-नियति

आनन्द मिश्र

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली (भारत) वाराणसी

प्रकाशक :
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो॰ बॉक्स नं॰ ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी-२२१००१. फोन (०५४२) ३९२३७६
१, यू॰ बी॰ जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-११०००७. फोन (०११) ३९७१५७०

अन्य प्राप्ति स्थान :
भारतीय बुक कारपोरेशन
१, यू॰ बी॰ जवाहर नगर, बंग्लो रोड, दिल्ली-११०००७. फोन (०११) ३९७१५७०

© लेखक

ISBN : 81-217-0154-6

मूल्य : 350/-

प्रथम संस्करण : २०००

शब्दयोजक : ट्विंकल ग्राफिक्स, दिल्ली-९१.
मुद्रक : जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-७.

विषय-सूची

प्राक्कथन 5

भूमिका 9

प्रथम अध्याय

आचार्य शंकर के अनुसार सत्ता एवं मनुष्य का स्वरूप 1

द्वितीय अध्याय

आचार्य शंकर के अनुसार मानव-नियति का स्वरूप 55

तृतीय अध्याय

सार्त्र के अनुसार सत्ता एवं मनुष्य का स्वरूप 89

चतुर्थ अध्याय

सार्त्र के अनुसार मानव-नियति का स्वरूप 134

पञ्चम अध्याय

मानव-नियति विषयक शंकर एवं सार्त्र के विचारों की
तुलनात्मक समीक्षा 172

उपसंहार 202

ग्रन्थ-सूची 214

प्राक्कथन

'कोऽहम्', 'कस्त्वम्', 'कुत आयातः', 'क्व असि गन्ता' ये वे आद्य प्रश्न हैं जो अनादि काल से दार्शनिकों को परेशान किये हुये हैं और जिन प्रश्नों को अभी तक अपने उत्तर की प्रतीक्षा है। और सच पूछिये तो ये प्रश्न ऐसे हैं कि इनका कोई सार्वजनीन उत्तर नहीं दिया जा सकता है—इनका सार्वजनीन उत्तर इसलिये नहीं दिया जा सकता है क्योंकि ये प्रश्न स्वयं व्यक्ति को स्वयं से करने होंगे और इनका उत्तर भी उसे स्वयं ढूंढ़ना होगा। शास्त्र और शास्त्रकार तो मात्र हमारी जिज्ञासा को उद्दीप्त करते हैं। वे तो सिर्फ इतना कहते हैं कि हमें स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि *कुत स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा*। वेदान्त की यह विशेषता है कि यह कहता है कि 'सत्य' तो स्वयं व्यक्ति के भीतर छिपा है और उसे स्वयं इसे ढूंढ़ना होगा, खोजना होगा। उपनिषद् एक स्वर से कहते हैं कि 'आत्मानं विद्धि'—स्वयं को जानो, स्वयं को जानने से सब कुछ जाना जा सकता है क्योंकि व्यक्ति का जो सत्य है वही मूलभूत सत्य है, वही मूलभूत सत् है। अब शास्त्रों के साथ यह समस्या है कि वे 'इदंतया' इस सत्य को नहीं दिखा सकते हैं। शंकराचार्य की यही विशेषता है कि उन्होंने इस बात को भलीभांति समझा कि जो चरमसत्य है वह इदंतया शास्त्र का या दर्शन का विषय नहीं बन सकता, उसे प्रत्यगात्मविद्या के रूप में लेना होगा अर्थात् हर व्यक्ति को स्वयं अपने भीतर सत्य का अन्वेषण करना होगा। वेद या उपनिषदों में या स्वयं शंकर के वेदान्त में जो 'सत्य' उद्घाटित होता है उस सत्य को व्यक्ति को स्वयं अपने अन्तस् में खोजना होगा, इसीलिए शंकराचार्य अपनी रचनाओं में—अपने भाष्यों, स्तोत्रों और भजनों में—जगत् की निस्सारता को समझने तथा स्वयं के सत्य को जानने को कहते हैं। शास्त्रों का ज्ञान या स्वयं वेदान्त का ज्ञान व्यक्ति को मुक्ति नहीं दिला सकता जब तक कि व्यक्ति के भीतर स्वयं को जानने की यह जो जिज्ञासा है वह नहीं उठती और यह जिज्ञासा या प्रश्न उठे इतना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि समूचे अन्तस् से अपने 'सत्य' को जानने की मांग उठनी चाहिए। जब हम सुकरात को 'स्वयं को जानो' का उद्घोष करते हुए पाते हैं या फिर किर्केगार्ड को यह कहते हुए पाते हैं कि सत्य विषयिता (आन्तरिकता) है, तो हम यही चेष्टा देखते हैं कि किस तरह व्यक्ति को स्वयं खुद से परिचित कराया जाए। समकालीन युग

का सबसे बड़ा संकट यह है कि व्यक्ति का यह *स्वयं आत्म* खो गया है, व्यक्ति स्वयं से ही एकाकी हो गया है। समाजवादी समाज में व्यक्ति का यह अलगाव तो स्पष्ट प्रतीत होता है, व्यक्तिवादी समाज में भी व्यक्ति बिना सोचे समझे धन, सम्पत्ति, यश, दान, शक्ति एवं ज्ञान में ममेदम् और अहमेवम् का भाव किये हुए है और 'स्वयं मैं कौन हूँ' इसको भूले हुए है। और यही इस युग का संकट है। ऐसा नहीं है कि यह संकट पहले नहीं रहा हो, पर आज के युग की विडम्बना यह है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के प्रति तो प्रतिबद्ध है लेकिन अपने *स्व* का *अर्थ* नहीं समझ पा रहा है। अतः स्वयं व्यक्ति की खोज–स्वयं खुद की खोज–आज सबसे महत्वपूर्ण है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि मनुष्य के स्वरूप एवं नियति की जिज्ञासा के लिये अभिप्रेरित करने का यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य की 'अवधारणा' का स्पष्टीकरण किया जाए। इस युग की यह भी एक बड़ी त्रासदी है कि व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति की अवधारणा अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है। समाजविज्ञान, राजनीतिविज्ञान, मानवविज्ञान, प्राणिविज्ञान तथा अन्य प्रकृतिविज्ञानों की यही कमी है कि वे मनुष्य की *अवधारणा* को तो विश्लेषित करने का सफल या असफल प्रयास करते हैं पर स्वयं *मनुष्य* को–व्यक्ति को–व्याख्यायित नहीं कर पाते हैं। और वह तो व्याख्यायित भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानवीय-स्वतन्त्रता या अतिक्राम्यता किसी भी व्याख्या से पूर्णतः व्याख्यायित नहीं हो सकती, सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन की यही विशेषता है कि उसने मानवीय अस्तित्व के इस स्वतन्त्र और अव्याख्येय स्वरूप को समझा। मानव-अस्तित्व के स्वतन्त्र एवं अतिक्रामी स्वरूप को शंकर एवं सार्त्र दोनों ने अपने दर्शन का प्रस्थानबिन्दु बनाया तथा दोनों के लिये दर्शन इस बात की खोज है कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है और मानवीय नियति क्या है? दोनों ही व्यक्ति को उसके नित-प्रति के व्यवहार के जीवन में झकझोरते हैं तथा स्वयं के 'सत्य' को जानने को अभिप्रेरित करते हैं। सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व की जिन मूलभूत समस्याओं को उठाता है, शांकर वेदान्त के आलोक में उन समस्याओं का बेहतर और सर्वसमाधेयी समाधान दिया जा सकता है। मानव-नियति की जिज्ञासा का प्रश्न युगों-युगों से दार्शनिकों द्वारा उठाया जाता रहा है, पर आज यह समस्या उसके अस्तित्व की निर्णायक समस्या हो गयी है। सार्त्र के विषयिता एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी मत तथा मूलभूत योजना सम्बन्धी अस्तित्वपरक मनोविश्लेषण को शांकरवेदान्त के संदर्भ में समझने से तथा शांकर वेदान्त की अस्तित्ववादी ढंग से विश्लेषण द्वारा ''मानव-नियति'' के सम्बन्ध में एक ऐसा समग्र दर्शन प्रस्तुत करना सम्भव हो सकता है जो न केवल समकालीन मनुष्य की बौद्धिक एवं दार्शनिक जिज्ञासा को शान्त कर सकेगा, अपितु उसे उसकी ''पतितावस्था'' से त्राण एवं मुक्ति दिला सकेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक प्रयास है।

यह ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है। ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम अपने गुरुजी एवं शोध-निर्देशक श्रद्धेय प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय (विभागाध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति आभार प्रकट करना चाहूंगा जिनके अमूल्य स्नेह, सहयोग और आशीर्वाद के बिना यह कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय रहा है कि मुझे श्रद्धेय गुरुजी जैसे मूर्धन्य विद्वान से वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़ने का अवसर मिला। गुरुजी की प्रेरणा से ही मैं फेनॉमेनॉलॉजी और अस्तित्ववाद के अध्ययन के प्रति उन्मुख हुआ और उन्होंने ही मुझे *शंकराचार्य और सार्त्र* पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। श्रद्धेय गुरुजी के अतिरिक्त आचार्यप्रवर प्रो. पारसनाथ द्विवेदी (वेदान्त विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) और प्रो. उमेशचन्द्र दुबे (दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके अमूल्य सहयोग, परामर्श और आशीर्वाद से प्रस्तुत पुस्तक की रचना संभव हो पायी। इस अवसर पर मैं एम.एम.एच. कालेज, गाजियाबाद के दर्शन विभाग की अध्यक्षा डॉ. विनोद कुमारी जी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित किए बिना नहीं रह सकता जिनके स्नेह और सहयोग को मैं कभी भूल नहीं सकता। अपने मित्रों डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा (सागर विश्वविद्यालय), डॉ. रजनीश शुक्ल (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) और डॉ. दुर्गेश चौधरी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहूंगा जिनका उचित परामर्श और सहयोग मुझे समय-समय पर मिलता रहा।

अन्त में, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार त्रिपाठी जी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके कारण विभाग में मुझे वह स्वस्थ बौद्धिक वातावरण प्राप्त हुआ जिससे यह कार्य अतिशीघ्र सम्पन्न हो सका। विभाग से ही जुड़े हुए वरिष्ठ आचार्य प्रो. रघुनाथ गिरि, प्रो. सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी और अपने वरिष्ठ सहयोगियों डॉ. गीता रानी अग्रवाल एवं डॉ. शशि देवी सिंह के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित करता हूं जिनसे मुझे हमेशा स्नेह, सहयोग और सत्परामर्श मिलता रहा है।

अन्ततः भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी परिवार के श्री किशोर चन्द्र जी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनके व्यक्तिगत रुचि एवं प्रयास से इस पुस्तक का इतने सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशन संभव हो पाया।

आनन्द मिश्र

प्रिय पुत्र

अंकित की स्मृति में......

भूमिका

दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में हम आरम्भ से ही उसकी दो धारायें देखते हैं-एक जो सतत् अनुभूयमान निखिल विश्व के मूल तत्त्व को जानना चाहती है और दूसरी वह जो स्वयं अपने अर्थात् अनुभविता के स्वरूप को जानना चाहती है। प्रथम धारा का उद्देश्य अनुभव में आने वाले बाह्य जगत् के स्वरूप का अन्वेषण करना होता है जबकि दूसरी धारा का लक्ष्य स्वयं मनुष्य के स्वरूप का विश्लेषण करना होता है। प्रथम धारा इस अर्थ में आदिम है कि दार्शनिक चिन्तन के आरम्भ में इसकी दृष्टि पराक् रही है अर्थात् अपने से परे बाह्य जगत् के मूल तत्त्व की जिज्ञासा करने वाली। लेकिन जैसे-जैसे दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है यह प्रत्यङ्मुखी होती जाती है और इसका केन्द्र मनुष्य होता जाता है। दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य अनुभव की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करना होता है। अतः दर्शन की वस्तुनिष्ठ प्रणाली–वह प्रणाली जो बाह्य जगत् के तत्त्वानुसन्धान को अपना प्रधान जिज्ञास्य बनाती है–इस अर्थ में असफल होती है कि इससे सम्पूर्ण अनुभव की व्याख्या नहीं हो पाती। स्वयं अनुभवकर्ता के स्वरूप पर इससे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। दूसरी ओर यदि दार्शनिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु स्वयं मनुष्य को बनाया जाता है–स्वयं उसके स्वरूप की जिज्ञासा पर बल दिया जाता है–तो न केवल अनुभविता के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है अपितु उसके अनुभव में आने वाले अनुभूयमान विश्व की भी व्याख्या हो जाती है ग्रीक दर्शन की आरम्भिक प्रवृत्ति सृष्टिपरक संमस्याओं को सुलझाने की रही है। ग्रीक दर्शन के जनक थेलीज का प्राथमिक लक्ष्य जगत् को समझने का था। सुकरात इस अर्थ में पश्चिम का सबसे प्रमुख दार्शनिक माना जाता है क्योकि उसने दर्शन के इस पराक् तत्त्व-विश्लेषण प्रणाली को प्रत्यकत्व की ओर अभिमुख करते हुए "स्वयं को जानो" का उद्घोष किया। "आत्मा वाऽरे द्रष्टवो", "आत्मानं विद्धि" आरम्भ से ही भारतीय दार्शनिकों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। शंकराचार्य के लिये दर्शन का अर्थ आत्मविद्या है। भारतीय दर्शन "आत्मविद्या" के साथ ही "मोक्षविद्या" रही है। वस्तुतः आत्मा का ज्ञान मनुष्य को उसकी मुक्ति का मार्ग दिखाता है। स्वयं अपने स्वरूप के विश्लेषण से व्यक्ति अपनी मुक्ति का रास्ता खोज सकता है। अतः दार्शनिक चिन्तन एवं गवेषणा का मूलभूत विषय स्वयं मनुष्य है। यह मनुष्य है जो दार्शनिक प्रश्नों को उठाने में सक्षम है और अन्ततः

यह वह स्वयं है जिसके स्वरूपान्वेषण में दार्शनिक प्रश्नों का समाधान निहित है। मनुष्य का अध्ययन समाजविज्ञान, राजनीतिविज्ञान, मानवविज्ञान, मनोविज्ञान, प्रकृतिविज्ञान प्रभृति विधायक विज्ञानों द्वारा भी किया जाता है, पर ये "मनुष्य" के स्वरूप को पूर्णतः समझाने में असमर्थ होते हैं एवम् इनके अध्ययन से मानवीय श्रेयस् और नियति से सम्बन्धित जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाता। मानव जीवन की विशेषता उसकी साध्योन्मुखता में है। प्राकृतिक विज्ञानों और उनसे प्रभावित दर्शनों में दोष यह है कि ये मानव जीवन के इस लक्ष्योन्मुख स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाते और इसका प्रमुख कारण उनकी कारणता सम्बन्धी वह धारणा है जो लक्ष्योन्मुखता की अवहेलना करती है। मनुष्य को उसके अतीत द्वारा नहीं अपितु भविष्य द्वारा समझा जा सकता है। इसलिये मानवीय स्वरूप का विश्लेषण नहीं अपितु मानवीय नियति का विश्लेषण दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य होना चाहिए। मनुष्य सम्बन्धी चर्चा का अर्थ मानवीय नियति की चर्चा है। मनुष्य सम्बन्धी कोई भी अध्ययन तब तक अपूर्ण है जब तक वह उसके नियति की व्याख्या नहीं करता। मूल्यों को, साध्य को, भविष्य को हटाकर मनुष्य को नहीं समझा जा सकता है। कारणता की बृहत्तर अवधारणा न केवल तथ्यों को अपितु मूल्यों को भी समझाने में समर्थ होनी चाहिये। अतः मूल कारण को अरस्तु, हीगल और शंकर ने वह बतलाया जो न केवल आदि में हो अपितु जो अन्त में भी हो। शंकराचार्य के दर्शन में जैसा कि हम आगे देखेंगे जो चरमसत् है वही परम मूल्य है। मानव-नियति के विश्लेषण में तथ्य एवं मूल्य, सिद्ध एवं साध्य, सत्ता के दोनों पक्ष की व्याख्या हो जाती है। मनुष्य तथ्यता एवम् अतिक्रम्यता दानों का संगम है। जहाँ एक तरफ मानव--अस्तित्व की विशिष्टता उसका अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना--एक तरह की अतिक्रमणता है, वहीं दूसरी तरफ उसकी अपनी एक स्थितिप्रदता है जिसमें वह देश और काल के विशिष्ट बिन्दु पर अवस्थित और विशेष देहेन्द्रियान्तःकरण से आवेष्ठित है। इसके बावजूद मनुष्य के विषय में सत्य यह है कि वह जो दिखायी देता है वह नहीं है, उससे अतिक्रम्यता उसकी विशिष्टता है। मनुष्य के ऐसे स्वरूप को शंकर एवं सार्त्र दोनों स्वीकार करते हैं यद्यपि भिन्न अर्थों में। दोनों ही दर्शन का केन्द्र मनुष्य को बनाते हैं एवम् उसके होने के अर्थ को ढूढ़ना तथा उसे उसकी नियति से परिचित कराना दोनों के लिये प्रधान दार्शनिक कार्य है। मानव--नियति के विषय में इन दोनों दार्शनिकों के विचारों को स्पष्ट करते हुए इस सम्बन्ध में एक समग्र दर्शन की तलाश प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। अध्ययन के लिये जिन दो दार्शनिकों का चयन किया गया है वे परस्पर विपरीत संस्कृति एवं समय के दार्शनिक हैं। जहाँ शांकर वेदान्त पूर्व के पुरातन एवं सनातन चिन्तन का प्रतिनिधित्व करता है, वही सार्त्र का दर्शन पश्चिमी और समकालीन

चिन्तन का एक अर्थ में प्रतिनिधित्व करता है। पर इस अध्ययन से पूर्व मानव–नियति विषयक समस्या की दार्शनिक चिन्तन के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पर्यालोचना आवश्यक है जिससे कि यह स्पष्ट हो सके कि अतीत में दार्शनिकों ने इस समस्या के सम्बन्ध में कैसे अध्ययन किया और स्वयं शंकर एवं सार्त्र के मानव–नियति विचारों का इनसे कैसे विकास हुआ होगा?

भारतीय दर्शन में मानव-नियति का स्वरूप

समस्त वैदिक दर्शन का चरम निष्कर्ष हम उपनिषदों में पाते हैं। उपनिषदों के अनुसार परमतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान मानव–बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। बुद्धि उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है।[1] परमतत्त्व आत्मरूप से व्यक्ति के सर्वथा अन्तरंग होते हुए भी तथा सद्यः अपरोक्ष होते हुए भी ज्ञेय नहीं है। तत्त्व का वास्तविक रूप हमारी बुद्धि से परे होने के कारण निर्गुण, निराकार, निष्प्रपञ्च, अशब्द, अरूप, अगन्धवत् है।[2] बुद्धि द्वारा अज्ञेय होने पर भी वह सर्वथा अज्ञात नहीं है तथा हमारी अपरोक्षानुभूति द्वारा प्रकाशमान है। इसलिये कहा गया है–

"नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।"[3]

उपनिषदों का इस विषय में एकमत प्रतीत होता है कि समस्त दृश्यमान विश्व में परमतत्त्वरूपी ब्रह्म प्रकाशवान् है। यह समस्त संसार ब्रह्मरूप है। एकमात्र परमसत् ब्रह्म की ही सत्ता है तथा अनुभूयमान सकल विश्व का मूलभूत सत् जो ब्रह्म है वही व्यक्ति का परमसत् आत्म है। अतः आत्मा ही ब्रह्म है–यह उपनिषदों का सार है।[4] यह आत्मा विभु है, कूटस्थ नित्य है एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है। फलतः दुःख, जरा, मृत्यु, भय का वहाँ कोई स्थान नहीं है। अब यदि मृत्यु, जरा, दुःख, शोक, भय आदि दृश्यमान है तो वह हमारी अविद्या दृष्टि के कारण ही है, यह वस्तुतः हमारा बन्धन एवं अप्रमाणिक अस्तित्व है। उपनिषद् इस अर्थ में मोक्षशास्त्र है कि यह इस अप्रामाणिक अस्तित्व रूप बन्धन से मुक्ति का मार्ग दिखाता है तथा आत्मविद्या को मोक्षविद्या के रूप में प्रतिपादित करता है। अपने स्वरूपभूत आनन्द तथा प्रज्ञानघनरूप सत् का अज्ञान ही हमारे 'पतन' का कारण है तथा इस स्वरूप का बोध ही हमारी मुक्ति है।

उपनिषदों का मूल प्रश्न वह प्रतीत होता है जो छान्दोग्य उपनिषद् में अरुण पुत्र उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु से पूछा जाता है। आरुणि श्वेकेतु से पूछते हैं कि क्या तुमने वह पूछा जिसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है, वह सब कुछ जो अमत, अश्रुत और अविज्ञात हो वह मत, श्रुत एवं विज्ञात हो जाता है।[5] छान्दोग्य

उपनिषद् में बाह्य विश्व और सृष्टि के तात्त्विक विश्लेषण से सृष्टि सम्बन्धी वह प्रधान सिद्धान्त दिया जाता है जिसके अनुसार कारण की ही सत्ता होती है और कार्य नामरूपात्मक विकार मात्र है। सकल प्रपञ्च और नानात्व के पीछे एकमात्र ब्रह्म ही विद्यमान है। परमकारण रूप उस तत्त्व के जान लेने से समस्त विश्व ज्ञात हो जाता है। यह परमतत्त्व अद्वितीय निष्प्रपञ्च ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह बताया जाता है कि स्वयं मनुष्य ब्रह्मरूप है–तत्त्वमसि। आत्मा के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात इसलिये भी हो जाता है कि इसी के प्रकाश से समस्त नामरूप प्रकाशित होता है। यह आधाररूप चैतन्य है जो समस्त ज्ञान की प्रकाशिका है। केनोपनिषद् में कहा गया है कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता पर जिससे वाणी प्रकाशित होती है, जो मन से मनन नहीं किया जा सकता पर जिससे मन मनन करता है, जो नेत्र से दिखायी नहीं देता पर जिसकी सहायता से नेत्र अपने विषय देखते हैं, जिसे कान नहीं सुनता किन्तु जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनती है–वह ब्रह्म है।[6] इस तरह जब हम अपने अनुभव की विवक्षा करते हैं तब हम पाते हैं कि समस्त अनुभव का जो आधारभूत प्रतिष्ठान है, उसके जाने बिना 'अनुभव' की विवक्षा भला कैसे हो सकती है? और उस आधारभूत चेतना रूप आत्मा के विश्लेषण से समस्त ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान की व्याख्या हो जाती है क्योकि इनका आधारभूत तत्त्व वही है तथा वही इन्हें प्रकाशित करता है। इस तरह हमारी 'आत्मा' हमारे दार्शनिक चिन्तन का प्रस्थानबिन्दु होना चाहिये। यही वह प्रथम एवं मूल तत्त्व है जिसकी व्याख्या से सब कुछ व्याख्यायित हो जाता है। यह आत्मा विभिन्न इन्द्रियों के रूप में मनुष्य में अधिष्ठित विभिन्न देवताओं का नियामक है–उन देवताओं का–जो तद् तद् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय जगत् के भी अधिष्ठातृ देव हैं।[7] इस तरह आत्म केन्द्रित जिस विश्व की उपनिषदों में कल्पना की गयी है उसमें एक ही देव अनुभव के आलम्बन का भी अधिष्ठान है तथा उसके माध्यम का भी। अर्थात् आन्तर जगत् की जैसी संरचना है वैसी ही बाह्य जगत् की भी। ऐतरेय उपनिषद् का यह सिद्धान्त भारतीय विज्ञानवाद को वह सुदृढ़ आधारभूमि प्रदान करता है जिसके कारण यह सकल जगत् की सुसंगत विज्ञानवादी व्याख्या करने में समर्थ होता है। बाह्य जगत् एवम् आन्तर जगत् की इस सहवर्त्तिता तथा एकसूत्रता के कारण, आत्मा एवं शरीर के सम्बन्ध की समस्या जो कि पश्चिमी दार्शनिकों के लिये असमाधेय रही भारतीय दार्शनिकों के लिये कोई समस्या ही नहीं रह जाती। ऐतरेय उपनिषद की यह अर्ध-रहस्यमय तथा पौराणिक सी लगने वाली कथा[8] मनुष्य को दिव्यता प्रदान करती है और कहती है कि देवताओं के अधिवास के लिये मनुष्य से अच्छी कोई जगह नहीं और वह भी आत्मा के निर्देशन में।

मृत्युजनित आगन्तुकता का बोध उपनिषद् के ऋषियों के लिये सबसे बड़ी त्रासदी है, वे इससे मुक्ति के लिये इतने आतुर हैं कि जीवन के समस्त भोग, उपभोग, सुख तथा सैकड़ों-हजारों वर्षो की आयु उनके लिये तुच्छ है क्योंकि इससे अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है, "मैं उन सबको लेकर क्या करूँगी जिससे मुझे अमरत्व नहीं प्राप्त हो सकता।"[9] इसी प्रकार नचिकेता समस्त भोगों के बदले मृत्यु के रहस्य को जानने को उत्सुक है। और मृत्यु का रहस्य अमरत्व के द्वार को खोलता है, यह मानव-अस्तित्व के उस गूढ़तम सत् का अनावरण करता है जो कि समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है, मूल है एवं शाश्वत है। इस तरह उपनिषद् मनुष्य केन्द्रित विश्व की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। हाँ, यह मनुष्य देहेन्द्रियावेष्ठित जीव मात्र नहीं है। यह इनसे परे वह है जो सकल विश्व का आधारभूत और अधिष्ठान है। मानवीय तथ्यता और स्थितिप्रदत्तता, जो कि मनुष्य की देहेन्द्रियान्तःकरणावेष्ठितता है, का अतिक्रमण ही मनुष्य की नियति है, क्योंकि वही उसका स्वरूप है। समस्त उपनिषद् व्यक्ति को उसके इसी स्वरूप और नियति से परिचित कराने का एक बौद्धिक प्रयास है।

उपनिषदों का आत्मज्ञान पर अत्यधिक जोर कदाचित् मनुष्य की ऐतिहासिकता तथा सामाजिकता की अवहेलना में फलित हुआ होगा तथा जीवन एवं सामाजिक दायित्वों के तिरस्कार एवं संन्यासवाद ने मनुष्य और मानवीय जीवन सम्बन्धी वैदिक समग्रदृष्टि जन्य सन्तुलन को आन्दोलित किया होगा, ऐसी परिस्थिति में श्रीमद्भगवद्गीता में हम मनुष्य और उसके नियति के सम्बन्ध में एक नये दृष्टि से विमर्श देखते हैं। आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म के मूलभूत उपनिषदीय सिद्धान्तों की स्वीकृति के बावजूद संहिता तथा ब्राह्मण में विवेचित जीवन तथा प्रकृति के प्रति व्यक्त आभार एवं प्रकृति से तथा लोक से जोड़ने वाले विभिन्न यज्ञों की पुनर्चर्चा मिलती है। इस तरह सामाजिक एवं लौकिक दायित्वपूर्ण मोक्ष प्राप्ति का हम नया रास्ता देखते हैं। आवश्यकता है कर्मत्याग की नहीं अपितु कर्मफल त्याग की–कामना के त्याग की, और यह इस तरह सम्भव है कि सब कुछ ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट मान लें, अपने कार्य परिणामों को ईश्वर को अर्पित कर दें, हम स्वयं को ईश्वर द्वारा संचालित मान लें।

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य चैतन्य स्वरूप है।[10] वह निसर्गतः अनन्त चतुष्टय से युक्त है अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से युक्त है। जैनों के अनुसार जीव स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। वह स्वयं अपने कर्मों के कारण बन्धन में पड़ता है तथा स्वयं अपने प्रयत्नों से–सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र से–मोक्ष को प्राप्त होता है। जैनों की यह विलक्षण कल्पना है

कि कर्म पौद्गलिक होते हैं। जीव निसर्गतः मुक्त है, वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाल देता है और यही उसका बन्धन है। ये कर्म जीव को सर्वांशतः व्याप्त कर उसे इस दुःखमय प्रपञ्च में बाँध देते हैं। इस तरह भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध कराने का कारण उसका कर्म है। कर्मों के साथ जीव का सम्बन्ध उसका बन्धन है तथा इनका क्षय ही मोक्ष है। उमास्वामी के अनुसार बन्धन के पाँच कारण हैं-(1) मिथ्यात्व, (2) अविरति, (3) प्रमाद, (4) कषाय (क्रोध, लोभ, मान और मायापरक मानसिक आवेग), (5) योग (मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्ति)। इनके कारण कर्मपुद्गल जीव की तरफ आकृष्ट हो उसे बाँधते हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र से कर्मों का नाश होता है तथा जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वह अनन्त चतुष्ट्य से सम्पन्न हो सिद्धशिला में निवास करता है। जैन दर्शन इस अर्थ में मानव-दर्शन है कि यह व्यक्ति को स्वयं अपनी नियति का नियामक मानता है तथा मोक्ष को ईश्वरीय कृपा से प्राप्त होने वाली चीज नहीं मानता। मनुष्य आध्यात्मिक गुरुओं (जिन या केवली) के अनुभवों से तथा धार्मिक ग्रन्थों से लाभ ले सकता है, परन्तु अपनी मुक्ति उसे स्वयं ही प्राप्त करनी होगी।

चार्वाक इस अर्थ में पूरे मानववादी हैं कि वे न केवल ईश्वरादि पारलौकिक सत्ता में अविश्वास करते हैं अपितु मानव-जीवन की किसी तरह की भी अतिक्रमणीयता उन्हें स्वीकार नहीं है। पृथिवी, अप, तेज और वायु इन्हीं चार मूलभूत तत्त्वों से बाह्य जगत्, इन्द्रियों तथा शरीर की उत्पत्ति होती है। देह से भिन्न आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थों से उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पान-खैर-चूना-सुपारी के विशिष्ट संयोग से रक्तता की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से चार्वाक पूरे जड़वादी हैं। मनुष्य का कोई अनिवार्य स्वरूप नहीं है। वह एक आगन्तुक घटना मात्र है। जब तक जीवन है तभी तक मनुष्य है, उसके बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। जीवन की इस आगन्तुकता का बोध स्वभावतः संत्रास और अनास्था को जन्म देता है जो कि उनके इस महत्त्वपूर्ण परामर्श में देखा जा सकता है कि "जब तक बने खा पी लो।" मृत्यु को अपवर्ग स्वीकार कर जीवन की स्वाभाविक दुःखात्मकता को अन्य दर्शनों की भाँति चार्वाक को भी स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे आगन्तुक एवं दुःखात्मक जगत् में चार्वाक मनुष्य को इस प्रदत्त जीवन को किसी तरह अधिक से अधिक सुखप्रद बनाने का उपदेश देता है। इसीलिये 'काम' को चार्वाक दर्शन में परम पुरुषार्थ माना गया है। चार्वाकों ने ऐहिक जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिये विभिन्न कला-कौशलों को प्रोत्साहित किया। चूँकि सुखी जीवन नियमपूर्वक जीवन द्वारा

ही बीताया जा सकता है, अतः धर्म को पुरुषार्थों में स्थान दिया गया। चूँकि वैयक्तिक सुख एवं कल्याण सामाजिक कल्याण में ही निहित है अतः सामाजिक नियम, दण्ड, व्यवस्था आदि पर चार्वाकों ने बहुत जोर दिया। बृहस्पति ने इसी निमित्त अर्थशास्त्र की रचना की। समाज का नियमानुसार चलना संसार के कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक है, इसीलिये चार्वाकों ने मनुष्यों का निग्रह तथा अनुग्रह, दण्ड तथा दया करने वाले राजा को ही ईश्वर माना (निग्रहानुग्रहकर्त्ता राजा ईश्वरः)। चार्वाक दर्शन इस तरह मनुष्य को पूर्णतः लौकिक मानता है और बिना पारलौकिक शक्तियों की स्वीकृति के मनुष्य का जो स्वरूप और नियति हो सकता है उसकी मीमांसा करने का उसने प्रयास किया। इस अर्थ में चार्वाक दर्शन की प्रवृत्ति बहुत से ग्रीक दार्शनिकों के समान है।

बौद्ध धर्म एवं दर्शन का मूल सिद्धान्त बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्य–सत्य का सिद्धान्त है। ये आर्य–सत्य इस प्रकार हैं–संसार में दुःख है, इन दुःखों का कारण है, दुःख को दूर किया जा सकता है और दुःख को दूर करने का मार्ग है। बुद्ध का प्रधान उद्देश्य दुःखों से पीड़ित मनुष्य के लिये दुःख से मुक्ति का उपाय ढूंढ़ना था, न कि तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्नों में उलझना। सत्ता विषयक प्रश्नों में उलझने से स्वयं मनुष्य की समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता, इसीलिये बुद्ध ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत बताते हैं तथा उन पर मौन हो जाते थे। यह संसार दुःखरूप है, जरा-मरण से युक्त है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, व्याधि, जन्म, जरा और मरण सब दुःख है। जीवन और जगत् की यह दुःखात्मकता आनुभविक दुःखों में व्यक्त दुःख से कहीं अधिक गहरी है। मूल में यह स्वयं व्यक्ति और जगत् की अनित्यता के कारण है। यदि जगत् और स्वयं व्यक्ति निस्स्वभाव तथा अनित्य है तो दुःख मनुष्य की अनिवार्य नियति है। दुःख अकारण नहीं है। दुःखों का कारण स्वयं हमारी तृष्णा है–संसारिक पदार्थों को भोगने की कभी न तृप्त होने वाली अतृप्त इच्छा है। यही वह मूल कारण है जिसके फलस्वरूप जीव को बार-बार इस संसार में आना पड़ता है। दुःखों के कारण रूप में बुद्ध द्वादश निदानचक्र, भवचक्र, जन्म-मरणचक्र या प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र रूप में बारह कड़ियों को बताते हैं। सांसारिक दुःखों का मूल कारण अविद्या है जो कि तृष्णा की जननी है। अविद्याजन्य तृष्णा के कारण संसार में आसक्ति होती है और भवचक्र चलता रहता है। यह अविद्या या अज्ञान चार आर्य–सत्यों का अज्ञान है। यह अविद्या अनित्य को नित्य, अनात्म को आत्म और दुःख को सुख समझने का अज्ञान है। सत्ता मात्र अनित्य है, निस्सार है। स्वयं व्यक्ति में कोई शाश्वत आत्मा नहीं है। कथित आत्मा वस्तुतः रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पञ्च स्कन्धों का संघात है। इस प्रकार के मनो-दैहिक एकता के अतिरिक्त बुद्ध किसी शाश्वत आत्मा को सवीकार नहीं

करते।[11] अब यदि जगत् एवं जीव अनित्य एवम् अनात्मरूप हैं तो इनके स्थायित्व की अभिकल्पनापूर्वक होने वाली समस्त आसक्ति एवं तृष्णा हमारी मूढ़ता है। संसार में बार-बार जन्म लेने से और जरा-मरणरूपी दुःखों की व्याधि से मुक्ति अविद्यानाश द्वारा सम्भव है और इसके लिये बुद्ध अष्टांगिक मार्ग बतलाते हैं। नित्य आत्मा में अविश्वास तथा ईश्वर की अस्वीकृति के बावजूद बुद्ध एकता की जगह सन्तति को स्वीकार कर व्यक्तित्व की व्याख्या कर लेते हैं। मनुष्य स्वयम् अपने दुःखात्मक अस्तित्व के लिये उत्तरदायी है तथा अपनी मुक्ति–निर्वाण–का मार्ग उसे स्वयं ढूंढ़ना है। आत्मदीपो भव–यह बुद्ध की उद्घोषणा है। निर्वाण दुःख का निरोध है, दुःखों से मुक्ति है। यह सर्वोच्च स्वातन्त्र्य और आनन्द की स्थिति है।[12] यह तृष्णा के बुझने की स्थिति है। निर्वाण की स्थिति का वर्णन बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। इस तरह सामान्य मानव-अस्तित्व की नियति दुःख स्वीकार करने के बावजूद अन्ततः इस दुःख का निरोध रूप जो निर्वाण है, वही बौद्ध दर्शन में मनुष्य की चरम नियति है। हीनयान में जहाँ व्यक्तिगत निर्वाण या अर्हतत्त्व के आदर्श पर जोर दिया गया है, महायान सर्वमुक्ति के आदर्श पर जोर देता है। जब तक संसार के सब लोगों के दुःख का अन्त नहीं हो जाता, दुःख के पूर्ण निरास की बात नहीं की जा सकती है। बोधिसत्व का आदर्श ऐसा ही है। वह व्यक्तिगत दुःखों से मुक्त होते हुए भी सर्वमुक्ति के लिये–प्राणीमात्र का दुःखों से उद्धार कराने के लिये–संसार में शरीर धारण किये रहता है। सर्वमुक्ति का–बोधिसत्व का–यह आदर्श बौद्ध चिन्तन की अनूठी देन है जिसका समकालीन विश्व में बहुत ही महत्त्व है।[13]

बौद्ध दर्शन के समान ही सांख्य भी दुःख की सार्वभौमिकता को स्वीकार करता है और दुःख से मुक्ति को मनुष्य का चरमलक्ष्य बतलाता है। इन दुःखों का कारण सत्ता एवं स्वस्वरूप का अज्ञान है। सांख्य दर्शन इसीलिये सत्ता के स्वरूप का विश्लेषण करता है। सांख्य प्रकृति और पुरुष नामक परस्पर भिन्न एवं विरुद्ध स्वभाव वाले दो स्वतन्त्र तत्त्वों को स्वीकार करता है। प्रकृति भौतिक तत्त्व है जबकि पुरुष चेतन या आत्मत्त्व है। प्रकृति समस्त जड़ जगत् की जननी, अव्यक्तरूपा और स्वयम् अजन्मा है। वह सृष्टि की आदिभूत कारण है, प्रथम मौलिक तत्त्व है, समस्त कार्यजात अव्यक्त रूप से इसमें वर्तमान रहते हैं। वह जड़ है, स्वतन्त्र है, नित्य है, एक है तथा व्यापक है। वह सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। प्रकृति के विपरीत पुरुष चेतन तत्त्व है। वह एक न हो अनेक है। चेतना उसका गुण नहीं अपितु स्वरूप है। वह साक्षी है, कूटस्थ नित्य है, प्रकृति के विपरीत निष्क्रिय और अपरिणामी है। वह निर्गुण या निस्त्रैगुण्य है। नित्य होने से वह किसी का कार्य नहीं है, सभी प्रकार के क्रिया, परिणाम-विकार या परिवर्तन से वह

सर्वथा अस्पृष्ट है। प्रकृति जो कि गुणों की साम्यावस्था है, के पुरुष के साथ संयोग से, उसमें गुणक्षोभ उत्पन्न होता है और यहीं से सृष्टि या विकास का आरम्भ होता है। पुरुष अनादि अज्ञानवश अपना तादात्म्य प्रकृति एवम् उसके विकारों–देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि से–कर बैठता है और उसके धर्मो को अपने ऊपर आरोपित कर बैठता है। पुरुष बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब को अपना स्वरूप समझ उससे अपना तादात्म्य कर लेता है। यही उसका बन्धन है। प्रकृति अथवा उसके विकारों से तादात्म्य के बदले उनसे विवेक का ज्ञान–ज्ञान कि मैं इनसे पृथक् पुरुष हूँ–सांख्य में सम्यक् ज्ञान है। यह पुरुष का अपने कैवल्य स्वरूप का ज्ञान है, यही सांख्य में मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में पुरुष और प्रकृति दानों बने रहते हैं, हाँ इनके बीच कल्पित तादात्म्य का बाध हो यह विवेक हो जाता है कि ये दोनों अलग–अलग हैं। विवेकज्ञान के होते ही प्रकृति का कार्य उस विशेष पुरुष के लिए समाप्त हो जाता है और आगे वह उसके लिये कार्य करना बन्द कर देती है। सांख्य में विकास का लक्ष्य पुरुष का मोक्ष है। पुरुष के मोक्ष के साथ ही उस पुरुष के लिये प्रकृति का व्यापार समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों का मनोरंजन करने के बाद मंच से चली जाती है, उसी प्रकार प्रकृति किसी विशेष पुरुष के मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद उसके सामने से हट जाती है। सांख्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों स्वीकार करता है।

सांख्य पुरुष को चैतन्य स्वरूप मानता है। मोक्ष में जिस तरह दुःख का अभाव होता है उसी तरह सुख का भी, क्योंकि सुख भी सत्वगुण का परिणाम है और चूँकि पुरुष निस्त्रैगुण्य है अतः मोक्ष की अवस्था सुख–दुःख दोनों से परे की स्थिति है। सांख्य में चेतना निषेध रूप है। कैवल्य की स्थिति मैं नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है, इस रूप में प्रकट होती है।[14] सांख्य में 'इतर' की स्थिति कैवल्य बोध के लिये आवश्यक है। 'इतर' का होना आत्म के ज्ञान के लिये आवश्यक है। इतर से तादात्म्य या किसी तरह के सम्बन्ध के अभाव का ज्ञान ही सांख्य में कैवल्य है। पुरुष के रूप में चेतन सत्ता की आवश्यकता प्रकृति के व्यापारों के लिये, सृष्टि या जगद् के प्रादुर्भाव के लिये अनिवार्य है। वस्तुतः यह पुरुष है जो कि प्रकृति को अर्थ प्रदान कर प्रपञ्चात्मक विश्व के रूप में उसे विकसित करता है। ऐसा करने के साथ ही वह स्वयं अपने को इस व्यापार में तल्लीन कर देता है, स्वयं को भूल जाता है। यही उसका बन्धन है। प्रकृति और उसके विकारों से अपने विवेक का ज्ञान ही सांख्य में कैवल्य है। कैवल्यावस्था में पुरुष को केवल अपने स्वरूप का ही बोध रहता है अथवा प्रकृति की सत्ता का ज्ञान और उससे स्वयं के पार्थक्य का भी अभिज्ञान रहता है,[15] इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। के॰सी॰ भट्टाचार्य के अनुसार सांख्य की मुक्ति जहाँ पहले प्रकार की स्थिति है[16] वहीं

अनिमा सेनगुप्ता के अनुसार यह दूसरे प्रकार की स्थिति है।[17] प्रो० दयाकृष्ण इस सम्बन्ध में एक और तर्क देते हैं कि यदि पुरुष की मात्र अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है तथा यह अवस्था ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से अतीत है तो भला यह मुक्ति अद्वैत वेदान्त की मुक्ति से किस प्रकार भिन्न होगी।[18] अस्तु, सांख्य की द्वैतवादी सत्तामीमांसा और प्रकृति तथा विकास के प्रयोजनपरक महत्त्व को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि मोक्ष की अवस्था में प्रकृति एवं पुरुष दोनों की सत्ता रहती है तथा पुरुष को प्रकृति से अपने पार्थक्य का विवेक ज्ञान कैवल्यावस्था में उपस्थित रहता है। अद्वैत में जहाँ आत्म से पृथक् 'इतर' की सत्ता का अभाव ही तत्त्वज्ञान है, सांख्य में 'इतर' की सत्ता का नही अपितु उससे किसी तरह के सम्बन्ध का अभाव तत्त्वज्ञान है। सांख्य का प्रकृति पुरुष का द्वैत, ईश्वर में अविश्वास, चेतना का निधर्मक एवं निषेधात्मक स्वरूप तथा जगत् में मानव-अस्तित्व का दु:खात्मक स्वरूप—ये ऐसे सिद्धान्त हैं जिनकी सार्त्र के विचारों से कई समानता है। इस सम्बन्ध में लार्सन और सभाजीत मिश्र का अध्ययन सराहनीय है।[19]

सांख्य के दार्शनिक सिद्धान्त चूँकि योगदर्शन को भी स्वीकृत हैं अत: इस दर्शन की पृथक् विवेचना करना आवश्यकता से अधिक विस्तार होगा। न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र दर्शन हैं तथा मनुष्य के स्वरूप एवं उसकी नियति के सम्बन्ध में इनके विचार एक से हैं। संसार की दु:खरूपता न्याय-वैशेषिक को स्वीकार है तथा इन दु:खों से मुक्ति, जो कि अपवर्ग है, मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। दु:ख का कारण इस संसार में जन्म लेना है, और जन्म का अर्थ आत्मा का शरीर से सम्बद्ध होना है। दु:खों से आत्यन्तिक मुक्ति का अर्थ इस जन्म और भविष्य के जन्मों से मुक्त होना है। मानव जीवन सचेतन जीवन है, उसकी चेतन क्रियायें यह सिद्ध करती है कि इन क्रियाओं का आधार कोई तत्त्व होगा। इस प्रकार इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दु:ख, बुद्धि आदि धर्मों के आधार के रूप में 'आत्मा' नामक द्रव्य की सत्ता न्याय-वैशेषिक स्वीकार करते हैं। चेतना का आधार होने के बावजूद आत्मा में चेतना का धर्म तभी तक है जब तक कि वह शरीरेन्द्रिय एवं मन से संयुक्त है। इस प्रकार जीवात्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्वपरक रूप वस्तुत: आत्मा के शरीर से सम्बन्ध के कारण ही सम्भव हो पाता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध जो कि बन्धन है, जीव के शुभाशुभ कर्मों की प्रवृत्ति के कारण है और इस प्रवृत्ति का कारण राग, द्वेष और मोह है जिन्हें नैयायिक पदावली में दोष कहा जाता है। यदि आत्मा का वास्तविक ज्ञान हो जाए तो हमारे राग, द्वेष और मोह रूप दोष समाप्त हो जाएगें। फलत: हम शारीरिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों से दूर हो जायेंगे और जब हम कर्म ही नहीं करेंगे तो फल भोगने के लिये जन्म लेने की जरूरत ही नहीं पडेगी। विपाक होने से

पूर्व कर्म का नाश हो जाता है और नये कर्म का उदय प्रवृत्ति के अभाव में होता ही नहीं। अतएव शरीरपात होने पर जीव को पुनः जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, फलतः उस समय सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है। चूँकि आत्मा स्वरूपतः चैतन्यहीन है और चैतन्य उसका आकस्मिक गुण है, अतः मोक्ष में आत्मा चेतनाहीन हो जाती है। मोक्ष के समय आत्मा के सारे आगन्तुक धर्मों–विशेष धर्मों–का नाश (उच्छेद) हो जाता है (अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्षः)। मोक्ष की अवस्था में आत्मा अपने शुद्ध सत्ता में रहता है, वहाँ न तो चैतन्य होता है और न आनन्द। तो क्या मनुष्य की नियति पाषाणवत् हो जाना है? यदि मुक्त आत्मा में ज्ञान एवं आनन्द का सर्वथा अभाव है और वह अचेतन द्रव्य के समान है तो ऐसी मुक्ति बन्धन से किस प्रकार श्रेष्ठ होगी? स्याद्वादमञ्जरी में मल्लिसेण का तर्क है कि यायवैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा तो सांसारिक जीवन अधिक अच्छा है। सांसारिक जीवन में तो कभी-कभी कुछ सुख मिलता भी है, परन्तु न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष में इसका नितान्त अभाव है। एक वैष्णव भक्त कहता है कि वैशेषिक के मोक्ष से अच्छा वृन्दावन के जंगल में सियार बन कर घूमना है। श्रीहर्ष ऐसे मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले गौतम को पक्का बैल और कणाद को उलूक कहते हैं जो कि चेतन मनुष्य की नियति एवं मुक्ति उसके पाषाणवत् हो जाने में देखते हैं। न्याय-वैशेषिक के मोक्ष की अनाकर्षक धारणा का कारण उनका आत्मा का प्रत्यय है। वे इस बात को समझने में असमर्थ रहे कि चेतना आत्मा का स्वरूप है न कि आकस्मिक गुण। या तो नित्य आत्मा का प्रत्यय गौरव दोष से युक्त है या वह चैतन्यरूप होना चाहिए।

प्रारम्भ में मीमांसा का आग्रह धर्म पर था और लक्ष्य था स्वर्ग। बाद में कुमारिल, प्रभाकर प्रभृति ने मोक्ष या अपवर्ग को चरम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया। मोक्ष न्याय-वैशेषिक के समान यहाँ भी दुःखों का अत्यन्ताभाव बतलाया गया। प्रभाकर के अनुसार शरीर से आत्मा का सम्बन्ध ही उसका बन्धन है और यह सम्बन्ध धर्म-अधर्म के फलभोग निमित्त होता है। अतः धर्म-अधर्म के निश्शेष नाश से देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का भी नाश हो जाता है। इस देह का आत्यन्तिक उच्छेद ही प्रभाकर के मत में मोक्ष है-आत्यन्तिको देहोच्छेदः मोक्षः। जब आत्मा के शरीर से सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है तो उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति मुक्त हो जाता है। न्याय मत के समान यहाँ भी आत्मा स्वरूपतः अचेतन है तथा शरीरादि से उसका सम्बन्ध होने पर ही उसमें ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःखादि धर्म उत्पन्न होते हैं। मोक्षावस्था में देहेन्द्रियविषय संयोग के विलय के कारण आत्मा में ज्ञान और आनन्द नहीं रहता। कुमारिल आत्मा में चैतन्य की शक्ति रूप में अवस्थिति स्वीकार करते हैं। चेतना उनके अनुसार क्रिया रूप है, अतः

मोक्ष में यद्यपि ज्ञान और आनन्द भाट्ट मत में भी स्वीकार नहीं किया जाता तथापि आत्मा उनके अनुसार ज्ञान शक्ति सम्पन्न अवश्य रहता है।

मीमासंकों में अद्वैत के विपरीत प्रपञ्च-विलय को नहीं अपितु प्रपञ्च सम्बन्ध विलय को मोक्ष कहा गया है। जगत् के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है, उसी का विनाश मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के बाद भी प्रपञ्च वैसा ही बना रहता है, क्योकि मीमांसा वस्तुवादी दर्शन है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत् के कारागार में डाल रखा है–भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय तथा भोग्य विषय। इन तीन प्रकार के बन्धनों का आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है।[20] आत्मज्ञान से मोक्ष सम्भव नहीं है। काम्य-निषिद्ध कर्मो से निवृत्ति तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों का पालन मोक्ष का प्रधान कारण है, आत्मज्ञान तो सहकारी कारण है। मीमांसा का यह मत ज्ञानकर्मसम्मुच्चयवाद कहलाता है। प्रभाकर कर्मों पर इतना अधिक जोर देते हैं, निष्काम भाव से कर्तव्यबुद्धया कर्म करने के आदर्श (नियोगसिद्धि) पर इतना अधिक बल देते हैं कि उनके मत में यही दशा मोक्ष है–नियोगसिद्धिरेव मोक्षः। अर्थात् मुक्ति अनवरत बिना फलाकांक्षा के कार्य की दशा है।[21] मोक्ष की यह अवधारणा मीमांसा मत में अधिक संगत है क्योंकि मीमांसा का प्राथमिक जोर वेदविहित कर्म के कर्म के अनुष्ठान पर है, और वेद निर्दिष्ट मार्ग पर चलना आत्मा की अपने स्वरूपभूत अचेतनवत् स्थिति में अवस्थिति से अधिक श्रेष्ठकर है।

जैसा कि उपनिषदों को आत्म-विद्या कहा गया है, उन पर आधारित वेदान्त दर्शन का भी प्रमुख प्रतिपाद्य स्वयं आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण है और बन्धन में ग्रस्त जीव को उसकी मुक्ति का मार्ग दिखलाना है। न्याय-वैशेषिक, जैन, मीमांसा के बहुतत्त्ववाद और सांख्य के द्वैतवाद के विपरीत वेदान्त दर्शन की यह विशिष्टता है कि यह जगत् की विभिन्नताओं के पीछे केवल एक ही तत्त्व को देखता है, सम्पूर्ण नानात्व युक्त विश्व का कारण और आधार वही है। यह परमतत्त्व ब्रह्म है। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों के अनुसार केवल ब्रह्म ही परमतत्त्व है, किन्तु जीव और जगत् का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है–इस विषय पर विभिन्न सम्प्रदायों के अलग-अलग मत हैं। मध्य द्वैतवादी हैं। वे जीव और जगत् का ब्रह्म से भेद बतलाते हैं। निम्बार्क और चैतन्य जीव और जगत् का ब्रह्म से भेद और अभेद दानों स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जीव और जगत् का ब्रह्म से भेदान्वित अभेद का सम्बन्ध है। रामानुज जीव और जगत् का ब्रह्म से विशिष्ट प्रकार का अद्वैत सम्बन्ध बतलाते हैं। वे ब्रह्म को आत्मा, अंशी, धर्मी या साकल्य रूप बतलाते हैं तथा जीव और जगत् को उसका शरीर, अंश, धर्म या अवयव रूप बताते हैं। बल्लभ मायासम्बन्ध रहित शुद्ध ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार एकमात्र

अद्वैत परमतत्त्व की ही सत्ता है तथा प्रतीयमान नानात्व वस्तुतः मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है। शंकर के नियति विषयक मत की आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी। अद्वैत से इतर अन्य वैष्णव वेदान्ती ब्रह्म को शंकर के समान निर्गुण रूप में न लेकर सगुण, सविशेष, साकार ईश्वर रूप में लेते हैं तथा उसे सकल कल्याण गुण निधान मानते हैं। इनके अनुसार मानवीय मुक्ति ईश्वरीय कृपा से ही सम्भव है।[22] मोक्ष इस जीवन में अर्थात् जीते जी सम्भव नहीं है। इन वेदान्तियों में सभी को चतुर्विध मुक्ति स्वीकार है। सर्वश्रेष्ठ सायुज्य मुक्ति[23] में भी जीव और ईश्वर में किञ्चित् भेद बना रहता है तथा जीव की वैयक्तिकता बनी रहती है। इस तरह जीव ईश्वर के समान होने पर भी ईश्वर नहीं है। मोक्ष के साधन के रूप में प्रपत्ति रूप भक्ति को स्वीकार कर ये दार्शनिक मानव मात्र के लिये मुक्ति का द्वार खोलते हैं। ये दार्शनिक भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में ही नहीं देखते अपितु ईश्वर की भक्ति इनके लिए जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। मुक्ति की सर्वोच्च अवस्था सायुज्य में भी मुक्त आत्मा भक्ति करना नहीं छोड़ती। भक्ति के लिये ईश्वर से किञ्चित भेद तथा वैयक्तिकता आवश्यक होती है, इसीलिये ये दार्शनिक इस दशा में भी अर्थात् सायुज्य मुक्ति की अवस्था में भी इसे सुरक्षित रखना चाहते हैं। मुक्तावस्था में भी आत्मा देह बिन नहीं रहता, हाँ इतना अवश्य है कि कर्मजन्य प्राकृत देह का नाश होकर शुद्ध सत्व से निर्मित अप्राकृत देह प्राप्त होता है। यहाँ मध्व की विशेष चर्चा आवश्यक होगी जिनके अनुसार जीवों में न केवल संख्यात्मक भेद है अपितु गुणात्मक भेद भी है। मोक्ष की दशा में जीवों में 'अपना वैशिष्ट्य' और यह 'गुणात्मक भेद' बना रहता है। जीव-जीव में नित्य भेद को स्वीकार पर मध्व "वैयक्तिकता" के प्रत्यय का भारतीय दर्शन में अभिनव परिचय कराते हैं। लेकिन वैयक्तिकता का यह प्रत्यय स्वतन्त्रता के बिना–अतिक्रमणीयता के बिना–महत्त्व नहीं रखता। मध्व के मत में केवल कुछ ही आत्मायें मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हैं तथा अन्य बहुत सी आत्माओं की नियति अनन्त काल तक संसार चक्र में घूमने के लिये अथवा नरक में पड़े रहने के लिये अभिशप्त है। मुक्ति मध्व में "पूर्ण आत्माभिव्यक्ति, आत्म प्रकाशन और आत्म साक्षात्कार संक्षेप में कहें तो आत्मा की सभी क्षमताओं एवं शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण है।"[24] पर जैसाकि हमने देखा कि हर जीव की अपनी-अपनी विशिष्टता और क्षमता नियत है, ऐसा स्वीकार कर मध्व व्यक्ति की उस व्यष्टिता को निर्जीव कर देते है जिसे वह इतना महत्त्व देते हैं।

पाश्चात्य दर्शन में मानव-नियति का स्वरूप

सुकरात से पूर्व के आरम्भिक ग्रीक दार्शनिकों के चिन्तन का विषय मनुष्य

पर केन्द्रित नहीं था।[25] यदा-कदा उसकी चर्चा अवश्य हुई पर चिन्तन का प्रधान विषय बाह्य प्रकृति एव जगत् का रहस्य था। इन दार्शनिकों के लिये प्रधान समस्या यह थी कि जगत् क्या है और इसका निर्माण किन तत्त्वों से हुआ है? इस प्रकार एक अर्थ में ग्रीक दर्शन की आरम्भिक प्रवृत्ति ही बौद्धिक जिज्ञासा रूपिणी रही है। जगत् क्या है और इसका निर्माण किन तत्त्वों से हुआ है-इस तरह के प्रश्नों के उत्तर में यदि हम किसी को जल, तो किसी को वायु, तो अन्यों को अग्नि और परमाणु को परमतत्त्व बताते हुए पाते हैं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। स्वयं सुकरात इस तरह के यान्त्रिकतावाद से असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनके अनुसार दर्शन का परम उद्देश्य इस प्रश्न का समाधान करना नहीं है कि जगत् क्या है बल्कि यह है कि जगत् क्यों हैं? उपनिषद् के दार्शनिकों की भाँति वे भी जगत् के मूल को, वस्तुओं के मूल को जानना चाहते थे और आत्मानं विद्धि-स्वयं को जानो-उनका भी मूल मन्त्र था। एनेक्सागोरस के परमविज्ञान से अवश्य वे प्रभावित हुए, पर शीघ्र ही उन्हें यह देखकर निराशा हुई कि यह भी एक प्रकार का यन्त्रवाद ही है। सुकरात के मानव-नियति विषयक विचार की चर्चा करने से पूर्व सोफिस्टों की कुछ चर्चा अनावश्यक नहीं होगी। सोफिस्ट पश्चिम के आद्य मानववादी माने जाते हैं। सोफिस्टों से पूर्व ग्रीक दर्शन सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों में उलझा हुआ था, सोफिस्ट दार्शनिकों ने चिन्तन का केन्द्रबिन्दु मनुष्य को बनाया तथा ज्ञानमीमांसा के बजाय मनुष्य की नियति विषयक चर्चा को प्रमुखता दी। प्रोटागोरस ने कहा कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है। यह मनुष्य मनुष्य-सामान्य न होकर मनुष्य-व्यक्ति है जो सत्य का, मूल्यों का, मानव व्यवहार के आदर्श का नियामक है अथवा कहिये कि स्रष्टा है।[26] जिस तरह कोई वस्तुनिष्ठ सत्य नहीं है उसी तरह कोई सार्वभौम शुभ नहीं है। संवेदनाओं से पृथक् कोई आत्मतत्त्व नहीं है। मानव जीवन का लक्ष्य तकनीकी सम्पन्न होना है-वाक्चातुर्य, भाषा, व्याकरण और जीवन के विभिन्न कलाओं में पारंगत होना, ताकि वह शक्ति सम्पन्न हो सके।

सुकरात सोफिस्टों के अज्ञेयवाद का विरोध करते हैं। उनके अनुसार प्रकृति पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित है और इसकी व्यवस्था, संचालन और सौन्दर्य का हेतु ईश्वर है जो जगत् का नियन्ता है। वह परमशुभ, परमसौन्दर्य, परमज्ञान है। मानवीय बुद्धि इसी सार्वभौम बुद्धि का अंग है। मनुष्य एक आगन्तुक सत्ता नहीं है, अपितु वह प्राकृतिक व्यवस्था का सर्वाधिक विकसित रूप है। प्रकृति को समझने के लिये उसके पास अपनी बुद्धि है जिसके निर्देशन में वह प्रकृति के समरस अपना जीवन बीता सकता है। सुकरात के अनुसार मनुष्य के शरीर के अतिरिक्त उसके अन्दर एक आत्मा है जो उसके जागृत बुद्धि और नैतिक चरित्र का अधिष्ठान है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का वास्तविक और शाश्वत धारक तत्त्व है। यह जीवन

का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। यही वह तत्त्व है जिसमें दैवी तत्त्व विद्यमान है। यह निराकार है। यह शरीर का संचालक है। प्रयोगकर्ता प्रयुक्त वस्तुओं से भिन्न होता है, उसी प्रकार शरीर का प्रयोग करने वाला आत्मा भी शरीर से भिन्न है।[27] शरीर के मर जाने पर भी यह आत्मा नहीं मरता। सुकरात इस आत्मा की देखभाल करने को कहता है। आत्मा की देखभाल का अर्थ बुद्धि के निर्देशन में चलना है क्योंकि आत्मा सुकरात के मत में बौद्धिक है। अच्छा शिल्पकार अपने औजारों को अपने अधीन करने में तथा उन्हें निर्देशित करने में सिद्धहस्त होता है उसी तरह सही जीवन वह हैं जिसमें शरीर आत्मा द्वारा पूर्णतः नियन्त्रित और निर्देशित हो। सुकरात के अनुसार अज्ञान से बढ़कर दोष दूसरा कुछ नहीं है, क्योंकि अज्ञान आत्मा को भ्रष्ट करता है। यह आत्मा की बीमारी है जो शरीर की बीमारी से अधिक बुरी है, इसीलिये सुकरात इस आत्मा की देखभाल करने को कहता है। सोफिस्टों के नैतिक सापेक्षवाद के विपरीत सुकरात वस्तुनिष्ठ शुभ की अवधारणा को स्वीकार करते हैं और उसे मानव जीवन का लक्ष्य बतलाते हैं। सुकरात के अनुसार सद्गुण ज्ञान है। वस्तुओं की प्रकृति का और विशेषतः स्वयं का परिज्ञान शुभ के लिये आवश्यक एवं पर्याप्त शर्त है।[28]

सुकरात के अनुसार सारा का सारा ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है। इन्द्रिय जगत् की वस्तुयें अपने प्रत्यय में सहभागी होती हैं, अतः कोई आकृति इसीलिये त्रिभुज है, क्योंकि वह त्रिभुज के प्रत्यय में साझीदार है तथा कोई वस्तु इसलिये सुन्दर है क्योकि वह सुन्दरता के प्रत्यय में साझीदार है। ये प्रत्यय या आकार ही पूर्णरूप से सत् एवं वास्तविक हैं न कि इन्दियों द्वारा ज्ञेय वस्तुयें। प्लेटो इन विज्ञानों या प्रत्ययों के एक अलग दिव्य लोक की कल्पना करता है जहाँ देह प्राप्ति से पूर्व आत्मा को इनका शुद्ध अन्तर्ज्ञान होता रहता है। इन्द्रिय जगत् की वस्तुओं की सत्ता विज्ञान जगत् में भाग लेने से है। ज्ञान सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ होता है, अतः तात्त्विक प्रत्ययों का ज्ञान ही प्रमाणिक ज्ञान है। प्रश्न है कि इस प्रमाणिक ज्ञान के विषय विभिन्न प्रत्यय सुसम्बद्ध हैं अथवा विश्रृंखलित? प्लेटों ने रिपब्लिक में बताया कि विज्ञान स्वरूप शिवतत्त्व इन सभी प्रत्ययों में अनुस्यूत है, वह इन्हें एक सूत्र में पिरोये रहता है, वह मूल सत्ता है जो विज्ञानों की सत्ता है—उनकी एकता है। शिवतत्त्व का साक्षात्कार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्लेटों के अनुसार "देह प्राप्ति के पहले मानव-आत्मा को प्रत्ययों का शुद्ध अन्तर्ज्ञान होता है, भौतिक जगत् में इन्द्रियानुभव के सन्दर्भ से उक्त सादृश्यता (वस्तुओं तथा प्रत्ययों की) के उपस्थित होने पर उसे अपनी शुद्ध चेतना (प्रत्ययों के शुद्ध ज्ञान) की पूर्वस्थिति का स्मरण हो आता है। इसी 'स्मरण' में मनुष्य के सारे मूल्यों

व सत्य के ज्ञान का आधार निहित है, यद्यपि प्लेटों का यह मत द्रष्टव्य है कि बिल्कुल शुद्ध ज्ञान मनुष्य के लिये मानव-देह में सम्भव नहीं है। यह स्मरण मनुष्य के लिये इस आश्चर्य मिश्रित और पीड़ाजनक अनुभूति का भी अवसर हो सकता है कि अपने भौतिक परिवेशमें बंधा हुआ वह शुद्ध प्रत्ययों के क्षेत्र से बहिष्कृत है। यह आश्चर्य और पीड़ा उसमें वह दार्शनिक जिज्ञासा जगाता है जिससे उसमें ज्ञान के लिये पिपासु प्रेम जागता है जिसका लक्ष्य आदर्श प्रत्ययजगत् की अमरता है। इस तरह का सर्वोच्च ज्ञान, जो मानव-आत्मा स्वतः प्रामाण्यपूर्वक अपने अन्दर उपलब्ध करती है, ही दार्शनिक ज्ञान है जिसके बारे में प्लेटों का कथन है कि वह "ज्ञान का ज्ञान या विज्ञानों का विज्ञान है" है तथा 'सभी कलाओं में भी महानतम और श्रेष्ठ' है। किन्तु वास्तविकता के प्रति सदैव सचेत प्लेटो यह भी जानता है कि एक सांसारिक प्राणी के रूप में मनुष्य इस 'दर्शन' को एक सीमा तक ही ग्रहण कर सकता है और वह भी काफी सतर्कतापूर्वक।"[29] प्लेटो शरीरस्थ आत्म के रूप में मनुष्य की सीमा को जानता है, अतः वह विवेकपूर्ण तथा नैतिक जीवन को प्रमुख लक्ष्य मानता है जिसके अपनाने से ही मनुष्य सर्वोच्च निःश्रेयस शुभ के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

प्लेटो के अनुसार मानव-नियति अपने इन्द्रियानुभविक और शरीरवेष्ठित आत्म का उसके बौद्धिक और नैतिक स्वरूप में अतिक्रमण करना है। इन्द्रिय जगत् से ऊपर उठने—अतिक्रमण—का स्वर प्लेटो के दर्शन का प्रमुख स्वर है। तभी हमें उन मूल आकारों का ज्ञान हो सकेगा जिसका कि देहप्राप्ति से पूर्व आत्मा को विज्ञानों के लोक में होता था। विज्ञानस्वरूप शिवतत्त्व से अनुप्राणित विज्ञान जगत् एवं देहेन्दियावेष्ठित से पृथक् शुद्ध आत्मा की ओर पहुँचाने में हमारा सद्‌गुण ही सहायक हो सकता है, अतः ज्ञान सद्‌गुण है। पुनः यह सद्‌गुण विज्ञानस्वरूप शिवतत्त्व और नित्य विज्ञानों का ज्ञान है, अतः सद्‌गुण बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है।

अरस्तू इन्द्रिय जगत् और विज्ञान जगत् के प्लेटो के द्वैत का खण्डन करता है। उसके अनुसार प्रत्यय या सामान्य वस्तुओं में अनुस्यूत हैं। उसके अनुसार सामान्यों की सत्ता वास्तविक होते हुए भी व्यक्ति या वस्तुओं से पृथक् नहीं है। अरस्तू यह दिखाना चाहता है कि जगत् का प्राथमिक तत्त्व न तो वस्तुबाह्य शुद्ध सामान्य आकार या प्रत्यय है और न आधारमूल भौतिक द्रव्य। भौतिक द्रव्य और स्वरूप या प्रत्यय दानों सम्मिलित रूप से सत् है। भौतिक द्रव्य साध्य है जबकि प्रत्यय या आकार सिद्ध। साध्य में अन्तर्निहित होने के कारण सिद्ध की सत्ता पूर्व है। इस दृष्टि से युवक बालक में, वृक्ष बीज में पहले से ही विद्यमान है। कारण वह है जिसकी अन्तर्भाव्यता के फलस्वरूप किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है।[30] इस

दृष्टि से कारण वह है जो लक्ष्य है, और लक्ष्य होने के कारण मूल भी है। अरस्तू के अनुसार ईश्वर जो कि परमविज्ञान है, अविचल है, अगतिशील है, शुद्ध आकार है वह प्रकृति की सारी परिवर्तनशीलता का आधार है। वह समस्त जीवन का लक्ष्य और मूल है। वह सृष्टि में अन्तर्यामी है।

अरस्तू के अनुसार मानव-चेतना देह में कैदी नहीं है। ज्ञान चेतना और देह का एक समन्वित व्यापार है जिसमें पूरा ठोस व्यक्ति भाग लेता है।[31] अरस्तू देह और चेतना के बीच तात्त्विक द्वैत को अस्वीकार करता है। इसलिये मनुष्य को बौद्धिक प्राणी के रूप में परिभाषित करता है। मनुष्य के तीन पक्षों को अरस्तू स्पष्ट करता है—अन्नमूल आत्म, संवेदनशील आत्म तथा विवेकमूल आत्म। यह मानवीय बुद्धि है जो कि उसे वनस्पति या अन्नमय तथा संवेदन या प्राणमय जगत् से पृथक करती है। अत: मानवीय श्रेय बुद्धि के व्यापार को सम्यक् ढंग से सम्पादित करने में है, इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्नमय स्वरूप तथा प्राणमय स्वरूप की अवहेलना की जाये। मनुष्य की श्रेय उसके तीनों पक्षों के सम्यक् नियोजन में निहित है। अरस्तू दो तरह के सद्‌गुणों में भेद करता है—बौद्धिक सद्‌गुण तथा नैतिक सद्‌गुण। नैतिक सद्‌गुणों का आधार आत्मसंयम या बुद्धि का नियन्त्रण है। अरस्तू के मत में ठोस जीवन सन्दर्भ में ये सद्‌गुण नियत किये जाने चाहिये। बुद्धि का नियन्त्रण न तो बहुत अधिक होना चाहिये और न बहुत कम। अति सर्वत्र वर्जयेत्। सद्‌गुण दो दुर्गुणों से बचाव का स्वर्णिम मध्य है। यह सद्‌गुण सिर्फ ज्ञान रूप नहीं हो, व्यावहारिक विवेक भी है जो अपनी उपलब्धि के लिये किये गये हमारे प्रयास और निरन्तर अभ्यास को भी सम्मिलित करता है। मनुष्य की आत्मा चूँकि मूलत: बौद्धिक है, अत: आदर्श जीवन विशुद्ध बौद्धिक व्यापार का जीवन है। यही बौद्धिक सद्‌गुण है जो चिन्तन, मनन एवं परमसत् के ज्ञान का जीवन है। यह कभी समाप्त न होने वाले सुख को प्रदान करता है। अरस्तू इसे थ्योरिया कहता है। सद्‌गुण युक्त जीवन ही सुखी जीवन है।

दर्शन का उद्देश्य मनुष्य को परमशुभ के निर्धारण में सहयोग देना है, न कि सिर्फ ज्ञान के लिए ज्ञान प्रस्तुत करना। अरस्तू के बाद लोकप्रिय हेलेनिस्टिक युग के दार्शनिकों में तत्त्वविज्ञान के प्रति इसी तरह की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। ये लोग मानव-नियति और श्रेय की समस्याओं के विवेचन को दर्शन का प्रमुख कार्य समझते हैं, सहकारी रूप में तत्त्वविज्ञान की भी चर्चा की गयी है। हेलेनिस्टिक युग के दार्शनिकों में दो धारायें हैं—एपिक्यूरियन दार्शनिकों की और स्टोइक दार्शनिकों की। एपिक्यूरस और उसके अनुयायियों ने डेमोक्रेटस के परमाणुवाद या यान्त्रिक भौतिकवाद को स्वीकार किया। इनके अनुसार जगत् अनन्त भौतिक परमाणुओं के

घात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है, जिसमें न कोई लक्ष्य है, न उद्देश्य है और न जिसका कोई हेतु है। मनुष्य भी इन अन्ध, उद्देश्यहीन और सदा गतिशील भौतिक परमाणुओं का एक संघात ही है। परमाणु नित्य हैं, पर उनके संघात बनते-बिगड़ते रहते हैं। मनुष्य का अस्तित्व भी अनित्य है और वह किसी क्षण नष्ट हो सकता है, इसलिये वह जब तक जीवित है उसे 'सुख' का उपभोग करना चाहिये। एपिक्यूरस के अनुसार सुख शारीरिक क्लेश और आत्मिक अशान्ति का अभाव है। यह सुख ऐन्द्रिक सुख न होकर बौद्धिक सुख है जो सद्‌गुणयुक्त जीवन से प्राप्त होता है। एपिक्यूरस ने सुखों की प्राप्ति की अपेक्षा दु:ख निवृत्ति पर विशेष बल दिया क्योंकि कोई भी सुख ऐसा नहीं है जो अन्तत: दु:खप्रद न हो। इसलिये जीवन में एक तरह की तटस्थता, उदासीनता आवश्यक है यदि हम स्थायी सुख और शान्ति पाना चाहते हैं। एपिक्यूरस के अनुसार मृत्यु अनिवार्य होने पर भी भय की वस्तु नहीं है क्योकि जब तक व्यक्ति जीवित है मृत्यु नहीं है और जब मृत्यु है तब व्यक्ति नहीं।[32] एपिक्यूरस नैतिक व्यष्टिवाद का संस्थापक माना जाता है। 'व्यक्ति' ही हमारे सभी कर्मों का लक्ष्य होना चाहिए। परमाणुओं में नैसर्गिक आत्म-स्फूर्ति स्वीकार कर उसने डेमोक्रेटस के नियतत्त्ववाद के विपरीत 'स्वातन्त्र्य' की व्यवस्था की और मनुष्य को अपनी नियति का आप नियामक माना।

एपिक्यूरियन दार्शनिकों के विपरीत, स्टोइक दार्शनिकों के अनुसार जगत् गतिशील, अन्ध, अस्त-व्यस्त और उद्देश्यहीन परमाणुओं का एक आकस्मिक 'संग्रह' न हो, सुन्दर, शुभ और सुविन्यस्त सृष्टि है जो एक चेतन सत्ता द्वारा नियन्त्रित होती है। स्टोइक दार्शनिकों के लिये जगत् ईश्वररूप है। प्रत्येक मनुष्य का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह इस महान चेतन सृष्टि में अपना योगदान दे और अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को सार्वभौम सामञ्जस्य के पक्ष में बलिदान कर दे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवात्मा विश्वात्मा में लीन कर ईश्वर की इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होना चाहिए। उसे अपने स्वार्थ और वैयक्तिक सुख के लिए कोई काम न कर केवल समष्टि की पूर्णता के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। परमार्थ में ही स्वार्थ की सिद्धि है। स्टोइक दार्शनिकों ने 'सुख' को अपना लक्ष्य न बनाकर यह बताया कि सद्‌गुणों की प्राप्ति में ही मनुष्य का परमशुभ निहित है जो कि प्राकृतिक नियम के परिपालन से ही सम्भव है।[33]

मानव-नियति विषयक पाश्चात्य दर्शन के मतों की कोई भी चर्चा तब तक अपूर्ण और अस्पष्ट रहेगी जब तक ईसाई धर्म के मानव-नियति विषयक विचारों की चर्चा न की जाए, क्योंकि समस्त मध्य युग का दर्शन ईसाई धर्म के एतद्‌विषयक विचारों पर आधारित रहा है और आधुनिक दार्शनिकों—यथा देकार्ट, लाइब्नित्ज,

लॉक, बर्कले प्रभृति में तथा समकालीन अस्तित्ववादी विचारों में भी ईसाई धर्म सम्बन्धी मनुष्य एवं मानवीय नियति विषयक विचारों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। संक्षेप में कहें तो ईसा के बाद के दो हजार वर्षों के इतिहास में पश्चिमी दर्शन में मनुष्य का जो स्वरूप उभरकर सामने आता है वह ईसाई धर्म प्रोक्त विचारों को जाने बिना स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने शून्य से सम्पूर्ण जगत्, प्राणी, पशु और अन्त में मनुष्य की सृष्टि की। यह सृष्टि आकस्मिक है, फिर भी नियमबद्ध है। ईश्वर ने मनुष्य को अपनी छवि में बनाया है और उसे अपनी सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार भी दिया। ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाकर उसमें स्वतन्त्र इच्छा प्रदान की और अच्छे बुरे का ज्ञान दिया। ईश्वर का उद्देश्य था कि मानव इच्छा-स्वातान्त्र्य के आधार पर बुराई को त्याग कर अच्छाई को चुने और अन्त में ईश्वर सायुज्य और सान्निध्य के योग्य होने के लिये पवित्र संकल्पी हो।[34] अपनी इच्छाओं को ईश्वर के अधीन कर और उसके आज्ञाओं का पूर्णतया पालन कर मानव पवित्र-संकल्पी हो सकता है, क्योंकि ईश्वर की सेवा सच्ची स्वतन्त्रता है।[35] पर मनुष्य अपने संकल्प-स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग करता है। यही मनुष्य का पाप है, उसका विद्रोह है, जो कि मानवीय एकाकीपन, उसके दुःख एवं मृत्यु का कारण है। एडम और इव वाले मिथक द्वारा इस मूल पाप की अवधारणा को बखूबी स्पष्ट किया गया है, जिसमें ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन कर ये आदि-मानव अपने ईश्वर-सान्निध्य से च्युत हो जाते हैं। ईसाई धर्म में देह-हीन आत्मा की कल्पना नहीं है। उसके लिये जीव दैहिक आत्मा है।[36] अतः मरणान्तर जीवन भी इस दैहिक आत्मा के रूप में ही होना चाहिए। पुनः 'पाप की मजदूरी मृत्यु है', अतः धार्मिक व्यक्ति ही अन्त तक संरक्षित एवं जीवित रहेंगे। मुक्ति केवल कर्म से ही हासिल नहीं हो सकती, ईश्वरानुग्रह और ईश्वर के क्षमाशील प्रेम पर विश्वास ही मनुष्य को मुक्ति दिला सकता है। ईसाई धर्म की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी मानव-स्वातन्त्र्य की अवधारणा है। मनुष्य स्वयं अपने 'पतन' एवं 'मुक्ति' के लिये उत्तरदायी है। पुनःमनुष्य को सृष्टि पर स्वामित्व देकर ईसाई धर्म मानवीय प्रगति, ज्ञान, विज्ञान के विकास को सम्भव बनाता है। पश्चिम के तकनीक एवं विज्ञान की उन्नति के पीछे मानव सम्बन्धी ईसाई धर्म के उपरोक्त मत को देखा जा सकता है।

संत ऑगस्टिन ने दर्शन में जगत् को हटाकर आत्मा को केन्द्र बनाया और आत्मा के अमरत्व, स्वतःसिद्धत्व, ज्ञानस्वरूपत्व और संकल्प-स्वातन्त्र्य की परिस्थापना की। आत्मा ज्ञाता है और उसकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। यदि मैं अपना निषेध भी करूँ तो भी मेरी सत्ता अनिवार्य है। मनुष्य की संरचना में आत्मा और शरीर दोनों का समान योगदान है। माँ-बाप तो केवल हमारे शरीर को उत्पन्न करते

हैं, आत्मिक द्रव्य की सृष्टि तो परमेश्वर ही करता है। परमेश्वर ने आदम के आत्मा की सृष्टि के साथ ही सभी मनुष्यों के आत्मा की सृष्टि कर दी। अतः व्यक्ति को आत्मा अपने वंश द्वारा प्राप्त होता है जिसे कि माँ-बाप उत्पन्न नहीं करते अपितु सौंपते हैं। ऑगस्टिन इस मत द्वारा "मूल पाप" की अवधारणा को समझाना चाहते हैं कि कैसे प्रत्येक मनुष्य आदम के पाप का उत्तराधिकारी है। अशुभ का उत्तरदायी मानवीय इच्छा है न कि ईश्वर। आदम के पाप से उसकी सन्तति-सारी मानव जाति-कलुषित हो गयी है। उसका संकल्प स्वातन्त्र्य छिन सा गया है। आदम ने 'निषिद्ध फल' तोड़कर ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना कर जो पाप किया, तब से पाप करना ही उसके सन्तानों का स्वभाव हो गया है। फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर से दूर हो, पाप, कष्ट और मृत्यु का भागी हो गया है। मनुष्य को इस दुस्सह स्थिति से ईश्वर ही बचा सकता है। इस प्रकार 'भक्ति' के प्रभाव में मानवीय-स्वातन्त्र्य का ऑगस्टिन ने हनन कर दिया।

संत एक्वीनास के अनुसार मनुष्य देह और आत्मा से युक्त इकाई है। मानवीय आत्मा जैविक, प्राणिक और बौद्धिक है। मनुष्य के आत्मा की विशेषता उसका बौद्धिक स्वरूप है जो कि उसके जैविक और प्राणिक प्रवृत्तियों का नियमन करता है। यह बौद्धिक आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। एक्वीनास के दर्शन पर अरस्तू का प्रभाव है। ईश्वर संसार की सभी वस्तुओं का कारण और लक्ष्य है। ईश्वर ने सभी चीजों की सृष्टि उद्देश्यपूर्वक की है, यह उद्देश्य अपने प्रेम, अच्छाई को अभिव्यक्त करने की है। अब यदि सभी चीजें-सभी मनुष्य-अपने वास्तविक रूप के अनुसार चलें तो वे ईश्वरीय प्रेम और अच्छाई को अनुभव कर सकेंगे। अतः मानव जीवन का लक्ष्य अपने सत्य स्वरूप का साक्षात्कार है। ऑगस्टिन के समान ही एक्वीनास के अनुसार भी मानव नियति ईश्वरीय ज्ञान और प्रेम का सहभागी होना है। आदम की सन्तान मानवीय आत्मा उसके पाप की उत्तराधिकारी है। ईश्वर का अनुग्रह ही उसे मुक्ति दिला सकता है। एक्वीनास के अनुसार मननयुक्त जीवन सर्वाधिक आनन्दप्रद और ईश्वराशिषप्रद जीवन है। यह जीवन ईश्वर के प्रेम और ज्ञान का जीवन है जो अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। मानवीय नियति इस अर्थ में अतिमानवीय है कि मनुष्य का लक्ष्य इहलौकिक न हो, दिव्यलोक में रहना है। वर्तमान जीवन ईश्वर तक पहुँचने के लिये एक मार्ग है। ईश्वरानुग्रह मनुष्य की नियति का नियामक है, वही मनुष्य को बचा सकता है।

* *   * *   * *   * *   * *   * *

यूरोप में मध्ययुग का अन्त पुनर्जागरण और आधुनिक दर्शन के उदय के साथ होता है। श्रद्धा एवं बुद्धि के द्वन्द्व में यूरोप ने बुद्धि को चुन लिया। बुद्धि की प्रमुखता

ने 'मनुष्य' को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया। इस बुद्धिवादी एवं मानववादी प्रवृत्ति के कारण पश्चिम में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति हुई और उसने अपने उस परम एश्वर्य को प्राप्त किया जो अभी तक बरकरार है। आधुनिक यूरोप की बौद्धिक परम्पराओं के जन्मदाताओं मे गेलेलियो, कापरनिकस और बेकन के साथ देकार्ट की भी गणना की जाती है। उसे आधुनिक दर्शन का पिता कहा जाता है। देकार्ट ने दार्शनिक चिन्तन का--बुद्धि का--एक अनिवार्य निकष प्रस्तुत किया और ज्ञान की उस पद्धति का सूत्रपात किया जो बिना पूर्व मान्यता के चिन्तन करती है और केवल तर्क एवं प्रमाण के सहारे आगे बढ़ती है। उसका सूत्रवाक्य था-किसी भी विषय पर बिना सन्देह एवं परीक्षण के विश्वास नहीं करना। अपनी इसी सन्देह पद्धति द्वारा वह आत्मा की सन्देहातीत और स्वत:सिद्ध सत्ता को सिद्ध करता है। इस स्वचेतन आत्मा को देकार्ट अपने दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बनाता है तथा उसे स्वत:सिद्ध एवं सन्देहातीत बताता है। देकार्ट के अनुसार मैं अथवा आत्मा शरीर से नितान्त भिन्न पदार्थ है। यह स्वभावत: चैतन्य स्वरूप है, जबकि शरीर भौतिक पदार्थ है और इस रूप में वह भौतिक जगत् का अंग है जो कि पूर्णत: नियमबद्ध व्यवस्था अथवा संगठन है तथा यान्त्रिकी के नियमों से चल रहा है। मनुष्य दो भिन्न तत्त्वों का बना हुआ है-आत्म अथवा मनस् और शरीर। देकार्ट के अनुसार मनुष्य में ही आत्मतत्त्व है, अन्य जीवों में आत्मा न होने से उनमें और मशीनों में कोई अन्तर नहीं है। यह आत्मा अमर है, क्योंकि मृत्यु शरीर की यान्त्रिकता में गड़बड़ी है। आत्मा सम्बन्धी यह मत मनुष्य को एक शीर्ष स्थान प्रदान करता है जो कि पश्चिम के मनुष्य केन्द्रित दर्शन को आधार प्रदान करता है। इस आत्मतत्त्व को देकार्ट जड़तत्त्व के समान ही ईश्वर सृष्ट मानता है। सर्वज्ञ, सर्वसशक्त, सर्वस्रष्टा नित्य ईश्वर ने अपनी छवि में मनुष्य की सृष्टि की है। ईश्वर परमद्रव्य है तथा आत्म एवं जड़तत्त्व परस्पर भिन्न एवं विरुद्ध सापेक्ष द्रव्य हैं जो कि अपनी सत्ता के लिये ईश्वराश्रित हैं। ऐसा कहकर देकार्ट मानवीय नियति के सम्बन्ध में ईसाई धर्म के मत को स्वीकार कर लेता है। जिस बुद्धि एवं विज्ञान पर देकार्ट ने इतना जोर दिया उसका प्रयोग अपने ईसाई धर्मशास्त्र के विचारों को तार्किक एवं बौद्धिक जामा पहनाने में किया, ऐसा आरोप बहुधा उस पर लगया जाता है।

स्पिनोजा के लिये दर्शन बुद्धि विलास मात्र नहीं है। उसका सम्बन्ध जीवन से है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जब मैंने सांसारिक सुख-स्त्री-सुख, सम्पत्ति-सुख और सम्मान-सुख-को खोखला पाया तब मैंने स्थायी सुख की खोज करने का निश्चय किया।[37] भारतीय दर्शन के समान ही स्पिनोजा के लिये भी दर्शन जीवन में उतारी जाने वाली चीज है तथा इसकी उत्पत्ति जीवन की अस्सारता से होती है, अत: आश्चर्य नहीं कि भारतीय दर्शन विशेषत: शंकर के दर्शन से स्पिनोजा

की हम बहुत सी समानता पाते हैं।[38] स्पिनोता देकार्ट के द्वैतवाद से बचकर एकमात्र द्रव्य-ईश्वर-की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। वे विचार और विस्तार को उसका गुण स्वीकार करते हैं जिनके पर्यायों में क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती, अपितु समानान्तरता रहती है। मनुष्य विचार और विस्तार के पर्यायों की एक गठित इकाई है। यदि सब कुछ का आधार और कारण ईश्वर है तो इस नियतवादी विश्व में मानव-स्वातन्त्र्य का प्रश्न ही नहीं उठता। सृष्टि ईश्वर के स्वातन्त्र्य की अनिवार्य और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, इसके पीछे कोई प्रयोजन नहीं है। मनुष्य स्वयं प्रकृति का अंग है। उसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं है। अपने संवेगों को रोकने की अक्षमता बन्धन है,[39] जो कि अज्ञानजन्य है। मनुष्य का लक्ष्य इस बन्धन से मुक्त होना है। जगत् के तथा स्वयं अपने आधार एवं कारण के रूप में जो ईश्वर का ज्ञान होता है, वही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। जितना अधिक हम वस्तु को जानते है उतना ही हम उसके कारणरूप ईश्वर को जानते हैं। (पर्याप्त ज्ञान या पूर्ण ज्ञान वस्तुओं का व्यष्टि रूप में ज्ञान न होकर अपने आधार ईश्वर-द्रव्य से अनिवार्य सम्बन्ध युक्त ज्ञान है) और जितना अधिक हम ईश्वर को जानते हैं उतना अधिक हम उससे प्रेम करते हैं। ईश्वर के इस नित्य ज्ञान में मनुष्य स्वयं से उसका तादात्म्य देखता है।[40] इस तरह ईश्वर प्रेम आत्मप्रेम है क्योंकि ईश्वर ही हमारी सच्ची आत्मा है। ईश्वर के प्रति यह प्रेम बौद्धिक प्रेम है। ईश्वर-ज्ञान या ईश्वर-प्रेम एक नूतन जन्म है। यह वह ज्ञान है जिससे हम ईश्वर के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं। जब यह ज्ञान होता है तब मनुष्य को पता चलता है कि शरीरनाश के साथ उसका नाश नहीं होता है। उसका एक अंश नित्य है। जो अंश बुद्धि-शरीरात्मक है वह अनित्य है और जो उसका आधार (द्रव्य) है वह नित्य है। बिना ईश्वर को जाने अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और न ईश्वर से सच्चा प्रेम हो सकता है।

टॉमस हॉब्स अनुभववादी, भौतिकवादी और अनात्मवादी था। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से असामाजिक और स्वार्थी है। समस्त मानवीय इच्छायें आत्मरक्षा एवं आत्मतृप्ति की इच्छाओं की ही द्योतक हैं। कथित परार्थमूलक इच्छाओं के पीछे भी मनुष्य की आत्मरक्षा एवम् आत्मतृप्ति की मूल इच्छा देखी जा सकती है। हॉब्स मानव जीवन की आदिम अवस्था 'प्राकृतिक अवस्था' का उल्लेख करता है जिसमें स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, कर्तव्य-पालन आदि सद्गुणों का कोई स्थान नहीं था। यह अवस्था प्रत्येक के विरुद्ध प्रत्येक का संघर्ष था जिसमें हर व्यक्ति केवल अपने जीवन की रक्षा, प्रभुत्व कामना तथा इच्छाओं की तृप्ति में लगा रहता था। स्पष्ट था ऐसी स्थिति में हर दूसरा व्यक्ति व्यक्ति के स्वार्थ में बाधक था, अत: उस पर प्रभुत्व प्राप्त करना अपनी स्वार्थ सिद्ध के लिये आवश्यक था। पर

अतिशय स्वार्थ स्वयं स्वार्थ की पूर्ति के लिए बाधक सिद्ध हुआ। अतः मनुष्य ने समाज एवं राज्य बनाये, नियम-कानून बनाये जिसका पालन करने से अन्ततः व्यक्ति के हित की पूर्ति हो, भले ही तात्कालिक रूप से अपने स्वार्थ का परित्याग करना पड़े। इस सामाजिक समझौते के कारण ही मनुष्य उस प्राकृतिक अवस्था से मुक्त हो सका जिसमें उसका जीवन प्रतिक्षण मृत्यु की आशंका, निरन्तर भय, पारस्परिक संघर्ष तथा हिंसा से ग्रस्त था और जिसमें स्नेह, सहानुभूति, न्याय, कर्तव्य, कानून आदि का कोई स्थान नहीं था।

जॉन लॉक अपने पूर्व के दार्शनिकों के विपरीत उस परम्परा की शुरुआत करते हैं जो तत्त्वमीमांसा के बजाय ज्ञानमीमांसा पर अधिक जोर देती है। लॉक अनुभववादी हैं तथा ज्ञान को अनुभवजन्य मानते हैं। अनुभव से पूर्व आरम्भ में मानव-मन साफ स्लेट या कोरे कागज की तरह होता है। अनुभववादी होते हुए भी लॉक ईश्वर और जड़द्रव्यों की सत्ता स्वीकार करते हैं। ईसाई धर्म के अनुकूल वे भी ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा जगत् का रचयिता एवं नियन्ता मानते हैं। राज्य के कानूनों एवं सामाजिक नियमों के अतिरिक्त ईश्वरीय नियम भी है जिसका निर्माण ईश्वर ने मनुष्यों के मार्ग-निर्देशन के लिये किया है। इस नियम के अनुकूल चलने से मृत्यु उपरान्त पारलौकिक जीवन में ईश्वर पुरस्कार देता है, अन्यथा दण्ड। लॉक के अनुसार हर मनुष्य स्वभाव से सुख चाहता है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को लॉक स्वीकार करते हैं और बताते हैं कि राजनैतिक व्यवस्था के निर्माण द्वारा व्यक्ति को जीवन की सुरक्षा तथा शान्ति प्राप्त होती है।

लाइब्नित्ज पूर्णतः अध्यात्मवादी दार्शनिक हैं। लाइब्नित्ज के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण चेतन चिदणुओं से हुआ है। ये चिदणु ही मूलतत्त्व हैं, जो संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। हर चिदणु स्वयं में परिपूर्ण तथा अन्य चिदणुओं से पृथक् एवं स्वतन्त्र है। ये चिदणु सरल, अविभाज्य, अनश्वर, शाश्वत एवं निरपेक्ष हैं। परस्पर स्वतन्त्र एवम् आत्मनिर्भर होने से 'गवाक्षहीन' हैं। प्रत्येक चिदणु स्वयं में परिपूर्ण होने से सूक्ष्म रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रतिबिम्बित करता है, इस अर्थ में चिदणु अतिसूक्ष्म ब्रह्माण्ड हैं। कथित पुद्गल भी वस्तुतःचिदणु ही है जिसमें चैतन्य सुषुप्तावस्था में है। इन चिदणुओं में केवल परिणामात्मक भेद है, गुणात्मक नहीं। देकार्ट ने केवल मनुष्य में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया था, इसके विपरीत लाइब्नित्ज सभी प्राणियों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक प्रमुख चिदणु होता है जो कि उसकी आत्मा है। ईश्वर ने ऐसा सामञ्जस्य कर दिया है कि आत्मा और शरीर के चिदणुओं में नियम, एकतान, व्यवस्था दिखती है, लेकिन वस्तुतः कोई किसी को प्रभावित नहीं करता।

लाइब्नित्ज परमचिदणु या चिदणुओं के स्रष्टा के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। परस्पर स्वतन्त्र और निरपेक्ष चिदणुओं में ईश्वर ने ऐसा सामञ्जस्य स्थापित कर दिया है कि विश्व के समस्त कार्य उचित एवं व्यवस्थित ढंग से चलते रहते हैं और ईश्वर को उनमें बार-बार हस्तक्षेप करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। लाइब्नित्ज के मोनेडोलॉजी का मुख्य आधार ईश्वर का प्रत्यय है। ईश्वर ही सभी वस्तुओं का अन्तिम द्रव्य है। चिदणुओं के अविनाशी होने से सभी वस्तुयें जो उनसे गठित हैं अमर हैं, अविनाशी हैं। अतः लाइब्नित्ज के दर्शन में जन्म, मरण एवं पुनर्जन्म का कोई स्थान नहीं है। वे केवल संघटित और विघटित होते हैं। ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प स्वातन्त्र्य प्रदान कर शुभ एवम् अशुभ दोनों कर्म करने की क्षमता दी है। लाइब्नित्ज के अनुसार यह संसार सर्वोत्कृष्ट है तथा दृश्यमान अशुभ अन्ततः शुभ का साधन सिद्ध होता है। जगत् के नियतवादी स्वरूप तथा संकल्प-स्वातन्त्र्य एवं सत्ता के आध्यात्मिक रूप के बीच समन्वय के प्रयास द्वारा लाइब्नित्ज ईसाई मत के मानव-नियति सम्बन्धी मत को परिपोषित करने का प्रयास करते हैं।

लाइब्नित्ज के समान ही बर्कले को भी मानव-नियति के सम्बन्ध में ईसाई धर्म के विचार स्वीकार थे। हाँ, वह भी इन विचारों के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक तर्क जुटाता है। बर्कले की गणना अनुभववादी दार्शनिकों में की जाती है। पर वस्तुतः उसके दर्शन का उद्देश्य स्वतन्त्र चिन्तन के विरुद्ध ईसाई धर्म का पोषण करना और जड़वाद, संशयवाद, अनीश्वरवाद का खण्डन कर ईश्वर, आत्मा की सिद्धि करना तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता का ईश्वर के पूर्वज्ञान से समन्वय करना था। आत्मा से पृथक् स्वतन्त्र जड़ द्रव्य में विश्वास वस्तुतः अनन्त, नित्य, शाश्वत ईश्वर के समानान्तर अन्य सत्ता की स्वीकृति होगी, यह सत्ता वस्तुतः ईश्वर की सीमा दर्शायेगी अथवा उसके अस्तित्व का खण्डन प्रस्तुत करेगी। अतः जड़ द्रव्य का खण्डन बर्कले के दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य बना। इसमें सन्देह नहीं कि बर्कले ने ज्ञान की उपलब्धि, प्रामाणिक ज्ञान के प्रतिमान आदि के प्रश्न उठाये, पर उसका प्रमुख लक्ष्य यह सिद्ध करना था कि ईश्वर, आत्माओं तथा विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व काल्पनिक मात्र है।[41] इस प्रकार मानव-अस्तित्व की आध्यात्मिक एवं आस्तिक व्याख्या उसका प्रमुख प्रयोजन था। पर ऐसा वह श्रद्धा के विश्लेषण द्वारा नहीं बल्कि अनुभव के तार्किक विश्लेषण द्वारा करता है। बर्कले के अनुसार सत्ता दृश्यता है अर्थात् किसी वस्तु का विद्यमान होना उसका प्रत्यक्ष किया जाना है। प्रत्यक्ष की सम्भावना के बाहर अस्तित्व की चर्चा सम्भव नहीं है। अतः केवल प्रत्ययों एवम् उनके द्रष्टा या प्रत्यक्षकर्ता आत्मा एवं परमआत्मा ईश्वर का अस्तित्व है। समस्त ज्ञेय जगत् प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः

कथित् जड़ जगत् की पृथक् सत्ता नहीं है। प्रत्ययों की स्थिति मन पर आश्रित है। प्रत्यय एवम् आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यय दृश्य हैं, निष्क्रिय हैं एवं कार्यरूप हैं जबकि आत्मा द्रष्टा है, सक्रिय है तथा कारणरूप है। जैसे प्रत्ययों का ज्ञान होता है वैसे ही आत्माओं का ज्ञान नहीं होता। इनका "नोशन" होता है। यदि वस्तुएं प्रत्ययरूप होने से आत्म द्वारा सृष्ट हैं तो क्या यह अहम्मत्रवाद नहीं होगा? बर्कले प्रत्यय या दृश्य के बारे में कहता है कि यदि मैं उनका प्रत्यक्ष नहीं करता तो कोई अन्य करता है और यदि कोई भी नहीं तो स्वयं परमात्मा करता है। बर्कले के मत में उचित अर्थ में कारणत्व की क्षमता केवल संकल्पयुक्त आत्मा में ही सम्भव है। ससीम आत्मायें भी ईश्वर द्वारा सृष्ट हैं, अतः वस्तुतः एक ईश्वर ही कारण है, शेष सभी कार्य।

इमैन्युएल काण्ट के अनुसार ज्ञान अनिवार्यतः देश-काल के संवेदना के आकारों एवं बुद्धि विकल्पों से निरूपित होता है, परिणामतः हमें वस्तु सत् का ज्ञान नहीं हो सकता। देश एवं काल से निरूपित तथा बुद्धि विकल्पों से व्यवस्थित जगत् का ही ज्ञान हो सकता है, देशकालातीत एवं बुद्धि के आकारों से असंसृष्ट परमार्थ तक हमारी देशना नहीं है। फलतः ईश्वर, आत्मा आदि हमारे ज्ञान की परिधि में नहीं आ सकते हैं, क्योकि ज्ञान का उपादान संवेदनायें हैं और इनकी संवेदना हमें उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि द्वारा आत्मा, ईश्वरादि का ज्ञान सम्भव नहीं है, फिर भी नैतिकता के लिये व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्व मान्यताओं के रूप में वह इन्हें स्वीकार करता है। काण्ट ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करने के बावजूद धार्मिक आडम्बर, रूढ़िवाद, मिथ्याचार के विराधी थे। काण्ट के अनुसार सच्चा धार्मिक व्यक्ति नैतिक व्यक्ति है जो बुद्धि के निरपेक्ष आदेश के अनुसार कर्म करता है। काण्ट मानवीय स्वातन्त्र्य और गौरव पर बल देते हैं तथा व्यक्ति को साध्य बताते हैं न कि साधन। काण्ट का नैतिकता का सूत्र कहता है "इस प्रकार कार्य करो कि तुम अपने आपको साध्यों के राज्य का नियम विधायक सदस्य समझ सको।" शुभ संकल्प अर्थात् विशुद्ध कर्तव्य चेतना द्वारा प्रेरित संकल्प ही एकमात्र स्वतः साध्य शुभ है। शुभ संकल्प के अनुसार आचरण करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। शुभ संकल्प उच्चतम या सर्वोच्च शुभ होते हुए भी पूर्ण शुभ नहीं है। पूर्ण शुभ में शुभ संकल्प के साथ ही आनन्द का भी समावेश होता है। सद्गुण या शुभ संकल्प को आनन्द से युक्त करने के लिए काण्ट ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है। नैतिक पूर्णता-ऐसी स्थिति जिसमें व्यक्ति निरपेक्ष आदेश के अनुसार केवल कर्तव्य चेतना से प्रेरित होकर सदैव कर्म करे--इसी जीवन में सम्भव नहीं है। इसीलिये काण्ट आत्मा की अमरता स्वीकार करता है।

हेगल अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में मानवीय नियति, धर्म के स्वरूप, ईश्वर एवं मनुष्य के स्वरूप आदि समस्याओं में उलझा हुआ था।[42] वह यूनानियों के लोक-धर्म से जो कि सृजन एवं सौन्दर्य की भावना से ओत-प्रोत था, विशेष प्रभावित हुआ। पर शीघ्र ही उसने पाया कि इसमें वह नैतिक गहराई नहीं है, जो कि काण्ट एवं ईसाई धर्म के मत में पायी जाती है। हेगल के आरम्भिक प्रयासों में ही हम उसे एक समग्र और सम्पूर्ण विचारतन्त्र को खोजते हुए पाते हैं जो जीवन एवं सत् को सम्पूर्णता में व्याख्यायित कर सके। हेगल के अनुसार एकमात्र निरपेक्ष परमचेतन की ही सत्ता है। विकास का इतिहास परमचेतन का इतिहास है। सत्ता बोध है और बोध ही सत्ता है। यह भेद को समाविष्ट करने वाला सम्पूर्ण है। जो अव्यक्त है उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तथा जो शक्य है उसके पूर्णतया फलित रूप में उद्घाटित होने के अतिरिक्त सम्पूर्ण और कुछ नहीं है। तर्कतः: आत्म अपने विकास के पूर्व है परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से वह विकास से अभिन्न तथा उसके चरम पर पूर्णतया अभिव्यक्त होता है। यह विकास पक्ष-प्रतिप्रक्ष-संश्लेषणपूर्वक विकास है, द्वन्द्वात्मक विकास है। "ज्ञान के लिये यह ही आवश्यक नहीं है कि मात्र अव्यवहित होना ही आरम्भ हो, अपितु यह भी आवश्यक है कि ज्ञान अपनी समग्रता में एक ऐसा वृत्त हो जो स्वयम् अपनी आरम्भिक स्थिति में प्रत्यार्वतन करे, जहाँ प्रथम अन्तिम हो तथा अन्तिम प्रथम हो।"[43] इस प्रकार आरम्भ अन्त है तथा अन्त आरम्भ। हेगल के अनुसार सम्पूर्ण इतिहास आत्मा का आत्मप्रवास एवं फिर उसकी परिलब्धि या ज्ञान है; परमसत् एवं उसका ज्ञान ऐसा ही है। यही दर्शन का विषय है।

हेगल के अनुसार परम आत्म स्वयं ही अपने को सृष्टि की तमाम वस्तुओं में अभिव्यक्त करता है। तमाम प्रजातियाँ और स्वयं मनुष्य इसी परम् चित् की उत्पत्ति है। मनुष्य परम्चित् के विकास में शीर्ष पर है तथा समस्त संस्कृति के इतिहास को हेगल आत्म का स्वयं के साक्षात्कार के प्रयास के रूप में देखता है। कला, नैतिकता, धर्म एवं दर्शन इस परम आत्मा के विकास की चरम अभिव्यक्तियाँ हैं। दर्शन, वह भी हेगल के दर्शन में परम आत्म अपनी अभिव्यक्ति के चरम को पाता है। यह दर्शन भेद को सुरक्षित रखते हुए अभेद का दर्शन है, ऐसा विचारतन्त्र है जो सावयवी सम्पूर्ण है जिसमें प्रत्येक अंग का आवश्यक स्थान है। इस तरह मनुष्य और उसकी गतिविधियों को प्रमुख स्थान मिलने के बावजूद मनुष्य यहाँ तन्त्र का एक अंग है। व्यक्ति की वैयक्तिकता का हनन होता है तथा उसकी सार्थकता समष्टि के अंश के रूप में ही अवशिष्ट रहती है। किर्केगार्ड हेगल के दर्शन में मनुष्य का जो यह स्वरूप उभरता है उसकी जमकर आलोचना करते हैं।

आर्थर शोपेनहावर के अनुसार सत्ता का मौलिक तथा वास्तविक स्वरूप संकल्परूप है। इसी संकल्प की अभिव्यक्ति चेतन जीवन में 'जीने के संकल्प' में होती है। जीवन को 'जीने के संकल्प' का व्यक्त रूप कहा जा सकता है।[44] शोपेनहावर के अनुसार अस्तित्व मात्र दुःखात्मक एवं कष्टपूर्ण है। जीवन कष्ट एवं ऊब से भरा हुआ है। निराशावाद अस्तित्व का अनिवार्य अंग है। सत्ता का स्वरूप अनिर्वायतः संकल्प है, तथा इसी की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में दृश्य-जगत् में होती है। सब कुछ संकल्प की जकड़ में बंधा है। शोपेनहावर के अनुसार अस्तित्व ही बन्धन है, दुःख है। अतः अस्तित्व का निषेध मुक्ति का मार्ग है। अस्तित्व संकल्प रूप है, अतः अस्तित्व-निषेध का अर्थ संकल्प के बन्धन को तोड़ना है। संकल्प का निषेध-जीने के संकल्प का निषेध है, क्योंकि अस्तित्व जीने के संकल्प का ही दूसरा नाम है। अतः मुक्ति का मार्ग संकल्प निषेध का मार्ग है, त्याग-वैराग्य या संन्यास का मार्ग है और तभी दुःखों से निर्वाण की प्राप्ति होगी। यह आन्तरिक स्थिरता एवं शान्ति की अवस्था है जिसे कोई संकल्प विचलित नहीं कर सकता है। शोपेनहावर न केवल उपनिषदों से अभिभूत थे अपितु उनके चिन्तन की उपनिषदीय चिन्तन एवं बौद्ध मत से आश्चर्यजनक साम्यता देखी जा सकती है। उनके अनुसार भी अस्तित्व मात्र दुःखात्मक है तथा बौद्ध दार्शनिकों की तरह वे भी निर्वाण की बात करते हैं। भारतीय साधकों की तरह वे जीवन से संन्यास, वैराग्य और आत्म-नियन्त्रण की बात करते हैं।

शोपेनहावर जीवन को जीने की इच्छा के रूप में देखते हैं जो अन्ततः दुःखदायी सिद्ध होती है। जीवन निराशा एवं दुःखों से पूर्ण तथा भयावह है। नीट्शे के अनुसार जीवन के इस रूप को बदला जा सकता है। वे निराशा में जीवन की सार्थकता नहीं देखते। जीवन की सार्थकता निराशा के विरुद्ध जीवन की पुष्टि तथा समर्थन में है। ईसाई धर्म की नैतिकता की इसीलिये नीट्शे आलोचना करते हैं और यूनानी जीवन की प्रशंसा, क्योंकि प्रथम में जीवन का दमन किया गया है। अतः नीट्शे मूल्यों का मूल्यान्तरण करने को कहता है ताकि नये मूल्यों का उदय हो सके जिसमें जीवन की तमाम भयावहता और निराशा के बावजूद उसकी स्वीकृति हो, उस पर बल हो। शोपेनहावर के विपरीत नीट्शे संसार और जीवन का तत्त्व प्रभुत्व की प्राप्ति की इच्छा में देखता है। मनुष्य प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छा है।[45] मनुष्यों मूल्यों का सर्जक है। जगत् मूल्यविहीन है। जो कुछ भी प्रभुत्व प्राप्ति में सहायक है अर्थात् सबल और शक्ति सूचक है वह शुभ है। इस दृष्टि से साहस, बल, सामर्थ्य, आत्मनिर्भरता, आत्मविकास आदि शुभ है। इसके विपरीत दासभाव की नैतिकता है जो जीवन में निष्क्रियता, आज्ञाकारिता, दया, अनुकम्पा आदि शक्ति विरोधी गुणों को शुभ मानती है। नीट्शे अनीश्वरवादी है तथा उसकी प्रसिद्ध उक्ति

है 'ईश्वर मर चुका है'। ईश्वर के मरने की उद्घोषणा द्वारा नीट्शे उस मनुष्य को पुनः प्रतिस्थापित करना चाहते हैं जिसकी ईश्वर ने, धर्म ने हत्या कर दी थी। ईश्वर पर निर्भर हो मनुष्य अपने आपको ही भूल बैठा था, इसी कारण वे ईश्वरविहीन जगत् में मानवीय महत्त्व को पुर्नस्थापित करने की चेष्टा करते हैं। नीट्शे के अनुसार मनुष्य की नियति मानवता का अतिक्रमण कर अतिमानव होना है। अतिमानव केवल श्रेष्ठ मानव मात्र नहीं है, वह एक नये ढंग का मनुष्य है जो मनुष्य से परे उठ चुका होगा। यदि मनुष्य अपने आप को अपने से परे उठा सके तभी वह अतिमानव बन सकता है। आत्म-अतिक्रमण मनुष्य का लक्ष्य है। यह प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छा के सृजनात्मक रूप लेने से सम्भव है। श्रेष्ठ मनुष्यों में आत्म-अतिक्रमण की प्रवृत्ति द्रष्टव्य है, किन्तु इसका पूर्ण व्यक्त रूप अतिमानव है। अतिमानव मानवीय विकास की नियति है, उसकी श्रेष्ठतम सम्भावना है।[46] इसमें मनुष्य की सभी उच्च प्रवृत्तियाँ, श्रेष्ठ और प्रभुत्व भाव संगठित हो जायेंगे, वह शारीरिक, मानसिक दोनों दृष्टि से शक्तिपुञ्ज होगा। अतिमानव की सम्भावना तभी साकार होगी जब इसके लिये प्रयत्न होगा। इस प्रयत्न के लिये श्रेष्ठ मनुष्यों की आवश्यकता होगी, प्रचलित नैतिकता एवं मूल्यों का प्रतिवाद करना होगा।

नीट्शे के अनुसार विश्व की गति का पथ वृत्त के घेरे जैसा है। चिरन्तर पुनरावर्तन के नियम के अनुसार जो घटनायें तथा वस्तुयें पहले अस्तित्व में आ चुकी हैं, फिर वे वैसे ही पुनः घटित होती हैं। अतः अन्तिम लक्ष्य या नियति का प्रश्न निरर्थक है, क्योंकि यात्रा अनन्त है। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यात्रा के ढंग का है, नीट्शे के अनुसार यह यात्रा सशक्त एवं श्रेष्ठतम ढंग से होनी चाहिए।

सोरेन किर्केगार्ड अस्तित्ववाद के जनक माने जाते हैं। हेगल के बुद्धिवाद एवं मानव-नियति विषयक मत की आलोचना करते हुए किर्केगार्ड कहते हैं कि सत्य एवं मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक ज्ञान असम्भव है। भावों, विचारों, सम्प्रत्ययों का अम्बार खड़ा करने से मानवीय वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो सकता। बौद्धिक विश्लेषण से अमरता, ईश्वर आदि की अस्तित्ववादी अनुभूतियों को भला कैसे पकड़ा जा सकता है? अमरता की समझ तटस्थ चिन्तन एवं बौद्धिक विश्लेषण से नहीं अपितु मृत्यु की चेतना की अपनी आन्तरिकता में अनुभूति से हो सकती है। सत्य हमसे बाहर नहीं है अपितु हमारे अन्दर है। बौद्धिक विधि में ज्ञाता, ज्ञेय में दूरी मानी जाती है जबकि वास्तविक ज्ञान इस दूरी के मिटने के बाद ही हो सकता है। बुद्धिवादं मानवीय सत्य को नहीं पकड़ सकता है, क्योंकि यह उसे सार्वभौम, दूरस्थ तथा तटस्थ बनाकर व्यक्ति से उसकी नजदीकी, आन्तरिकता को शुष्क बनाते हुए उसे अमानवीय बना देता है। किर्केगार्ड 'व्यक्ति' के तिरस्कार की आलोचना करते

हैं तथा कहते हैं कि दर्शन का केन्द्र व्यक्ति है। व्यक्ति को उसके समुदाय या भीड़ के अंग के रूप में नहीं लिया जा सकता है। किर्केगार्ड चिन्तन की वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक प्रणाली का विरोध करते हैं[47] तथा सत्य को आत्मनिष्ठ एवम् आन्तरिक बताते हैं। सत्य अवधारणा की वस्तु नहीं है, जीने एवं झेले जाने की वस्तु है। मानवीय स्थिति का यथार्थ मूल्यांकन समष्टि एवं तन्त्र के अंग के रूप में न होकर व्यक्ति की विशिष्टता एवम् आन्तरिकता के अवबोध के आधार पर ही सम्भव है। सुकरात का 'स्वयं को जानो' किर्केगार्ड के लिये वास्तविक दार्शनिक सूत्र है क्योंकि स्वयं को जानने के मध्य सत्य उद्घाटित होता है। सत्य आत्मीयता है। व्यक्ति का मानवीय अस्तित्व आन्तरिक तनाव तथा क्लेश की अनुभूति से संरचित है, तथा इसी के साथ समझौते के प्रयत्न में अग्रसर होता है। इस समझौते का सफल रूप आस्था–ईश्वर के प्रति आस्था–है। ईसाई सम्प्रदाय के विपरीत वे ईश्वर की खोज किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में न कर व्यक्ति की आन्तरिकता में करते हैं। चिन्ता, विषाद, निराशा जीवन एवम् अस्तित्व का अनिवार्य अंग है, यह जीवन-व्याधि है। धार्मिकता की स्थिति में अपने अन्तर में ईश्वर के प्रति पूर्ण एवं निरपेक्ष आस्था का उदय होता है। इस स्थिति में अस्तित्व को एक ठहराव प्राप्त होता है, नैराश्य एवं जीवन की विडम्बनाओं से एक प्रकार का समझौता हो जाता है। साधारण दृष्टि में इस स्थिति में तनाव, वेदना एवं मानसिक क्लेश दिखाई पड़ सकता है। अब्राहम जो कि 'आस्था का प्रणेता' कहा जाता है उसने निश्चय ही पुत्र बलि के अवसर पर तनाव महसूस किया होगा। पर यह तनाव एवं क्लेश, संघर्ष एवं कष्ट वास्तविक धार्मिकता का–आस्था का–आवरण है, कलेवर है। किर्केगार्ड के अनुसार मानवीय सत्य आन्तरिकता में है। अतः मानव अस्तित्व के आन्तरिक विकास में मनुष्य के अन्तर में कुछ विकल्प उपस्थित होते हैं जिनमें उसे कुछ चयन करना पड़ता है; इसी चुनाव के अनुरूप उसका जीवन–उसका अस्तित्व रूप लेता है। इस प्रकार मानवीय अस्तित्व कोई प्राप्त चीज नहीं बल्कि निरन्तर होने की चीज है और यह विभिन्न विकल्पों में चयन तथा उस चयन में अनुभूत हाने वाले वेदना-तनाव-क्लेश की अनुभूति है। किर्केगार्ड अस्तित्वमूलक तीन विकल्पों अथवा कहिये कि अस्तित्व या जीवन के तीन स्तरों की चर्चा करता है–(1) सौन्दर्यपरक जीवन–यह तात्कालिक वस्तुओं में सुख ढूँढ़ने की अवस्थिति है, यहाँ क्षणिक सुखों के लिये जीया जाता है। इसकी परिणति सौन्दर्यपरक निराशा में होती है। (2) नैतिक जीवन–इस अवस्था में वह 'स्व' की सीमा को तोड़ अन्य के साथ जुड़ने की आवश्यकता महसूस करता है।[48] पर इस जीवन से भी निराशा हाथ लगती है। (3) धार्मिक जीवन–यह आस्था का, वास्तविक धार्मिकता का जीवन है। इस अवस्था में अस्तित्व को ठहराव महसूस होता है।

हुसर्ल का उद्देश्य चेतना में प्रदत्त आद्यरूप 'भाव' या 'तत्त्वों' (बीइंग्स) को पकड़ना था जबकि हाइडेगर के अनुसार सत्ता (बीइंग्स) का अन्वेषण ही चिन्तन का लक्ष्य है। हाइडेगर का प्राथमिक उद्देश्य एक आधारमूलक सत्तामीमांसा की स्थापना रही। हमारे सामान्य आनुभविक एवं वैज्ञानिक ज्ञान का विषय सत्तायें (बीइंग्स) हैं, जबकि दार्शनिक चिन्तन के अन्वेषण का लक्ष्य सत् (बीइंग) की समझ है। यह सत् परिभाषा या अवधारणा की वस्तु न होकर अनुभव करने की तथा समरसता स्थापित करने की चीज है। हाइडेगर के अनुसार इस सत् की अनुभूति का मार्ग मानव स्वयं है। सत् को देखने का झरोखा मनुष्य स्वयं है और यहीं हाइडेगर का दर्शन अस्तित्ववादी हो जाता है। हाइडेगर ने मानव का अस्तित्ववादी विश्लेषण किया तथा इस विश्लेषण से ही स्पष्ट हो जाता है कि मानव अस्तित्व की ऐसी सम्भावनायें हैं जिसमें वह सत् की ओर सजग एवं चेतन हो जाए। यह मानव ही है जो सत् सम्बन्धी ऐसे प्रश्न उठा सकता है–होने का क्या अर्थ है? ऐसा कैसे है कि कुछ है, केवल शून्य नहीं है? मानव अस्तित्व की ही विधा है कि वह सत् सम्बन्धी प्रश्न उठा सकता है। उसी की विधा में सत् का अवबोध हो सकता है। अतः हाइडेगर मानव-अस्तित्व की सम्भावनाओं को, उसकी अनेकों विधाओं को, विभिन्न विद्यमानताओं को स्पष्ट करते है; क्योंकि इसी के विश्लेषण से वे सत् तक पहुंच सकते हैं, सत् से सम्पर्क का आधार ढूंढ़ सकते हैं। मानव-अस्तित्व जो कि डासाँय है, का अर्थ है मानव होने की विधा या अस्तित्व की मानवीय विधा। अतः मानव-अस्तित्व को समझने का अर्थ उसकी परिभाषा या सामान्य लक्षण का ज्ञान न हो, उसके विभिन्न विधाओं-ढंगों-विद्यमानताओं को समझना है, क्योंकि हर मनुष्य का अस्तित्व अपना है। मानव का अस्तित्ववान् होना अन्य तत्त्वों के अस्तित्ववान् होने से इस अर्थ में भिन्न है कि इसे अपने अस्तित्व की भी चेतना रहती है। मानव-अस्तित्व 'जगत् में मानव अस्तित्व' है अर्थात् आत्म अस्तित्व की चेतना उसके जगत् में होने की चेतना है। साथ ही यह जगत् भी मानवीय जगत् है। यह जगत् मानव के समक्ष उपस्थित जगत् न हो उपयोग के लिये तत्पर जगत् है, जगत् सम्भावना रूप है-उपकरण रूप है। जगत् में मानव-अस्तित्व की एक विधा यह है कि यह हमेशा आगे-आगे चलता है, जीता है। मानव-अस्तित्व का जगत् के साथ एक विशिष्ट लगाव (केयर, कन्सर्न) रहता है। हाइडेगर के अनुसार शून्यता सत् में निहित है, सत् के अवबोध का अनिवार्य अंश है। सत् सत् भी शून्यता के कारण है। यदि जगत् के पदार्थ परिवर्तित नहीं होते, नष्ट नहीं होते, स्वयं मनुष्य रोगमुक्त होता अथवा अमर होता तो शायद सत् की ओर उन्मुख नहीं होता, उसे उसकी अनुभूति नहीं होती। मृत्युबोध इसी शून्यता (तात्त्विक) की वास्तविक आनुभविक जगत् में अभिव्यक्ति है।

हाइडेगर मानव-अस्तित्व की अप्रामाणिक एवं प्रामाणिक स्थिति में भेद करते हैं। अप्रामाणिक अस्तित्व 'पतन' की अवस्था है, यह मानव का अपनी विशिष्टता से-प्रामाणिकता-से गिरना है। अप्रामाणिक जीवन में मानव अपनी मानवीयता से हटकर, अपनी विशिष्टता से हटकर अपने को नित-प्रति के, भीड़ के, सार्वजनिक जीवन के औसत रूप में खो देता है। इसमें वह अपने को सामान्य अन्य (दे) के अनुरूप ढाल लेता है अथवा वह अपने को जगत् की वस्तु बना लेता है, यन्त्र बना लेता है। ऐसा करने से उसे अपने जीवन में निहित दायित्व, चिन्ता, भय से एक तरह की राहत मिलती है, इस काल्पनिक राहत में उसे तृप्ति मिलती है। किन्तु इससे वह खुद से टूट जाता है, यह उसका स्वयं से अलगाव है। अप्रामाणिक जीवन में मानव-अस्तित्व का सत् से सम्बन्ध टूटा हुआ होता है जबकि प्रामाणिक जीवन मानव-अस्तित्व को सत् से सम्बन्धित करना है। प्रामाणिक एवम् अप्रामाणिक अस्तित्व की चर्चा के मध्य हाइडेगर के मृत्यु सम्बन्धी मत की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। हाइडेगर के अनुसार मानव-अस्तित्व मृत्यु उन्मुख सत् है। जैसे हमारा अस्तित्व हमारा अपना है उसी तरह मृत्यु नितान्त अपनी है। मृत्यु हमारा निश्चित भविष्य है। मानवीय सत् मृत्यून्मुख सत् है। मृत्यु को भूलाना अप्रामाणिक जीवन है। मृत्यु हमारी नियति है। अपने इस स्वरूप का बोध प्रामाणिक अस्तित्व है। अप्रामाणिक जीवन वास्तविक सम्बन्ध-सूचक जीवन है जिसमें तत्त्व विषयक सम्भावनायें छिपी रहती हैं, इन्हीं सम्भावनाओं के जागरूक होने से प्रामाणिकता की सम्भावना जागरूक होती है तथा सम्भव है कि अस्तित्वमूलक चिन्ता स्पष्ट हो जाये। यह चिन्ता सत् से पूर्णयता तटस्थ या अलिप्त न होने का द्योतक है। यह चिन्ता एवं मृत्यु की अनिवार्यता की चेतना अस्तित्व के मूल अर्थ का प्रश्न खड़ा करती है। उसे सोचना पड़ता है कि सत् क्या है। अतः प्रामाणिक अस्तित्व का अर्थ है मानव-अस्तित्व सत् के साथ अपने तात्त्विक सम्बन्ध को कभी नहीं भूले। इस तात्त्विक दृष्टि का परिणाम जीवन के वास्तविक सम्बन्धों पर पड़ता है और जीवन के प्रति, अन्य के प्रति तथा जगत् के प्रति दृष्टि बदल जाती है। उसे समझ में आ जाता है कि भीड़ में खो जाना अथवा स्वयं को मशीनी बना लेना उसकी वास्तविकता के अनुरूप नहीं है। उसे मानव-अस्तित्व में निहित सत् की झाँकी मिलती है। इस बात का उसे बोध होता है कि अस्तित्व की प्रामाणिकता इस बात में है कि वह अपनी मानवीयता को उसकी सारी सम्भावनाओं के साथ जीये। 'चिन्ता', 'मृत्यु की चेतना' आदि को स्वीकारते हुए मानवीय दायित्व को समझते रहना ही उसकी विशेषता एवं नियति है।

किर्केगार्ड दर्शन की परम्परागत अमूर्त एवं वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली के विपरीत अस्तित्ववान् मूर्त जीवन्त मनुष्य को दर्शन का केन्द्र बनाते हैं। सत्य बौद्धिक गवेषणा

की वस्तु नहीं अपितु हमारे जीवन की वह महत्त्वपूर्ण घटना है जिस पर हमारा समस्त अस्तित्व टिका हुआ है। किर्केगार्ड ने दार्शनिक चिन्तन को आत्माभिमुख किया तथा विषयिता को दर्शन का प्रस्थान बिन्दु बनाया। इस तरह स्वयं व्यक्ति के सत्य एवं नियति की खोज दर्शन है। अपने दर्शन में आस्था एवम् ईश्वर के प्रत्यय का समावेश कर किर्केगार्ड अपने मूलभूत प्रश्न को 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है' से बदलकर "ईसाई होने का क्या अर्थ है" में बदल देते हैं। यदि उनके दर्शन से 'आस्था' एवं 'ईश्वर' के प्रत्ययों को हटा दें तो किर्केगार्ड के दर्शन एवं सार्त्र के दर्शन में आधारभूत समानता दिखायी देती है। जीवन के दु:खात्मक स्वरूप को दानों स्वीकार करते हैं तथा इसे चिन्ता, निराशा एवं विषाद से भरा हुआ पाते है। इसी तरह नीट्शे के विचारों का सार्त्र पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। नीट्शे की तरह सार्त्र भी 'ईश्वर के मरने की' उद्घोषणा करते हैं तथा मनुष्य को मूल्यों का स्रष्टा बतलाते हैं। ईसाई नैतिकता की वे भी आलोचना करते हैं तथा जगत् को बेतुका, मूल्यहीन, ऊबाऊ एवं भयावह पाते हैं। नीट्शे के लिये मनुष्य प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छा है, सार्त्र मनुष्य को ईश्वर होने की इच्छा के रूप में देखते हैं। मूलभूत योजना सम्बन्धी सार्त्र के मत पर नीट्शे के मत का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। हाइडेगर और सार्त्र की गणना समान रूप से निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद के पुरोधाओं के रूप में की जाती है। वस्तुत: नीट्शे (यद्यपि वे विषयिता एवं मानव-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अस्तित्ववादियों के विपरीत निष्कर्ष देते हैं तथा उनकी गणना अस्तित्ववादियों में नहीं की जाती है), किर्केगार्ड, हाइडेगर, सार्त्र, मार्सल, जास्पर्स, कामू प्रभृति दार्शनिक पारम्परिक दर्शन से भिन्न नये ढंग से मानव-नियति की समस्या पर विचार करते हैं। यह नया ढंग अस्तित्ववादी है। मानव-नियति का प्रश्न आदि से ही दार्शनिकों के लिये प्रमुख समस्या रही है, पर अस्तित्ववादियों के चिन्तन में यह वह मूल आद्य प्रश्न हो जाता है जिसके अर्थान्वेषण में स्वयं सत् का स्वरूप स्पष्ट होता है। मानव-नियति की समस्या कोई बौद्धिक एवं परिकल्पनात्मक चिन्तन का विषय नहीं है और न ही इसका कोई सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ समाधान दिया जा सकता है। मानव-नियति का प्रश्न हर व्यक्ति के लिये नितान्त व्यक्तिगत प्रश्न है, यह कोई सैद्धान्तिक प्रश्न न हो उसके भावी जीवन का प्रश्न है, जिसके उत्तर पर उसका सम्पूर्ण जीवन टिका हुआ है। मानव अस्तित्व का सत् स्वयं व्यक्ति की आन्तरिकता में उद्घाटित होता है और इसीलिये किर्केगार्ड सुकरात के 'स्वयं को जानो' को दार्शनिक मूल मन्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं।[49] अस्तित्ववादियों की विशेषता यह है कि वे व्यक्ति को मानव-नियति विषयक आद्य प्रश्न की ओर उन्मुख करते हैं तथा स्वयं अपनी आन्तरिकता में अस्तित्व के सत् को ढूंढ़ने को कहते हैं और यहीं हम उसकी

वेदान्त से वह मौलिक समानता देखते हैं जो 'आत्मानं विद्धि' का उपदेश देती है तथा अपने अन्तस् में सत्य को ढूढ़ने को कहती है। स्वयं में गोता लगाने के मध्य 'सत्य' के विभिन्न रूप सामने आते हैं। सार्त्र और शंकर के दर्शन के माध्यम से इनके दो रूपों को प्रस्तुत रचना प्रबन्ध में स्पष्ट किया गया है ताकि मानव-नियति के सम्बन्ध में एक समग्र दर्शन की ओर बढ़ा जा सके।

सन्दर्भ

1. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
   तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/4.
   न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः। न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।।
   केन उपनिषद्, 1/3.
2. स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति। अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहित-मस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-मनोऽतेजस्कम प्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।।
   बृहदारण्यक उपनिषद्, 3.8.8.
3. केन उपनिषद्, 2.2
   वहीं आगे देखें–
   यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।
   केन उपनिषद्, 2.3.
4. अयमात्मा ब्रह्म।
   बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.5.19.
   अहं ब्रह्मास्मि।
   बृ॰, 1.4.10
   तत्त्वमसि।
   छान्दोग्य उपनिषद्, 6.8.7.
5. येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।
   छान्दोग्य उपनिषद्, 6.1.3.
6. केनोपनिषद्, 1.4 से 1.8
7. अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशाद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्......। ऐतरेय उपनिषद्, 1.2.4.
8. (अ) ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्।
   ऐतरेय उपनिषद्, 1.2.3.

(ब) इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य पी०टी० राजू का लेख 'The concept of Man in Indian Thought' in The Concept of Man, ed. S. Randhakrishnan and P.T. Raju, Motilal Banarasidas, Delhi, p. 230.

(स) ऐतरेय उपनिषद् का यह आख्यान यह द्योतित करता है कि एक ही तत्त्व आन्तरजगत् तथा बाह्य जगत् दोनों में विद्यमान है। फलतः मनुष्य और जगत् में समरसता का सम्बन्ध बनता है, विरोध का नहीं।

9. देखिये बृहदारण्यक उपनिषद् का द्वितीय अध्याय, चौथा ब्राह्मण–
सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां––––।
बृ०, 2.4.3.

10. उपयोगो लक्षणम्।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, 2/8.

11. बुद्ध के अनुसार सारे अहङ्कार, ममकार के मूल में स्थायी आत्मा की अवधारणा है। यह समस्त क्लेशों की जननी है, राग और द्वेष की उत्पादिका है। इस तरह जहां सार्त्र के अनुसार अनुभवातीत आत्मा चेतना की मृत्यु है (देखिये पुस्तकप्रबन्ध का तृतीय अध्याय), बुद्ध के अनुसार इसमें विश्वास ही दुःखों का कारण है। विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।

12. निब्बाणं परमंसुखम् ।
धम्मपद–203.

13. R.C. Pandey, Man and His Destiny According to Buddhism, in Indian Studies in Philosophy, p.206. 'Delhi : Motilal Banarasidas, 1977'.

14. एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।
ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका–64.

15. तेन निवृत्त प्रसवामर्थवशात् सप्तरूप विनिवृत्ताम।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः।।
सांख्यकारिका–65.

16. के०सी० भट्टाचार्य के अनुसार चूँकि इस प्रकार का ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है अतः मोक्षावस्था में उसका कोई अवकाश नहीं रहता क्योंकि तब पुरुष बुद्धि के सम्पर्क से नितान्त रहित होता है। देखिये उनका स्टडीज इन सांख्य फिलॉसफी, स्टडीज इन फिलॉसफी में संगृहीत, सं० गोपीनाथ भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति 1983.

17. Anima Sengupta, The Evolution of the Samkhya School of Thought, Patna University, 1959, p. 126.

18. Daya Krishna, Indian Philosophy a Counter perspective, Delhi, OUP OXFORD NEW YORK, 1991, p. 151.
19. G. Larson, Clasical Samkhya, Delhi, Motilal Banarasidas, 1969. S. Mishra, Anguished Freedom, Delhi, GDK Publication, 1979.
20. त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति भोगायतनं शरीरं भोगसाधनानीन्द्रियाणि भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

    पार्थसारथी मिश्र, शास्त्रदीपिका, 1/1/5.
21. S.K. Maitra, The Ethics of the Hindus, University of Calcutta, 1963, p. 234.
22. मुक्ति का अर्थ स्वातन्त्र्य न हो ईश्वर-परतन्त्रता का बोध और उस स्थिति का साक्षात्कार है। वस्तुतः ईश्वरवादी विचारधारा में 'पूर्ण स्वातन्त्र्य' की अवधारणा सम्भव ही नहीं है। इसीलिये सार्त्र ईश्वर का निषेध करते हैं।
23. सायुज्य मुक्ति भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना है–

    सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छशरीरेण भोगः।
24. बी०एन०के० शर्मा, फिलॉसफी ऑफ श्री मध्वाचार्य, पृ० 339. उद्धरित डॉ० अशोक कुमार लाड द्वारा, भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 262, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973.
25. John Wild, The Concept of Man in Greek Thought in The Concept of Man, ed. S. Radhakrishnan, P.T. Raju, Delhi : Motilal Banarasidas, p. 57.
26. 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है' में मनुष्य शब्द का अर्थ मनुष्य-व्यष्टि है, ऐसा प्लेटों का मानना है।

    देखिये-थीटिटस, 152 ए।

    प्लेटो, अरस्तू इस सूत्र की व्यष्टिपरक व्याख्या करते हैं, जबकि गोम्पर्ज, जॉन बर्नेट तथा एफ०सी०एस० शिलर (जो कि मानवतावादी व्याख्या करते हैं) इस सूत्र की समष्टिमूलक व्याख्या करते हैं। देखिये-पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (1), सं० दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988, पृ० 150-151.
27. (अ) सुकरात का यह तर्क सांख्य के उस तर्क की याद दिलाता है जिसमें पुरुष की सिद्धि की गयी है अथवा कठोपनिषद् के रथ-रथी रूपक का सहज स्मरण हो आता है।

    (ब) देखिये-पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-1, सं० दयाकृष्ण, पृ० 197.
28. John Wild, 'The Concept of Man in Greek Thought' in The Concept of Man, ed. S. Radhakrishnan and P.T. Raju, p. 80.
29. आर०पी० पाण्डेय, प्लेटो, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-1, सं० दयाकृष्ण, पृ० 207.

30. एरिस्टॉटल, फिजिक्स 2.3.149 बी. उद्धरित आर०पी० पाण्डेय द्वारा, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-1, सं० दयाकृष्ण, पृ० 234.
31. वहीं, पृ० 239.
32. John Wild, 'The Concept of Man in Greek Thought' in the Concept of Man, ed. S. Radhakrishnan and P.T. Raju, p. 114.
33. वहीं पृ० 115.
34. Ernst Benz, 'The Concept of Man in Christian Thought' in the Concept of Man, ed. S. Radhakrishanan & P.T. Raju, pp. 395-400.
35. याकूब मसीह, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, 1990, पृ० 176. वास्तव में ईसाई धर्म स्वतत्रता सम्बन्धी अपनी अवधारणा के विरोध को कभी नहीं हटा सकता है, क्योंकि जहाँ एक ओर यह मनुष्य को स्वतन्त्र भी बनाये रखना चाहता है (ताकि वह ईश्वरीय प्रेम का भागी हो सके—एक स्वतन्त्र और समरूप व्यक्ति से ही प्रेम किया जा सकता है) वहीं वह इस स्वतन्त्रता की दिशा को निर्देशित भी किये रहना चाहता है (ताकि मनुष्य प्रत्युत्तर में प्रेम करे)।
36. वैष्णव वेदान्ती भी जीव की देहशून्य अवस्थिति नहीं स्वीकार करते। देखिये-इसी भूमिका में उनका मत।
37. Spinoza, Tractatus de Intellectus Emendatione, tr. R.H.M. Elwes, Tudor Pub. Corp., Mew York, 1936, p. 3.
38. देखिये डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी की पुस्तक
Spinoza in the Light of Vedanta, B.H.U., Banaras, 1957.
39. See Spinoza's Ethics, Preface to Part iv.
40 रमाकान्त त्रिपाठी, स्पिनोजा-पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड-2, सं० दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ० 108.
41. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड-2, सं० दयाकृष्ण, पृ० 174.
42. वहीं, पृ० 329.
43. वहीं, पृ० 344.
44. शापेनहावर की मुख्य दार्शनिक कृति का नाम ही है—
The World as Will and Idea.
शापेनहावर एक तरह से काण्ट के संवृत्ति एवं परमार्थ के भेद को स्वीकार करते हैं तथा संवृत्ति-जगत् को The World as Idea तथा परमार्थ को The World as Will बताते हैं।
45. The Will to Power, tr. W. Kaufmann and R.J. Hollingdale, ed. W. Kaufmann 'London, 1968'
46. यहां नीट्शे का मत श्री अरविन्द से तुलनीय है। श्री अरविन्द के 'अतिमानव' सम्बन्धी विचार के लिये देखें उनकी पुस्तक लाइफ डिवाइन।

47. Soren Kierkegaard, Concluding Unscientific Postscript, tr. D.F. Swenson and W. Lowrie, Princeton, 1941.

48. देखिये उनकी पुस्तक "आइदर-ऑर" जिसमें किर्केगार्ड दो प्रकार की जीवन प्रणालियों—सौन्दर्यपरक जीवन शैली तथा नैतिक जीवन प्रणाली—का मनोहर चित्रण करते हैं।

49. किर्केगार्ड सत्य सम्बन्धी सुकरात की धारणा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। सुकरात ने अपनी भूमिका को "दाई" की संज्ञा दी, जिसका कार्य किसी नूतन का सृजन नहीं है, पर जिसका कार्य चेतना में विद्यमान सत्य की अभिव्यञ्जना विषयक बाधाओं को अपने प्रयासों से दूर कर देना मात्र है। किर्केगार्ड भी सुकरात की तरह ही मानते हैं कि सत्य स्वयं व्यक्ति के भीतर स्थित है और रहा है तथा उसकी अभिव्यञ्जना भी स्वयं उसी के प्रयासों से होनी है। प्रश्नों द्वारा सत्य को प्रकट करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का आधार यही है कि "सत्य" उस व्यक्ति की चेतना में सद्यः विद्यमान हो तथा उसमें उसे प्रकट करने की शक्ति भी हो। द्रष्टव्य—किर्केगार्ड की रचना फिलॉसाफिकल फ्रेगमेण्ट्स।

❑ ❑ ❑

प्रथम अध्याय

आचार्य शंकर के अनुसार सत्ता एवं मनुष्य का स्वरूप

समस्त दार्शनिक अनुशीलन स्वयं मनुष्य को जानने का प्रयास है। ऐसा नहीं है कि दर्शन की प्रवृत्ति पराङ्गमुखी नहीं रही है और कि बाह्य अनुभूयमान जगत् के मूल तत्त्व को जानना दर्शन का क्षेत्र नहीं रहा है। वरन् दर्शन का आरम्भ तो इसी से होता है। परन्तु शीघ्र ही हम देखते हैं कि समस्त विषयरूप जगत् के मूलतत्त्व के रूप में हम जिसे पाते हैं उससे नितान्त अपरोक्ष चैतन्य स्वरूप आत्म की व्याख्या नहीं हो पाती। इस तरह दर्शन की पराङ्गमुखी प्रवृत्ति दो दृष्टियों से कमजोर प्रतीत होती है। प्रथम, यह उस मूलतत्त्व को खोजने में असमर्थ होती है जिससे सब कुछ व्याख्यायित हो सके[1] और द्वितीय यह कि वह नितान्त अपरोक्षानुभूति को परोक्ष द्वारा व्याख्यायित करने का प्रयास करती है।

अतः शीघ्र ही दार्शनिक चेतना अपना ध्यान वहाँ केन्द्रित करती है जो समस्त अनुभवों का स्रोत है, जो नितान्त अपरोक्ष होने से सर्वप्रसिद्ध है अर्थात स्वयं अपनी आत्मा पर। इस आत्म पर, विषयी पर ध्यान केन्द्रित करने से जहाँ इसके द्वारा प्रकाशित अनुभूत विषय-जगत् भी व्याख्यायित हो जायेगा वहाँ स्वयं विषयी का भी उचित अध्ययन हो सकेगा। आत्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा अनात्म को भी समाहित किये हुए होती है जबकि अनात्म या विषय जगत् सम्बन्धी जिज्ञासा पहले तो यह आवश्यक नहीं कि आत्म को भी समाहित किये हो, और यदि कदाचित् किये भी हो तो यह आत्म का विषयरूप अध्ययन होगा–आत्मा का प्रत्ययात्मक अध्ययन होगा–प्रत्यक् स्वरूप अपरोक्ष आत्म का नहीं। इस तरह दर्शन को वह मूल केन्द्रबिन्दु प्राप्त होता है जिसकी व्याख्या से सब कुछ व्याख्येय हो सके।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण, मनन, निदिध्यासन आवश्यक है क्योंकि आत्मा के दर्शन से सब कुछ विज्ञात हो जाता है–कुछ भी अविज्ञात शेष नहीं रहता।[3]

इस तरह दार्शनिक प्रक्रिया का चरम आत्म-जिज्ञासा में पर्यवसित होता है और औपनिषदिक परम्परा का सार भी इसी आत्मविद्या में देखा जा सकता है। 'आत्म' को दर्शन का केन्द्र बनाकर क्या सर्वप्रसिद्ध बाह्य जगत्-विषयरूप जगत् सम्बन्धी जिज्ञासा उपेक्षित नहीं हो जाती? और यहीं हम अद्वैत मत की विशेषता से परिचित होते हैं कि बाह्य जगत् के मूलाधार को खोजते हुए बुद्धि जिस परमतत्त्व 'ब्रह्म' को पाती है वही स्वयं व्यक्ति की सत्ता का मूलतत्त्व है। अन्ततः विषय जगत् और विषयी जगत् दोनों का मूलाधार एक ही है। ब्रह्म और आत्मा एक ही है। इस तरह शंकर के अनुसार ब्रह्म विद्या ही आत्म विद्या है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि कैसे शंकर एप्रोच में ही द्वैतवाद से बच निकलते हैं-दो भिन्न-भिन्न सत्ता सम्बन्धी, आत्म-अनात्म सम्बन्धी जिज्ञासा के चक्कर में न पड़ वह सांख्य प्रभृति द्वैतवादियों की तरह प्रकृति और पुरुष पर नहीं पहुँचते। पुनः विषयी या आत्म के अपरोक्ष अनुभूति से हमें जिस तत्त्व (आत्म) की उपलब्धि होती है-बाह्य अनुभूयमान विषय जगत् के मूलाधार के रूप में भी उस तक पहुँचा जा सकता है-कहकर शंकर अहम्मत्रवाद व विषयिनिष्ठ विज्ञानवाद के दोषों से बच निकलते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार परमसत् : ब्रह्म

दर्शन चरमसत्य को खोजने का प्रयास है, उस सत्य को जिससे 'सब कुछ' व्याख्यायित हो जाए। यहाँ व्याख्या से तात्पर्य बौद्धिक व्याख्या मात्र से नहीं है। क्योंकि आवश्यक नहीं कि सब कुछ बौद्धिक हो, हो सकता है कि कुछ अतार्किक भी हो, अतः सत्य ऐसा होना चाहिए जो अतार्किक की भी व्याख्या कर सके। पुनः मानवीय भावनाओं, मानवीय कार्ययोजनाओं, समस्त चेतन-अचेतन गतिविधियों की व्याख्या में सत्य को समर्थ होना चाहिये। दुर्भाग्य से दार्शनिकों ने सत्य का तात्पर्य तत्त्व से लिया उस तत्त्व से जो देश-कालातीत है। यह देश कालातीत तत्त्व वस्तुतः देशकाल में विद्यमान् सत् का ही अमूर्तीकरण है। देशकालिक अस्तित्व के प्रति मोह तत्त्वमीमांसा में दिखती है। तत्त्वमीमांसा और वस्तुमीमांसा में वस्तुतः कोई बहुत अन्तर नहीं रह जाता। इस तरह सत्य की खोज सत् की खोज होकर रह गयी। दार्शनिक सत्य को मात्र तात्त्विक सत्य नहीं होना चाहिए, इसे उन सबकी व्याख्या में समर्थ होना चाहिये जो हमारे अनुभव में आते हैं पर जिनका देश-कालिक अस्तित्व नहीं है। हमारे विचार-हमारी भावनायें-हमारे कर्म-हमारी कार्ययोजनायें-हमारे प्रयास-हमारे स्वप्न-हमारे सम्बन्ध-हमारे सुख-द:ख आदि समस्त व्यापारों की व्याख्या इस सत्य के द्वारा होनी चाहिये। तात्त्विक सत् इनकी व्याख्या में समर्थ नहीं है। अतः दार्शनिक जिस सत्य की खोज कर रहा है उसे मात्र तात्त्विक रूप में न ले ऐसे सत्य के रूप में लेना चाहिये जिसके द्वारा न केवल जीव-जगत्

के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो अपितु उनकी भवितव्यता का भी। अत: परमसत्य विषयक जिज्ञासा परम नि:श्रेयस सम्बन्धी जिज्ञासा भी है क्योंकि व्यक्ति की नियति भी, मनुष्य की नियति भी इसी सत्य से व्याख्यायित होती है। अत: शंकर ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासा या ब्रह्मविद्या को–आत्मविद्या को–मोक्षविद्या भी बताते हैं। शंकर के अनुसार परमसत् का स्वरूप ही ऐसा है कि व्यक्ति का नि:श्रेयस भी उससे व्याख्यायित हो जाता है।

इस तरह शंकर के अनुसार दर्शन मात्र बौद्धिक जिज्ञासा नहीं है। यह व्यक्ति को उसकी मुक्ति का मार्ग दिखाता है। यदि दु:खों से, व्याधियों से पीड़ित मनुष्य को उन दु:खों से मुक्ति दिलाने में दर्शन सहायक नहीं तो उसकी क्या उपयोगिता? स्वयं दर्शन के स्वरूप मे ही इसकी यह विलक्षणता निहित है क्योंकि जिस सत् की खोज दर्शन है वह व्यक्ति का नि:श्रेयस ही है; शंकर के अनुसार सत् और श्रेय अलग-अलग नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद्[4] में उस मूलतत्त्व की जिज्ञासा की गयी है जिसके जानने से जो कुछ भी अज्ञात है वह ज्ञात हो जाता है। दर्शन का लक्ष्य इसी परमतत्त्व को जानना है। यह तत्त्व जगत् एवं जीव सभी का मूल है, परम कारण है। मूल कारण की जिज्ञासा ही प्राथमिक दार्शनिक जिज्ञासा है, क्योंकि कारण को जानने से कार्य की जानकारी आप ही हो जाती है। अत: शंकर के सत्ता सम्बन्धी मत को जानने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम उस परम कारण को जानने की चेष्टा करें जो प्रतीतिमान यावत् सकल का मूलाधार हो। प्रश्नोपनिषद् भाष्य में शंकर कहते हैं कि जगत् के इस मूल का ज्ञान परमश्रेय है।[5] यह परम कारण क्या है–इसे जानने से पूर्व शंकर के कारणता सम्बन्धी मत पर कुछ प्रकाश अनिवार्य है।

जब हम अनुभविता और अनुभव जगत् के मूलाधार की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस मूल कारण से होता है जिसके ये सब दृश्यमान कार्य हैं। कारण से शंकर का तात्पर्य स्वरूप से है। शंकर कारण कार्य को पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती घटनाओं के रूप में न लेकर कारण का अर्थ वस्तु के स्वरूप-उसकी शाश्वत आत्मा–से लेते हैं जिसके कारण वस्तु अपना अस्तित्व पाती है। कारण और कार्य पृथक्-पृथक् दो चीज नहीं है, अपितु कारण कार्य की आत्मा है।[6] शंकर के अनुसार कारण ही वास्तविक है और कार्य नामरूप मात्र।[7] कार्य कारण की ही अवस्था विशेष है। कारण से पृथक् कार्य की कोई सत्ता नहीं है। यह मत कि कार्य विवर्त मात्र है-आंशिक ही सत्य है, क्योंकि कार्य की कारण से पृथक् कोई भी अवस्था नहीं है, कारण सर्वदा उसमें अधिष्ठित है। कारण शंकर के अनुसार कार्य की आत्मा है–उसका स्वरूप या सार है और चूँकि सार या स्वरूप को अस्तित्व से अलग

नहीं किया जा सकता है, अतः कार्य कारण से अलग नहीं किया जा सकता है।[8] कार्य कारण से जन्य होने पर भी उससे अलग नहीं है।[9]

अब चूँकि शंकर के अनुसार कारण कार्य की आत्मा है, अतः कार्य-कारण भाव को शांकर मत में काल-देशिक परिप्रेक्ष्य में नहीं लेना चाहिये। फलतः कारण कार्य से पूर्ववर्ती है और कारण से कभी कार्य विशेष की सृष्टि होती है—इस तरह का विचार ठीक नहीं है। जिस तरह दही का आधार दूध है उसी तरह कार्य के आधार रूप में, आत्मा रूप में, कारण को लेने पर जगदाधार और जगद् सृष्टि के सम्बन्ध में नये ढंग से सोचना होगा। ऐसा नहीं है कि जगत् कभी सृष्ट हुआ। वस्तुतः सृष्टि मानने पर कार्य को कारण से पृथक् मान लेना पड़ेगा और तब कारण का कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रह जायेगा। लेकिन शंकर के अनुसार स्थिति काल में भी कारण से पृथक् कार्य की कोई सत्ता नहीं है और कार्य के अन्त होने पर भी उसके अधिष्ठान के रूप में कारण का अन्त नहीं होता।

शंकर के अनुसार ब्रह्म ऐसा ही मूलतत्त्व एवं परमकारण है। "जन्माद्यस्य यतः" प्रभृति सूत्र वाक्य तथा "तज्जलानिति" प्रभृति श्रुतिवाक्यों का लक्ष्य परमकारण के रूप में उस मूलतत्त्व की सत्ता सिद्ध करना है जो कि समस्त कार्य जगत् का अनिवार्य आधार है—दृश्यमान समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है, आत्मा है, स्वरूप है। शंकराचार्य कहते हैं[10] "एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् अतः सत्यं ब्रह्मेति। अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः। कारणस्य च कारकत्वं वस्तुत्वात्।"

इस तरह जगत् के मूलाधार के रूप में एक तत्त्व की सत्ता अनिवार्य है। हम जागतिक पदार्थों के अस्तित्व को पाते हैं। घट है, पट है, मठ है आदि-आदि। अतः मूलतत्त्व को वस्तुओं की इस विशिष्टता वाला—है पन की विशिष्टता वाला होना आवश्यक है। इस तरह यह सत् या सत्ता ही वह मूल वस्तु है जिसके कारण तमाम वस्तुयें अपने अस्तित्व को पाती हैं। यह सत् सर्वव्यापक है। सब कुछ इसी में है, इससे पृथक् कुछ नहीं है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्यों कुछ है—सत् है, ऐसा क्यों नहीं है कि असत् है? हम पाते हैं कि असत् से वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या नहीं हो सकती, समस्त वस्तुयें सद्मूलक ही हैं। यदि बौद्धों के समान कुछ भी नहीं है ऐसा माना जाए तब भला वस्तुओं के अस्तित्व की व्याख्या कैसे होगी? अतः जगत् के मूलतत्त्व सत् की सत्ता स्वयं सिद्ध है।[11] यदि कदाचित् घटादि पदार्थों के अस्तित्व (है पन) पर सन्देह भी किया जाए तो भी आत्मा के अस्तित्व (है पन) पर सन्देह नहीं किया जा सकता। अतः विभिन्न विषय-वस्तुओं में अनुस्यूत जो सत् है वह ब्रह्म का ही स्वरूप है।[12] यह सत् ही मूल वस्तु है और तद् भिन्न अन्य नामरूप मात्र है। समस्त प्रजा (उत्पत्तिविनाशशील जगत्) की उत्पत्ति, स्थिति

तथा लय का आधार वह सत् ही है।[13] वस्तुतः प्रतीयमान जगत् में "है-रूप" में सत्रूप यह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है।[14] यह सत् विभिन्न वस्तुओं में अनुस्यूत सत्ता का अमूर्त प्रत्यय नहीं है, बल्कि यह जगत् का स्वरूप है—उसकी आत्मा है। जैसे नाना घटादि की आत्मा मृत्तिका है, वही वास्तविक है, वैसे ही यावत् दृश्यमान जगत् का मूल या आत्मा वह सत् है: "न हि घटादेः मृदमनाश्रित्य सत्त्वं स्थितिर्वास्ति। अतो मृद्वत्सन्मूलत्वात् प्रजानां सदायतनं यासां ताः सदायतनाः प्रजाः, अन्ते च सत्प्रतिष्ठाः सदेव प्रतिष्ठा लयः समाप्तिरवसानं परिशेषो यासां ताः सत्प्रतिष्ठाः।[15]

शंकराचार्य कहते हैं कि यह जो सत् है वह आत्मा ही है, उसी से समस्त जगत् आत्मवान् है। यह सत् कारण ही परमार्थ सत् है, सत्य है। वही जगत् का प्रत्यक् स्वरूप याथात्म्य है, बाह्य नाम-रूप तो नश्वर विकारमात्र है—स यः सदाख्य एष उक्तोऽनुभावो जगतो मूलम्....एतेन सदाख्येनात्मनाऽऽत्मवत् सर्वमिदं जगत्।.... येन चात्मनाऽऽत्मवत्सर्वमिदं जगत् तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्। अतः स एवात्मा जगतः प्रत्यक् स्वरूपं सतत्वं याथात्म्यम्।[16]

सत् होने का वस्तुतः तात्पर्य क्या है? सत् शब्द सत्तार्थक भाववचन है जिसका अर्थ है विद्यमान—सन् विद्यमानो भावस्वरूप इति वा। सत् को निषेधात्मक रूप में समझने पर इसका अर्थ और स्पष्ट होता है—सत् असत् का विरोधी है, न रहने (अविद्यमानता) का निषध सत् है। अर्थात् सत् का त्रैकालिक निषेध असम्भव है—त्रिकालाबाध्यं सत्। सत् जो है वह नित्य है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता है। इस तरह सत् होना नित्य होना है। इस सत् का कभी अभाव नहीं होता, नाम रूप का ही निषेध होता है। यह सर्वदा एकरूप और कूटस्थ होता है। सर्वोपनिषद्सार में अविनाशी वस्तु को सत् कहा गया है। अविनाशी वह है जो सदा स्थिर है,[17] नाम देश कालादि का नाश होने पर भी जो नष्ट नहीं होता—जिसका कभी ध्वंश नहीं होता—वही तत्त्व सत् है। तभी तो श्रुति सत् को अनन्त कहती है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[18]। यह अन्तवान् नहीं है, देश-काल-वस्तु तीनों दृष्टि से अनन्त है। सभी देश, सभी काल और सभी वस्तु में सत् है और सभी का कारण सत् है। यह सत् सभी से अनन्य है। वस्तुतः ब्रह्म का आनन्त्य निषेधात्मक रूप में नहीं समझा जाना चाहिये। यदि वस्तुओं से भिन्न एवं अन्य ब्रह्म हो तो वह अन्तवान् हो जाएगा, अतः वह उनके अभिन्न है, अनन्य है।[19] वस्तुओं का कारण होने से वह अनन्य है, क्योंकि कारण ही सब कुछ है अतः ब्रह्म अनन्त है।[20]

समस्त जागतिक व्यापारों की सत्ता चेतना में है, उनका अवसान चेतना में है—जगतः सर्वा प्रवृत्तिः....इत्याद्या अवगतिनिष्ठा अवगत्यवसाना। अतः परमसत् चैतन्य

है। सत् चित् स्वरूप है। यदि ब्रह्म चित् स्वरूप न हो तो जगत् की दृष्ट नियमितता अनुपपन्न हो जायेगी। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में जगत् की दृष्ट नियमितता को हेतु बनाकर उसके मूल का चैतन्य या चित् होना सिद्ध किया है।[21] पुनः चेतन जीव की सत्ता निर्विवाद है-जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता:।[22] अब क्या कोई अचेतन इस चेतन जीव की आत्मा हो सकता है-"नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवति"[23], "न च चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्यते"[24]। जीव की आत्मा भला अचेतन ब्रह्म कैसे हो सकता है और वह भी उस जीव का जो कि ब्रह्म जिज्ञासा का कर्ता है.... कथं निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्य आत्मत्वेनोपदिश्येत्?[25]

जो कुछ भी सत् है वह ब्रह्म है। हमें चेतना की साक्षात् प्रतीति होती है। अब इस चेतना का ब्रह्म से कुछ सम्बन्ध होना चाहिये। पर चूँकि ब्रह्म भिन्न कुछ है ही नहीं, अतः चैतन्य को ब्रह्म का स्वरूप ही समझा जाना चाहिये। सत् जो कि ब्रह्म है, चैतन्य है।

यह चेतना शुद्ध चेतना है। विचार, भावना, इच्छा चेतन हैं, इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार चेतन हैं पर ये सब इसलिए नहीं चेतन हैं कि इनका स्वभाव ही चेतना है अपितु चैतन्य-शुद्ध चैतन्य-से सम्बन्धवश या कहें कि अध्यासवश चेतन हैं। शुद्ध चेतना प्रमातृ चैतन्य नहीं है, क्योंकि इसमें अन्दर बाहर का भेद नहीं है, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं है। बल्कि यह ज्ञान स्वरूप है जिसके ज्ञान के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह स्वयंज्योतिस्वरूप स्वप्रकाश है।

यदि ब्रह्म चैतन्यरूप न हो तो वह जड़ात्मक होगा अर्थात् ज्ञानशून्य होगा, ऐसी स्थिति में वह परिच्छिन्न हो जायेगा, अन्तवान हो जाएगा, परतन्त्र हो जायेगा। अतः ब्रह्म को चैतन्य स्वरूप होना चाहिये। उसे प्रकाशस्वरूप होना चाहिये। उसे 'अन्य' की अपेक्षा अपने प्रकाश के लिए नहीं होनी चाहिए। भामतीकार के अनुसार स्वयंप्रकाशता ही वास्तविक सत्ता है, जो अन्य प्रकाशित हो वह भला सत् कैसे हो सकता है? ब्रह्म सत् है। सत् का अर्थ विद्यमान होने से है। इस विद्यमानता का स्वरूप स्वयंप्रकाशता का ही हो सकता है जैसा कि भामतीकार का कहना है। किसी जड़ के बारे में "वह विद्यमान है-सतत् विद्यमान है" कैसे कह सकते हैं। यदि चैतन्य न हो तो सब कुछ अन्ध हो जायेगा तब तो उसकी सत्ता-असत्ता का प्रश्न ही नही उठेगा।

व्यक्ति के लिये यह संसार मात्र घटनाओं का एक प्रवाह नहीं है-एक समुच्चय मात्र नहीं है। बल्कि संसार की अनुभूति एक तरह का अर्थ रखती है। उसके लिये

संसार एक अर्थ रखता है- वह अर्थ- जिसका निर्धारण चेतन आत्मा करता है। अतः शंकर के लिये जगत् के आत्म की खोज- सार की खोज- उस प्रत्यगात्म की खोज है जो उसे अर्थ प्रदान करता है, मूल्य प्रदान करता है। अतः शंकर के लिए ब्रह्मविद्या आत्मविद्या है एवं प्रत्यगात्मा ब्रह्मविद्या का विषय[26]। वस्तुतः देखा जाए तो आत्म शब्द का प्रयोग इसीलिये हम देखते हैं कि जगत् के मूल-स्वरूप रूप में हुआ है और चेतन आत्मा के रूप में भी, क्योंकि अन्ततः स्वरूप या मूल अर्थ का स्रोत् तो चेतन आत्म ही है। अतः चेतना और अर्थ अलग-अलग नहीं हैं।

चेतना के सभी स्तरों में–प्रत्येक प्राणी में--कुछ पाने के लिये एक हलचल मची हुई है, दौड़ सी हो रही है। प्रत्येक प्राणी उस कुछ के बिना विकल है। देखा जाय तो यह विकलता या दुःख अभाववश है–सीमितताावश है। जो अपरिच्छिन्न है, व्यापक है, अनन्त है वहाँ भला दुःख कैसे होगा? ब्रह्म भूमा है, बृहत् है, अनन्त है, अतः आनन्द स्वरूप है। छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं–"यो वै भूमा महन्निरतिशयं बहु इति पर्यायास्तत्सुखम्। ततोऽर्वाक् सातिशयत्वादल्पम्। अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति। अल्पस्याधिक तृष्णाहेतुत्वात्। तृष्णा च दुःखबीजम्। ....अतो भूमैव सुखम्। तृष्णादिदुःखबीजत्वासंभवाद् भूम्नः।"[27] जो भूमा है वह सुख है और आत्मा ही सब कुछ है।[28], अतः आत्मा सुखरूप है।

ब्रह्म अद्वितीय है। द्वितीय भयास्पद है क्योंकि दूसरा हमारी सत्ता की सीमा है, हमारे लिये परिच्छेद है, हमारा अन्त है, हमारे विश्व की सीमा है–द्वितीयाद् वै भयम्। द्वितीय से यह भय हमें उसे आत्मीय बनाने को, अपना बनाने को प्रेरित करता है क्योंकि आत्मीय बनाकर हम उसे प्रिय तथा सुखकर बना लेना चाहते हैं। सुषुप्ति की अवस्था में द्वितीय का अभाव देखा जा सकता है, अतः "सुषुप्ति" में सुख का अनुभव होता है। "दूसरे" से मुक्त सुषुप्ति इसीलिये हमें प्रिय होती है। चूंकि ब्रह्म एकमात्र अद्वैत तत्त्व है, अतः वह आनन्दस्वरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में सुख के विश्लेषण पूर्वक यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आत्मा ही सर्वाधिक प्रिय है। आत्मा को ही प्रिय लगने से अन्य वस्तुयें प्रिय लगती हैं–न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।[29] पुत्र, पत्नी, पौत्र, धन आदि इसलिये प्रिय हैं कि वे आत्मा को प्रिय हैं। वस्तुतः सुख ही प्रिय लगता है और आत्मा तो सर्वाधिक प्रिय लगता है; इसलिये इतना अधिक प्रिय लगने से आत्मा निस्सन्देह सुखरूप है। तभी तो कृमि पर्यन्त सभी प्राणी का अपने आपके प्रति अनुपाधिक प्रेम होता है।[30] आत्मा की परमप्रेमास्पदता को चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में आत्मा की सुखरूपता के प्रति हेतु बनाया है।[31]

सांसारिक सुख, वैषयिक सुख किसी अन्य उद्देश्य के साधन रूप हैं, पर आत्मा किसी का साधन नहीं है। अव्यभिचारिणी प्रीति का आस्पद होने से आत्मा आनन्द रूप है–

सुखे वैषयिके प्रीति मात्रमात्मा त्वति प्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी।।[32]

अद्वैतसिद्धि में ब्रह्म के आनन्द रूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि निरूपाधिक इष्टत्व ही ब्रह्म का आनन्दत्व है–आनन्दत्वस्य निरूपाधिकेष्टरूपत्वात्।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि आनन्द ब्रह्म का गुण नहीं अपितु उसका स्वरूप है। पुनः यह दुःखाभाव रूप मात्र न हो भाव रूप है। ब्रह्म आनन्दिन् नहीं है। वह आनन्द का अनुभविता न हो आनन्द स्वरूप है। वस्तुतः देखा जाए तो स्वप्रकाश चैतन्यरूपता ही आनन्द है। चैतन्य आनन्द है। यह विषयविज्ञान है जो दुखानुविद्ध है, स्वरूपविज्ञान तो दुःख से अननुबिद्ध, नित्यतृप्त है। तभी हम समझते हैं कि क्यों **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** इस रूप में श्रुति ब्रह्म का उल्लेख करती है। शंकर कहते हैं–

विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तच्च आनन्दम्, न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्, किं तर्हि? प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः।[33]

ब्रह्म का यह स्वरूपभूत आनन्द विषयानन्द से पृथक है। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में आनन्द के स्वरूप को लोकप्रसिद्ध सुख के दृष्टान्त एवं तुलना द्वारा समझाते हुए लौकिक सुख की सीमाओं से रहित परमान्द को परमात्मा से अभिन्न, परिपूर्ण एवं स्वाभाविक बताया गया है। उस आनन्द की ही छाया या आभास-रूप मात्रा लौकिक आनन्द के रूप में प्रकट होती है।[34]

वैषयिक आनन्द अभावरूप होते हैं, जबकि ब्रह्मानन्द भावात्मक है। यह **होने** का, **सत् रूप होने** का आनन्द है। सत् ही आनन्द है। यह किसी निमित्त से अथवा अवस्था विशेष में आनन्द न हो स्वभाव से सत् रूप होने से आनन्द है। सामान्य सुख इच्छाजन्य होने से दुःखमूलक हैं, अतः इच्छाविहीन सुख मात्र **होने का-सत्ता का** सुख है। सत् मात्र होना आनन्द रूप है, जो कि सभी सुखों का आधार और निधान है। स्वस्थ होना ही वास्तविक सुख है।

सुखादि वस्तुओं का मूल्य उन वस्तुओं में न होकर आत्मा में है। यह आत्मा ही सुख है जो वस्तुओं के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। अतः आत्मा ही परममूल्य है। वही परम-पुरुषार्थ, परम निःश्रेयस है। परमसत् स्वयं अपना तर्क

है, अपना मूल्य है। उसकी अर्थवत्ता स्वयं वह है। वह समस्त अर्थवत्ता का केन्द्र है, समस्त मूल्यों का केन्द्र है। वह आत्मारूप है, सत्‌रूप है, परम निःश्रेयसरूप है, आनन्दरूप है।

सभी कुछ के परमाधार की खोज ब्रह्म तत्त्व की अवधारणा मे पर्यवसित हुई। यह परम आधार वही हो सकता है जो कहीं से व्यावृत्त न हो तथा साथ ही सभी कुछ इस अधिष्ठान द्वारा व्याख्येय हो। यदि यह तत्त्व एकाधिक हो तो व्यावृत्त हो जायेगा, सीमित हो जायेगा। इस तरह ब्रह्म अद्वैत है। ब्रह्म की अद्वितीयता का तात्पर्य तद्‌भिन्न के मिथ्यात्व से है। यह ब्रह्म ही सब कुछ है–सर्वं खल्विदं ब्रह्म। आत्म रूप ब्रह्म ही मूलतत्त्व है, अधिष्ठान है, कारण रूप है। अद्वैत मत में कारण या अधिष्ठान ही तत्त्व है, कार्य या अध्यस्त मिथ्यारूप है। यह अद्वैत ही समस्त नानात्व की कल्पना का आश्रय है। माध्यमिकों के समान यह असत् न हो सत् है, कल्पना निरास्पद नहीं है।[35] छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य एकमेवाद्वितीयम् की व्याख्या में कहते हैं कि मूल कारण अद्वय रूप है। उसे द्वितीय की–सहकारी या निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं है।[36] पुनः शंकराचार्य वहीं कहते हैं कि ब्रह्म का अद्वैतत्त्व तो उसके सत् होने से ही सिद्ध है। द्वैत सत् की अवधारणा तो स्वतोव्याघातक है।[37] बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में भी एकत्व की व्याख्या में हेतु द्वितीय का अभाव ही दिया गया है और यह द्वितीय अविद्या है जो स्वभावतः नहीं है।[38] एकमात्र आत्मा की अद्वितीयता ही वेदान्त का प्रतिपाद्य है–आत्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरम्भयन्ते।

यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी भेदों से रहित निर्विभाग अद्वैत स्वरूप है। अद्वैतवाद एकतत्त्ववाद नहीं हैं। अद्वैत प्रोक्त एकत्व संख्यावाचक नहीं है। ब्रह्म अद्वैत मत में चैतन्यस्वरूप है और चैतन्य के विषय में संख्यार्थक एकत्व या अनेकत्व कैसा? अतः ब्रह्म के एकत्व का अर्थ द्वैत और नानात्व का निषेध है, उसका अद्वैतत्त्व है। बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में कहा गया है–

"उक्त्वा सलिलवत् तस्मादेक इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।।
सजातीय निषेधो वा ह्येक शब्देन भण्यते।
सलीलोक्त्या विजातीयसम्बन्धो हि निवारितः।।
एकशब्दो न संख्यार्थः संख्येयासम्भवादिह।
अद्वितीयार्थतैवातो द्वितीयार्थनिषेधतः।।[39]

अद्वैत चिन्तन ने जिस वस्तु को परमतत्त्व के रूप में देखा उसे अनुसन्धान प्रवृत्तियों के अनुसार ब्रह्म व आत्मा नाम दिया और इन दोनों को एक ही कहा

तथा इनके स्वरूप के विषय में इसे सत् चित् आनन्द बताया, पर अन्ततः भाषा को-ज्ञान को-इसके सर्वतोभावेन वर्णन में असमर्थ पाकर इसे निर्गुण और निर्विशेष बताया।

ब्रह्म शब्द का शाब्दिक अर्थ ही है बड़ा, जिससे बड़ा कोई न हो। वह अनन्त है, विभु है और ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका अधिष्ठान वह नहीं है। अब यदि ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी भी गुण या विशेषण का विधान किया जाता है तो जैसा कि विशेषणों का स्वभाव है कि वे निषेधात्मक होते हैं, फलस्वरूप तद्भिन्न का उसमें निषेध हो जायेगा। अस्तु, ब्रह्म का भावरूपेण प्रतिपादन उसके अनन्त अपरिच्छिन्न स्वरूप से न्याय नहीं कर पायेगा, इसीलिये ब्रह्म को अरूप, निराकार, निरवयव, निर्धर्मक, निर्विशेष, निष्क्रिय तथा निर्गुण कहा गया है।[40] यहाँ यह स्पष्ट रहे कि निषेधमुख प्रतिपादनों का तात्पर्य परमतत्त्व को उन कही जाती हुई सीमित वस्तुओं की सीमा से अप्रभावित बतलाने में ही है वस्तु के निषेध में नहीं। इसीलिये निषेधमुख वाक्यों के समान ही अधिक बल से उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस कहते हुए सभी सम्भाव्य धर्म का आश्रय और अधिष्ठान भी कहा गया है किन्तु साथ ही **तद्धावतोऽन्यानत्येति** इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह कहा गया है कि जैसे आकाश सभी कुछ का आश्रय होते हुए भी किसी धर्म, गुण, वस्तु से सम्पृक्त नहीं है, वैसे ही ब्रह्म भी अखिल विश्व का अभिव्यञ्जक, आधार, अधिष्ठान होते हुए भी स्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष शुद्ध 'केवल' ही है।

शंकराचार्य के अनुसार परमतत्त्व या परमचैतन्य द्रव्यरूप नहीं है। अतः क्रिया, गुण या धर्म के आधार स्वरूप द्रव्यरूप में ब्रह्म को नहीं लेना चाहिये । ब्रह्म के इसी द्रव्यरूप स्वरूप का निषेध निर्गुण प्रतिपादक श्रुतियों का प्रमुख मन्तव्य है। सत्, चित् एवं आनन्द भी ब्रह्म के गुण धर्म रूप में प्रतिपादित नहीं किये गये हैं। इन्हें अखण्ड स्वरूप रूप से ही प्रतिपादित किया गया है। इसीलिये ब्रह्म सत्ता जाति का आश्रय होने से सत् नहीं है, ज्ञान कोई मानसिक क्रिया या गुण नहीं है जिसका आश्रय आत्मा हो, आनन्द कोई बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं प्रत्युत् ये सब अद्वय वस्तु के अभिन्न स्वरूप ही हैं। इनका उस परम तत्त्व से गुण-गुणी या धर्म-धर्मी भाव सम्बन्ध नहीं है।

यदि बह्म विषयक सगुण उक्तियों को स्वीकार किया जाएगा तो बह्म पहले तो सीमित हो जाएगा। पुनः तब उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और अनुमान की सम्भावना पर विचार किया जाने लगेगा और नास्तिवादी उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध न पाकर उसका खण्डन करने लगेंगे। इसीलिये शंकराचार्य ब्रह्म को दृष्टि का विषय न होने के कारण अदृष्ट तथा लिङ्ग रहित होने से अननुमेय, अचिन्त्य बता आत्मरूप में-प्रत्यगात्म रूप में-साक्षत् अपरोक्ष सिद्ध बताते हैं-

"यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अतएव अचिन्त्यम्। अतएवाव्यपदेश्यं शब्दैः एकात्मप्रत्ययसारम्–।"[41]

इस तरह हमने देखा कि ब्रह्म विषयक जिज्ञासा जगत् और उसके मूलाधार सम्बन्धी जिज्ञासा से प्रारम्भ होती है। अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रथम विचार "यतो वा इमानि भूतानि" से प्रारम्भ होता है, पुनः उस तत्त्व को सत् रूप, चित् रूप, आनन्द रूप बताया जाता है और अन्ततः हम **नेति नेति** पर, **निर्विशेष** पर पहुँचते हैं। वहाँ वाणी मौन हो जाती है क्योंकि वह तत्त्व स्वयं वाक् का आधार है। जिस तरह अंगुली अपने पोर को स्वयं नहीं छू सकती, दृष्टि स्वयं को देख नहीं सकती उसी तरह वाक् स्वयं अपने आधार को नहीं पकड़ सकता है। यदि पकड़ता है तो कुछ छूट जाता है। ऐसा नहीं है कि वह **निर्विशेष** प्रकट नहीं होता है, वह प्रकट तो होता है पर उसे **दिखाया** नहीं जा सकता, क्योंकि समस्त दिखना और दिखाना उसी के प्रकाश में सम्भव होता है।[42]

ब्रह्म, जगत् और ईश्वर

एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही यदि परमसत् है तो निश्चित ही वह वैसा सर्वदा और सर्वत्र दिखता नहीं। नानात्व की प्रतीति सार्वभौम है–यह नानात्व प्रतीति ही जगत् है। अद्वैत मत में जगत् को अलीक कह कर हटा दिया गया है, ऐसी बात नहीं है और न ही जगत् अद्वैत मत में स्वप्नवत् है। जगत् यहाँ सार्वजनिक है, जगत् की इस सार्वजनिक और एक समान प्रतीति की व्याख्या हेतु ही शंकर ईश्वर के प्रत्यय का प्रवेश अपने दर्शन में करते हैं। जगत् मात्र देशकाल में फैला हुआ लोक नहीं है और न ही वह शुद्ध जड़ात्मक मात्र है। जगत् में पत्थर और फूल, पक्षी और पशु, घोसलें और घर, मनुष्य और उसके द्वारा निर्मित समाज, मानवीय-विचार भावनायें, सामाजिक सम्बन्ध, ये सभी समाहित हैं। ब्रह्माण्ड की विशाल पृष्ठभूमि का भूलोक एक अंश ही हो सकता है, इसी तरह विभिन्न प्राणियों-समुदायों और यहाँ तक कि व्यक्ति का अपना-अपना लोक है। जगत् की अवधारणा में इन विभिन्न लोकों की अवधारणा निहित है।

दूसरी दृष्टि से कहें तो चेतना के–आत्म के–प्रतिरोधी रूप में प्रसिद्ध जड़ात्मिका जगत् की अवधारणा गलत है, ऐसा शंकर मानते हैं क्योंकि जगत् से तात्पर्य अभिप्रेत जगत् या सार्थक जगत् से है–ऐसे जगत् से जो मात्र प्रदत्त नहीं है अपितु (हमारे द्वारा) संरचित जगत् है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह जगत् मात्र अनात्म नहीं अपितु आत्मा और अनात्म का मिश्र रूप है। सभी जागतिक चीजें आत्म और अनात्म की इस मिश्रता से संश्रित हैं। स्वयं मनुष्य भी जागतिक है, अतः वह भी आत्म और अनात्म के सम्मिलित रूप में उपलब्ध होता है।

भारतीय दार्शनिकों की यह विशेषता है कि जगत् में वे मात्र भौतिक नियम ही नहीं देखते हैं अपितु सामाजिक, आध्यात्मिक और नैतिक व्यवस्था से युक्त विश्व की अवधारणा उनके लिये जगत् है। इस तरह के विभिन्न लोकात्मक[43] जगत् को हम परिवर्तनशील पाते हैं। जगत् शब्द का अर्थ ही है जो परिवर्तित होता हो। इसे हम नानात्व से युक्त पाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि परिवर्तनशील और नानात्मक जगत् की प्रतीति हमें होती है जबकि तत्त्व रूप में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है जो कि अद्वैतरूप और कूटस्थ है।

वस्तुतः नानात्व की यह प्रतीति ही जगत् है। एक की अनेक रूप में प्रतीति, अद्वैत का द्वैत रूप में भान ही सृष्टि है और सृष्टि विषयक समस्या का समाधान इसी प्रश्न का उत्तर है कि कैसे ब्रह्म जगत् एवं जीव रूप में भासित होता है। इस तरह एक का अनेक **होना** सृष्टि न होकर एक का अनेक **दिखना** ही अद्वैत मत में सृष्टि है और तभी हम समझते हैं कि **एक का अनेक होना** ऐसी स्थिति समझने पर अद्वैत मत के सृष्टि सम्बन्धी जो तमाम मत आते हैं वे वस्तुतः सिद्धान्त से न्याय नहीं कर पाते। वस्तुतः देखा जाए तो कोई 'नानात्व' या 'जगत्' नहीं है जिसकी सत्ता है एवं जो मूल सत्ता से जन्य है, अपितु 'नानात्व' या 'जगत्' की प्रतीति ही जगत् है। जगत् प्रतीति रूप है—इसका अर्थ इसी रूप में लेना चाहिये, इस तरह **जगत् प्रतीति** और **जगत्** अद्वैत मत में एक ही है और जगत् की प्रतीति होना ही सृष्टि होना है।

प्रश्न है यदि **सर्वंखल्विदंब्रह्म** और **एकमेवाद्वितीयं** यह स्थिति है तो नानात्व की प्रतीति ही क्यों होती है? शंकर का उत्तर है कि यह प्रतीति वस्तुतः भ्रम है जो कि अज्ञानजन्य है। अज्ञान के कारण अद्वितीय सत् की प्रतीति न हो परिच्छिन्न परिवर्तनशील जगत् की प्रतीति होती है। अविद्यावश जगत् की सीमाओं में बद्ध, कर्मफल से बँधा हुआ, जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ देहादिबद्ध जीव की प्रतीति होती है।

लेकिन यदि सब कुछ ब्रह्म है और एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है तो नानात्व की प्रतीति ही क्यों होती है? क्यों यह नानाविध जगत् प्रतीत होता है? इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि मायावश। तो प्रश्न उठता है कि माया या अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध ही क्यों है? उत्तर दिया जाता है कि वस्तुतः ब्रह्म का माया से कोई सम्बन्ध नहीं है। परमार्थतः ब्रह्म मात्र है और माया भी परमार्थतः मिथ्या है। लेकिन इससे समस्या का समाधान नहीं होता और समस्या बनी रहती है कि क्यों कर परम अद्वैत स्वरूप ब्रह्म सर्वदा प्रकाशमान नहीं होता है और द्वैत तथा नानात्व प्रतीत होते हैं? परमार्थ का व्यवहार के धरातल पर अवतरण या अद्वैत का द्वैत रूप में भान (जो कि सृष्टि है) क्यों?

कुछ अद्वैत आचार्यों ने नामरूप में प्रकटन को अद्वैत तत्त्व के प्रज्ञानघन चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप में लिया है।[44] ब्रह्म आनन्द स्वरूप है और आनन्द स्वरूपत: अभिव्यक्तिपरक होता है,[45] अत: जगत् की अभिव्यक्ति अपने चैतन्य आनन्द की और अधिक सघन अनुभूति के लिये है। इसी तरह अनन्तता[46] तथा सर्वज्ञता[47] के लिये भी परिप्रेक्ष्य रूप में इतर रूप जगत् की सृष्टि मानी गई है। यह आत्म का अनात्म में प्रवास है ताकि पुन: स्वस्थता की अनुभूति हो सके।

पर जगत् प्रतीति या सृष्टि की इस तरह की सप्रयोजनात्मक व्याख्या शांकर मत में उचित नहीं है, क्योंकि इससे ब्रह्म चैतन्य स्वरूप होने के बजाए चेतन हो जाता है तथा उसकी स्वाभाविक पूर्णता-अनन्तता-चैतन्य या आनन्द में कुछ अभाव प्रतीत होता है जिसकी पूर्ति रूप में यह विश्व है।

जगत् प्रतीति रूप है-पर किनके लिये? जगत् प्रतीति है अद्वैत चिन्तकों के लिये, मुक्त के लिये। सामान्य मनुष्य के लिये तो जगत् वास्तविक है।[48] मनुष्य स्वयं को 'जगत्' में पाता है, एसे जगत् में जिसमें उसके समान कर्ता, भोक्ता अन्य दूसरे भी जीव हैं। वह जगत् को सत्य समझ जगत् व्यापार में रत है।[49] वह विभिन्न भोगों, सुखों, लिप्साओं में लिप्त है, वह सुखान्वेषण में रत है, पर इनकी तृप्ति इन एषणाओं की व्यर्थता को ही दिखाती है क्योंकि इससे आखिर स्वयं व्यक्ति की आत्मा को क्या मिला? व्यक्ति ऐसे में स्वयं को अपने संसार से पृथक् कर देखना शुरु कर देता है। उसे प्रतीत होता है कि देहादि, इन्द्रियादि अन्ततः सुखसाधक न हो दु:खोत्पादक अधिक हैं। इस तरह जगत् की यह निरर्थकता उसमें उसके प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण बनाने को प्रेरित करती है। अद्वैत-जिज्ञासुओं के लिये जो विभिन्न साधनों से युक्त होने की बात कही गयी है, उसे इसी सन्दर्भ में समझना चाहिये।

इस तरह दार्शनिक चेतना का जन्म ही इस बोध से होता है कि जो प्रदत्त या स्वाभाविक है वह सत्य भी हो, यह आवश्यक नहीं है। यद्यपि मनुष्य स्वयं को जगत् में पाता है पर शीघ्र ही वह जगत् में अर्थ ढूढ़ने लगता है। इस प्रक्रिया में उसे समस्त जागतिक व्यापार तथा स्वयं मानवीय व्यापारों की आगन्तुकता दिखायी देती है। वह उसकी खोज में है जो सार्थक हो, अनिवार्य हो। अपने आत्म रूप में उपलब्ध चेतना को वह इसी अनिवार्य सत्ता के रूप में पाता है जो समस्त अर्थ निर्धारण का केन्द्र है। वह पाता है कि देहादि भाव युक्त चेतना होना उसकी एक आगन्तुक स्थिति है, उसकी मूल प्रामाणिक स्थिति शुद्ध चेतना की स्थिति मात्र है। इस प्रकार जगद्भावापन्नचेतना या देहेन्द्रियाधिष्ठित चेतना चेतना की मूल अवस्थिति नहीं है।

एकमात्र अद्वितीय परमब्रह्म के नानात्मक जगत् रूप में प्रतीत होने का कारण अज्ञान है। अज्ञानवश यह अद्वितीय द्वैत रूप से भासित होता है। चूँकि यह प्रतीति वैयक्तिक न होकर सार्वभौमिक है, अतः व्यक्ति इस अविद्या का हेतु नहीं है बल्कि वह तो स्वयं को 'अज्ञान' में, 'जगत्' में पाता है। नानात्मरूप जगत् या द्वैत प्रदत्त है और मनुष्य स्वयं को ऐसे जगत् में पाता है–इसीलिये व्यक्ति को मायाधीन बताया गया है। जगत् की यही प्रदत्तता या अनुभवपूर्वता यह सिद्ध करती है कि जगत् यदि अज्ञानात्मक है, भ्रम है तो यह भ्रम आननुभविक है, प्रदत्त है। भ्रम की यही सार्वभौमिकता, आननुभविकता या प्रदत्तता माया कही गयी है। यह माया कहाँ से आयी, क्यों आयी-इसका उत्तर असम्भव है क्योंकि माया की विशिष्टता ही यह है कि वह व्याख्येय नहीं है। यदि अतार्किक है तो अतार्किक क्यों है, कैसे है-इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि तब वह अतार्किक नहीं रहेगी। माया या अविद्या को अनादि भी इसीलिये कहा जाता है क्योंकि वह प्रदत्त है। माया या अज्ञान का ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है–यह प्रश्न भी गलत है, क्योंकि जब तक माया सत्य है तब तक ब्रह्म नहीं और जब माया के मिथ्यात्व का बोध होता है तो ब्रह्म ही सब कुछ होता है और माया या भ्रम कुछ नहीं रहता। जगत् को मायाजन्य कहने का तात्पर्य यह नहीं कि माया-शक्ति द्वारा जगत् कभी सृष्ट हुआ है, बल्कि जगत् की या जगत् प्रतीति रूप अज्ञान की आननुभविक प्रदत्तता से है, उसकी अनाद्यता से है। अतः न तो माया और न जगत् कभी उत्पन्न हुए हैं और न कभी इनका विनाश होने वाला है। अजातवाद मुख्य अद्वैत सिद्धान्त है। जगत् सृष्टि सम्बन्धी समस्त प्रकथनों को दृष्टान्त रूप में, उपमान रूप में लेना चाहिये।

लेकिन जगत् माया या भ्रम ही सही, इस माया या भ्रम का भी कहीं तो आश्रय होना चाहिये। आत्मन् या ब्रह्म ही वह आश्रय है। विमुक्तात्मन ने इष्टसिद्धि में कहा है कि ब्रह्म कैनवास है और उसपर अंकित जगत् चित्र माया। पर जगत् या माया के अधिष्ठान रूप में देखा जाता हुआ ब्रह्म परमब्रह्म नहीं है क्योंकि वह तो अद्वैत रूप है, वहाँ परिप्रेक्ष्य रूप में जगत् या माया नहीं है। अतः जगत् या माया के अधिष्ठान रूप में देखा जाता हुआ ब्रह्म ईश्वर है। यह ईश्वर ही वस्तुतः जगत् का स्रष्टा है, माया का जाल फैलाता है। पर जैसा कि ऊपर देख चुके हैं कि जगत् या माया परमार्थतः नहीं है, अतः जगत् या माया के अधिष्ठान रूप में देखा जाता हुआ ब्रह्म अपनी पारमार्थिक स्थिति में नहीं है। अतः सगुण ईश्वर एक तरह के अज्ञान का परिचायक है। पर इससे ईश्वरवादियों को घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति सिद्धों, मुक्तों के लिये ही है, मुमुक्षुओं और साधकों के लिये नहीं। हाँ, परमार्थतः उपासना का अद्वैत मत में कोई स्थान नहीं बनता है।

जगत् का होना एक आगन्तुक स्थिति है। अन्य ढंग का भी जगत् सम्भव था, सम्भव हो सकता है। अत: जगदाधार रूप में देखा गया ब्रह्म परम ब्रह्म नहीं है क्योंकि जगत् अनिवार्य नहीं है। जगद्कारकता ब्रह्म की अनिवार्यता नहीं है, इसीलिये ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के रूप में जगद्कारक होने की बात कही गयी है। जगद्कारणत्व उपाधि विशेष की दृष्टि से है। वस्तुत: ब्रह्म तो इन उपाधियों से अतीत है। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र-2/1/14 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:' के भाष्य में कहते है कि अविद्या रूप उपाधि से किये गये परिच्छेद की अपेक्षा से ही आत्मा में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व आदि है। वस्तुत: सर्वज्ञत्व आदि के लिये अविद्यात्मक नामरूप बीज की सर्व (जगद्) के रूप में अभिव्यक्ति की अपेक्षा है। परमार्थत: तो आत्मा उपाधिरहित शुद्ध है, उस रूप में आत्मा में ईशितृव्य, ईशितव्य आदि शब्द प्रयुक्त ही नहीं हो सकते।[50]

यदि ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अद्वय चैतन्य तत्त्व है और तद् भिन्न कुछ भी नहीं है[51] तो 'जन्माद्यस्य यत:'[52] रूप में उसका जो लक्षण दिया जाता है वह भला कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि उससे भिन्न तो कुछ भी नहीं जिसका जन्म-स्थिति और लय उसमें हो। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में ऐसी ही शंका पूर्वपक्षी के द्वारा खड़ी की है।[53] समाधान में शंकर कहते हैं कि वस्तुत: ब्रह्म तो नित्य, कूटस्थ एवम् अद्वय है, अविद्याकृत नामरूप की उपाधि की अपेक्षा से ही उसमें जगद्कर्तृत्वादि है। अत: 'जन्माद्यस्य यत:' यह परमब्रह्म का लक्षण न हो अपरब्रह्म-सगुणब्रह्म-ईश्वर का लक्षण है।

जीव एवं जगत् की अपेक्षा से ब्रह्म या परमतत्त्व का वह रूप ईश्वर है जिसमें वह जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लय, जीवों के संसरण एवं कर्मफल भोग इत्यादि से साक्षात् सम्बद्ध है, सभी कुछ का नियन्ता है, माया का अधिपति होते हुए उसका चालक है तथा उसके माध्यम से जगत्-क्रीड़ा का प्रवर्तक है। आचार्य शंकर के उपनिषद् भाष्यों के अनुसार समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के अनुरूप फल देने वाला, तीनों लोकों का स्वामी, सभी पर शासन करने वाला, प्रधान व पुरुष का नियमन करने वाला आत्मा ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपहित होकर अपनी शक्ति द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[54] वही समस्त जगत् को उत्पन्न करता है, स्थित रखता है और उसका नाश भी करता है अर्थात् प्रलय में उसे अपने में लीन कर लेता है। वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करने में कुम्भकार की तरह नहीं है जिसे कि अपने से पृथक् मृत्तिका रूप उपादान की आवश्यकता पड़ती है, अपितु केवल अपनी शक्ति को क्षुब्ध करने से वह जगत् की रचना तथा नियमन में समर्थ होता है।[55]

समस्त प्राणियों के चक्षु उस ईश्वर के ही हैं, इसी प्रकार समस्त प्राणियों के सभी अंग उसी के हैं। अपनी इच्छा मात्र से वह सर्वत्र सभी विषयों का ग्रहण कर सकता है।[56] वह सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सबका शासक-प्रेरक है, वही हिरण्यगर्भ का जनक है।[57] वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-विज्ञान स्वरूप है।

शारीरक भाष्य में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये आचार्य शंकर कहते हैं कि अनेक कर्ता व भोक्ता से युक्त, प्रतिनियत देश-काल निमित्त वाले कर्मफल के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु–अचेतन प्रधान (सांख्य मत), परमाणु (न्याय-वैशेषिक), शून्य (बौद्ध), स्वभाव (चार्वाक मत) अथवा आद्य जीव हिरण्यगर्भ–से नहीं हो सकती।[58]

इस तरह शंकराचार्य के अनुसार मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर है और अव्यक्त नाम्नी माया ईश्वर की शक्ति है।[59] माया अविद्या रूप है, समस्त नानात्व की उत्पादिका है। इस माया या अज्ञान के आश्रय रूप में देखा जाता हुआ ब्रह्म ईश्वर है। इसी से सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में कहते है कि जगत् रूपी दैत-इन्द्रजाल के उपादान कारण अज्ञान का उपाश्रयण करके ब्रह्म जगत्-कारण बनता है, तभी वह सर्वज्ञ, सर्वग, सर्वात्मा, ध्रुव, जगत् के जन्मादि का कारण और ईश्वर कहलाता है।[60]

जैसा कि हम देख चुके हैं कि जगत् की प्रदत्तता ही–उसका सर्व प्रातीतिक स्वरूप ही–अज्ञान है। अतः अज्ञान कहें अथवा नानात्वयुक्त जगत्, इनके आधार रूप में देखा जाता हुआ ब्रह्म ही ईश्वर है और चूँकि अज्ञान अथवा यह नानात्वयुक्त जगद् अन्ततः मिथ्या है, अतः जगद्कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व आदि भी अन्ततः मिथ्या है। परमार्थतः कूटस्थ नित्य निर्विभाग चैतन्य मात्र है–यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।[61] शंकराचार्य इस बात को स्पष्ट करने के लिए बार-बार श्रुति का उल्लेख करते हैं-यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्यत्।[62] परमार्थ अवस्था में समस्त व्यवहार का अभाव होता है।[63] फलस्वरूप व्यवहार का कल्पक, अधिष्ठाता ईश्वर भी व्यावहारिक ही है। परमार्थतः ब्रह्म मात्र है, ईश्वर भी पारमार्थिक नहीं है।[64] यह कि ईश्वर लोकों का-प्राणियों का स्रष्टा है, कर्मफल का अधिष्ठाता है, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः अज्ञान से ज्ञान के आवृत होने से जीव मोह में बंधते हैं। शंकराचार्य गीता के उपर्युक्त कथन का उद्धरण दे ईश्वर की पारमार्थिकता का खण्डन करते हैं।[65] शंकराचार्य वहीं आगे कहते हैं कि ईश्वर की व्यवहार दशा में स्थिति तो युक्ति और श्रुति दोनों को स्वीकार है।

एक तरह का व्यवहार और परमार्थ का भेद शांकर चिन्तन में हमेशा बना रहता है। अतः शंकर के समीक्षकों को हमेशा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शंकराचार्य कौन सी बात व्यवहार को आश्रित करके कहते हैं और कौन सी बात परमार्थ के स्तर पर। पुनः 'परमार्थ' के स्तर पर तो अखण्ड चैतन्य घन मात्र है, वहाँ 'केन कं पश्येत्' की स्थिति है। अतः 'व्यवहार' के विवेचन से ही परमार्थ तक पहुँचा जा सकता है। इसीलिये शंकर, टी0आर0वी0 मूर्ति कहते हैं, अनुभव के, व्यवहार, के विश्लेषण से तत्त्व पर पहुँचते हैं और अपने भाष्य का आरम्भ प्रतीति की-व्यवहार की-अध्यास की मीमांसा द्वारा करते हैं।[66] जगद् आदि के सृष्टि के प्रसंग द्वारा तथा भोक्ता-भोग्य की अलग-अलग सत्ता मानते हुए समुद्र-तरंग न्याय से उनका ब्रह्म से अनन्यत्व दिखाकर[67] शंकराचार्य ब्रह्मकारणवाद की स्थापना करते हैं। यदि अद्वितीय ब्रह्म जगत् का उपादान हो तो भोक्ता-भोग्य विभाग अनुपपन्न हो जाएगा-पूर्वपक्षी के इस शंका पर शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे व्यवहार में घटादि कार्य मृत्तिका से अभिन्न हैं तो भी परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही कारण से अभिन्न होने पर भी भोक्ता-भोग्य आदि प्रपञ्च का परस्पर विभाग रहेगा। इस तरह व्यवहार में एक तरह का परिणामवाद स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ब्रह्मकारणवाद की सिद्धि करते हैं और भेदयुक्त-नाना जीवों से युक्त—जगत् को ब्रह्माभिन्न बताते हैं। धार्मिक उपासना का ईश्वर ऐसा ही है।[68]

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र 2/1/13 की व्याख्या में शंकराचार्य ब्रह्मपरिणामवाद के मत को जो स्वीरकारते प्रतीत होते हैं वह 'व्यवहार' की दृष्टि से ही है। ज्योंहि हम जगदादि के कारण रूप में मूल परम् आत्म तक पहुँचते हैं, हम पाते हैं कि कारणमात्र की सत्ता वास्तविक है और कार्य मिथ्या है। एकमात्र कारण की ही सत्ता है और तद्भिन्न कुछ भी नहीं है। कार्य वाचारम्भण मात्र है। शंकराचार्य के अनुसार वेदान्त का वास्तविक मत ब्रह्मपरिणामवाद न हो ब्रह्मविवर्तवाद है, क्योंकि शांकर मत में कारण की ही सत्ता है, कार्य तो विवर्त है। कार्य को विवर्त या भ्रम मानने से ही उपनिषद् की वह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है कि कारण को जानने पर कार्य भी ज्ञात हो जाता है।[69] शंकराचार्य छान्दोग्य उपनिषद् का उद्धरण देकर कहते हैं कि श्रुति कहती है कि 'मृत्तिका' मात्र ही सत्य है—ब्रह्म मात्र ही सत्य है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है।[70] इस प्रकार 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' को वास्तविक वेदान्त मत बताया गया है।[71] अस्तु, परिणामवाद और विवर्तवाद दोनों में अन्ततः दूसरा ही वास्तविक वेदान्त का मत है। परिणामवाद 'सामान्य लोगों' को अधिक आकर्षित करता है और यह व्यवहार के लिये अधिक संगत तथा अनुकूल प्रतीत होता है, इसीलिये शंकर इसे व्यावहारिक महत्त्व प्रदान करते हैं साथ ही शंकर इसे अपनी तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचने देते हैं जहाँ इसकी विवर्तवाद

में अनिवार्य परिणति होती है। संक्षेपशारीरककार इसीलिये कहते हैं कि वेदान्त में विवर्तवाद की प्रथमावस्था परिणामवाद है, इस परिणामवाद की व्यवस्था हो जाने पर विवर्तवाद स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।[72]

ब्रह्म को जगद्कारण मानने के विरुद्ध पूर्वपक्षी ब्रह्मसूत्र 2/1/26 में आक्षेप उठाता है कि[73] ब्रह्म जगद् कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य-जगद् में परिणत होता है तब तो ब्रह्म ब्रह्म नहीं रह जाता और यदि उसका एक अंश ही कार्यरूप में परिंणत माने तब वह सावयव हो जाएगा। शंकराचार्य अगले सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि उपर्युक्त कठिनाई केवल यह दिखलाती है कि समूची सृष्टि की प्रक्रिया वास्तविक नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म या तो पूर्णतः परिणमित होता है अथवा वह सावयव है। उपनिषद् एक स्वर से कह रहे हैं कि वह कूटस्थ एवं नित्य है। यह सही है कि उपनिषद् ही ब्रह्म का जगत् कारण रूप में भी उल्लेख करते हैं पर उनका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यभाव परिपादन से होता है।

चूँकि अद्वैत मत में कारण मात्र की ही सत्ता है और कार्य मिथ्या है, कारण सदा अविकृत रहता है, नामरूपादि विकार वाचारम्भण है, इसलिये कार्य या प्रपञ्च रूप में कारण के परिणमन को मायिक ही समझना चाहिये। तत्त्व सर्वदा अद्वैत और अविकृत रहता है—तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म, अतः नामरूपादि जगत् या प्रपञ्च के सृष्टिपरक कारण के रूप में जो उसकी व्याख्या की जाती है, वह वस्तुतः उपमान मूलक ही है, लक्ष्य तो ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन है। शंकर कहते हैं कि अन्न के मूल में जल को, जल के मूल में तेज को और तेज के मूल में सत् ब्रह्म को बतलाकर वस्तुतः श्रुति समस्त सृष्टि व्यापार को ब्रह्म प्रतिपत्ति अर्थ में बतलाती है।[74] शंकर कहते हैं कि "यह सृष्टि आदि प्रपञ्च वेदान्त का प्रपिपाद्य नहीं है। प्रपञ्च से संयुक्त कोई पुरुषार्थ न सुना जाता है, न देखा जाता है, न कल्पित किया जा सकता है। उपक्रम और उपसंहार से उपनिषदों के ब्रह्मविषयक वाक्यों के साथ सृष्टिपरक वाक्यों की एकवाक्यता मालूम होती है।"[75] यदि जगत् को वस्तुतः ब्रह्म का परिणाम मान लिया जाए तथा उसे ब्रह्म से सृष्ट माना जाए तब तो ब्रह्म विकारी हो जायेगा और जागतिक नानात्व से विशिष्ट हो जायेगा। इसीलिये शंकराचार्य कहते हैं कि अविद्याकल्पित नामरूपात्मक, सद् असद् विलक्षण अनिर्वचनीय रूपभेद से ब्रह्म परिणामादि व्यवहार का आश्रय है, वस्तुतः तो वह पारमार्थिक रूप से सब व्यवहारों से अतीत और परिणामरहित है।[76] इस तरह जगत्-सृष्टि सम्बन्धी सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मात्मैकत्वभाव प्रतिपादन के लिये है। जगत् सृष्टि सम्बन्धी, परिणाम सम्बन्धी श्रुतियों का अर्थ स्वयं में न होकर

आत्मैकत्व प्रतिपत्यर्थ है।[77] परमार्थत: शांकर मत में सृष्टि का कोई स्थान नहीं है, अत: गौडपाद का अजातवाद वास्तविक अद्वैत सिद्धान्त है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, शंकर का मान्य कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त विवर्तवाद है। शंकराचार्य के अनुसार असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती और कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है, इस अर्थ में सत्कार्यवाद के द्वारा असत्कार्यवाद का खण्डन उन्हें अभिमत है। पर शंकर प्रश्न उठाते हैं कि कार्य की उत्पत्ति से क्या तात्पर्य है? यदि कार्य कारण से वस्तुत: उत्पन्न होता है और कार्य का कारण से अंशत: भी भेद है तो उस अंशत: भेद को उत्पत्ति के पहले असत् मानना होगा और तब सत्कार्यवाद की परिणति असत्कार्यवाद में हो जाएगी। यदि उत्पत्ति को वास्तविक माना जाए जब तो कारणता की समस्या को न तो सत्कार्यवाद हल कर सकता है और न असत्कार्यवाद। कार्य कारण यदि सर्वथा भिन्न हैं तो उनमें सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता और यदि अंशत: भिन्न हैं तो उस अर्थ में कार्य नितान्त नया विलक्षण हो कारण से भिन्न हो जाएगा, फलत: उनके बीच सम्बन्ध की समस्या ज्यों की त्यों रहेगी और यदि कारण कार्य को एक मान लिया जाए तो दृश्यमान उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो सकेगी। इसीलिये शंकर कहते हैं कि कार्य की वस्तुत: (वास्तविक रूप से) उत्पत्ति ही नहीं होती है, केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है। सत् अपरिवर्तनशील है और असत् अनुत्पाद्य है, अत: जो कुछ भी कार्य-कारण भाव, परिणमन या उत्पत्ति-नाश देखने में आता है, वह रज्जु-सर्प के समान अविद्याजन्य है। यही विवर्तवाद है–बिना वास्तविक परिवर्तन के परिवर्तन का आभासित होना ही विवर्त है। इस तरह शंकराचार्य अजातवाद को मानते हुए भी दृश्यमान उत्पत्ति की विवर्त रूप में व्याख्या कर कार्य-कारण सम्बन्ध की उपयुक्त व्याख्या कर लेते हैं। कार्य विवर्त मात्र है, वस्तुत: कारण मात्र की सत्ता है। ब्रह्म पूर्ण रूप से अपने स्वरूप में अवस्थित होते हुए भी अविद्यावश परिवर्तनशील जगद् के रूप में दिखायी देता है। अत: जगद् ब्रह्म का विवर्त है। इस दृष्टि से देखा जाए तो 'जन्माद्यस्य यत:' अर्थात् ब्रह्म को जो जगद् कारण कहा जाता है, यह लक्षण जगद्रूपी कार्य को विवर्त रूप लेने से परम कारण ब्रह्म पर भी लागू होता है। अत: पारम्परिक विद्वानों का यह मत कि **जन्माद्यस्य यत:** सगुण ब्रह्म या ईश्वर का लक्षण है और कूटस्थ नित्य ब्रह्म पर यह घटित नहीं होता, उचित नहीं है। शंकर के मत में जन्म आदि का–कार्य आदि का–अर्थ[78] जानते हुए भी यदि **जन्माद्यस्य यत:** इस लक्षण को परमब्रह्म के विषय में नहीं स्वीकार किया जाता है तो इसमें किसका दोष है? 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा प्रकट की गयी है उसी का लक्षण 'जन्माद्यस्य यत:' इस रूप में दिया गया है न कि किसी न्यून या अपर ब्रह्म का।[79] सारे वेदान्त ग्रन्थ

ब्रह्म को जगद् कारण के रूप में बतलाते हैं।[80] वस्तुतः समस्या तब खड़ी होती है जब हम ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में लेते हैं और कार्य जगत् को उसका परिणाम स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के परिणाम रूप जो भेद हैं, उनका भी सत्यत्व मानना होता है। ब्रह्मसूत्र 2/1/13 के भाष्य में शंकर व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा स्वीकार भी करते हैं। सगुणोपासक के लिये यह स्थिति उपयुक्त भी हो सकती है। पर शंकर कहते हैं कि परिणाममूलक श्रुतियों का अन्ततः ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादनपरक अर्थ ही लेना चाहिये। अतः व्यावहारिक दृष्टि से **परिणाम** की स्वीकृति के बावजूद शंकर कहते हैं कि अन्ततः**परिणाम**अविद्यावश ही हैं और ब्रह्म में कारणत्व को जगद्–विवर्त के अधिष्ठान अर्थ में ही लेना चाहिये। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' के भाष्य में शंकर यही कहना चाहते हैं कि जगद् को अन्ततः विवर्त रूप में लेना ही वेदान्त का परिनिष्ठित मत हो सकता है। अतः 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र को भी शंकर के कारणता सम्बन्धी वास्तविक मत के परिप्रेक्ष्य में रखने पर 'जगत् का कारण ब्रह्म है' का तात्पर्य होगा कि ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है–जगद् उसका विवर्त है।

माया, अविद्या और अध्यास

यदि तत्त्व अवाङ्.मनसगोचर विभु अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप है, तो सामान्य अनुभव में आने वाला इन्द्रियादि से ग्राह्य, देश-काल परिच्छिन्न, नानात्व से युक्त जड़ात्मिका और दुःखोत्पादक जगत् के अस्तित्व की व्याख्या कैसे होगी? इसी वैपरीत्य के प्रयोजक के रूप में मूल तत्त्व से विपरीत स्वभाव–गुण वाली किसी ऐसे वस्तु की कल्पना करनी पड़ी जिसमें वह सभी कुछ करने का सामर्थ्य हो जो कि जगत् में सम्भव हो तथा साथ ही जो मूलतत्त्व के सदृश स्थायी भी न हो। शंकराचार्य की 'माया' ऐसी ही है। शंकराचार्य ने निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म में जगत् के उत्पादकत्व की उपपादिका के रूप में अविद्या का प्रतिपादन किया, एवं उसे निखिल सृष्टवस्तु की बीजशक्ति कहा। यह बीजशक्ति अव्यक्त है। वह सद्रूप या असद्रूप, ब्रह्म से भिन्न या अभिन्न, किसी भी प्रकार निर्वचनीय नहीं है। सत्, असत् से विलक्षण ही वह भाव रूप से महासुषुप्तिरूपा है जिसमें स्वरूपज्ञानरूपी प्रतिबोध से रहित संसारी जीव सोये हुए हैं।[81] अविद्या या माया का स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का विरोधी है–इस पर बल देते हुए सुरेश्वराचार्य बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक में कहते हैं कि जड़ता, अविवेक, अन्धकार ही अविद्या है। यह अविद्या या अज्ञान ही समस्त द्वैत का उपादान कारण है। इसी की सन्निधि मात्र से ब्रह्म में जगद्कारणता आती है।[82] यह अज्ञान भावरूप है।[83] सर्वज्ञात्म कहते हैं कि बाहर जड़ता रूप से और भीतर मूढ़ता रूप से अनुभूयमान अज्ञान भावरूप ही है। चित्सुखाचार्य ने अन्धकार

की भावरूपता द्वारा अज्ञान की भावरूपता सिद्ध की है और फिर यह भावत्व कहीं अद्वैत में बाधक न हो जाए इसलिये अविद्या को अनिर्वचनीय सिद्ध किया है।[84] अनिर्वचनीय इसलिये कि सत्-असत् प्रत्येक तथा उभयप्रकार से इसका निर्वचन असम्भव है। इसलिये भी अनिर्वचनीय कि वह बाध्य है।[85] ब्रह्मज्ञान के पश्चात् अविद्या ब्रह्म में न थी, न है और न होगी—ऐसा ज्ञान होता है। मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में संक्षेप से तथा अद्वैतसिद्धि में विस्तार से अविद्या की भावरूपता दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि की सयुक्तिक व्याख्या करते हुए सिद्ध की है। अज्ञान के लक्षण को समेटते हुए वे कहते हैं—अनादि व भावरूप होते हुए ज्ञान से निवृत्त होने के योग्य होना, अविद्या है। यह अज्ञान आवरण व विक्षेप शक्ति से युक्त है। वस्तुतः अज्ञान या माया की कल्पना के मूल में दो अनुपपत्तियाँ प्रमुख थीं। प्रथम यह कि तत्त्व यदि प्रकाश या चैतन्य स्वरूप है तो वैसा ही अनुभव में क्यों नहीं आता है? दूसरा यह कि यदि वह एक है तो यह वैचित्र्यपूर्ण नानात्व कैसे दिखायी देता है? इन्हीं दोनों का समाधान करते हुए सर्वोपपादक तथा स्वयं अनुपपत्ति-विभूषित जिस अविद्या तत्त्व की कल्पना की गयी उसमें उक्त दोनों विधाओं के अनुकूल दो शक्तियाँ मानी गयीं। अज्ञान या अविद्या 'वस्तु' के स्वरूप को ढकती है और उसमें नाना अन्य वस्तुओं को उत्पन्न करती है। बृहदारण्यक भाष्य में अविद्या का सतत्त्व कहते हुए आचार्य उसके द्विविध रूप दिखाते हैं—जैसा है वैसा ग्रहण न कराना और जो नहीं है उसे उपस्थित करना। सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि अविद्या में दो शक्तियाँ आवरण तथा विक्षेप हैं जिनके द्वारा वह आत्मा को आच्छादित करती है तथा उस पर नाना विक्षेप रूप जगत् की रचना करती है।

शंकराचार्य ने माया या अविद्या इन दोनों शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग किया है। मण्डन मिश्र, वाचस्पति तथा सर्वज्ञात्म मुनि ने भी इनका पर्यायवाची रूप से प्रयोग किया है। यद्यपि बाद में अज्ञान, अविद्या, माया इन विभिन्न शब्दों में आचार्यों ने अर्थवैशिष्ट्य जोड़ दिया। सुरेश्वराचार्य ने माया को अव्यक्त व अविद्या को व्यक्त नामरूप वाला प्रत्यक्षयोग्य संसार बताया है। प्रकटार्थविवरण अज्ञान के व्यापक पक्ष को माया कहता है जिसके अन्तर्गत परिच्छिन्न अंश अविद्या है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। पञ्चदशी में 'निर्मल सत्त्वगुणप्रधान प्रकृति' को माया बताया गया है जिसमें प्रतिफलित बिम्ब चैतन्य इसे स्वाधीन करके ईश्वर बनता है तथा 'मलिन सत्वगुण प्रधान प्रकृति' को अविद्या कहा गया है जिसमें प्रतिफलित चैतन्य इसके अधीन रहता हुआ जीव है। एवंप्रकारेण हम कह सकते हैं कि प्रमेय (ब्रह्म-जगत्) के आवरण विक्षेप की दृष्टि से माया नाम प्रधान हुआ और प्रमाता (जीव) के आवरण विक्षेप की दृष्टि से अविद्या नाम प्रधान हुआ। जगत् की वस्तुपरकता, उसकी निरपेक्ष स्थिति वस्तुतः हमारी

इस धारणा के कारण है कि उसकी सत्ता का आधार हम नहीं है, अब वेदान्त के अनुसार जगद् अविद्याजन्य है, अत: यह बात हमें निर्विवाद लगती है कि यदि जगत् अज्ञानसृष्ट है तो वह हमारे व्यक्तिगत अज्ञान द्वारा सृष्ट नहीं है। हम सोलिपसिज्म से बचना चाहते हैं। वस्तुवादी विश्वास हमारी सहज-प्रवृत्ति होती है। इसीलिये हम जगत् को अज्ञानसृष्ट मानने की स्थिति में उसे महा-अज्ञान या माया द्वारा सृष्ट मान लेते हैं।

जगत् एवं जागतिक वस्तुयें हमसे पृथक् रूप से स्थित होते हुए भी शंकर के अनुसार मिथ्या हैं क्योंकि शंकराचार्य के अनुसार तत्त्व एकमात्र अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म है। नानात्व रूप प्रपञ्च 'अज्ञान' कृत है। शंकर के अनुसार एकमात्र अद्वितीय तत्त्व की ही सत्ता है, उसी के अज्ञान के कारण इस नानात्व-युक्त जगत् की सत्ता दिखायी देती है। यह **अज्ञान** आध्यात्मिक अज्ञान है, आत्मन् सम्बन्धी अज्ञान है। यह अज्ञान ब्रह्म मात्र की ही सत्ता न मान जगदादि प्रपञ्च की भी सत्ता मानना है। जबकि वस्तुत: आत्मा या ब्रह्म से पृथक् जगत् की सत्ता नही हैं। तो जिस अज्ञान से जन्य यह नानात्वयुक्त लोक है वह आत्म सम्बन्धी आध्यात्मिक अज्ञान है। यही 'अज्ञान' माया है, नाना जीव इसी अज्ञान के वशीभूत हो आत्म के विस्मृतिपूर्वक इहलोक को सत्य मान इसमें रमण करते हैं। जबकि गुरूपदिष्ट वेदान्त वाक्यों के श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा जगत् के प्रति मिथ्यात्व बोध से 'आत्म' की एकमात्र सत्ता के ज्ञान द्वारा व्यक्ति को सत्य का बोध होता है। यह जगत् वैसा ही रहेगा, पर सर्वत्र ब्रह्मात्मानुभूति होगी। अत: जगत् मिथ्यात्व का अर्थ इस जगत् के (अस्तित्व की दृष्टि से) बाध से नहीं है। यह जगत् तो जैसा है वैसा ही रहेगा, हाँ जगद् रूप में-नानात्व रूप में-इसका अस्तित्व नहीं रहेगा। ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं दिखेगा। यह 'आध्यात्मिक अज्ञान' प्रदत्त है क्योंकि सभी जीव ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान को भूल अपने-अपने स्वार्थ में निमग्न हैं, नानात्व में वे रमण करते हैं। पर 'तत्त्व-ज्ञान' द्वारा इसका बाध हो जाता है। बाध हो जाने पर तत्त्वज्ञानी के लिये जगत् रूप प्रपञ्च का भी बाध हो जाता है, उसे प्रतीत होता है कि इस जगत् की न तो कभी पहले सत्ता थी और न कभी बाद में होगी।[86] इस तरह तत्त्वज्ञान से 'आध्यात्मिक अज्ञान' का बाध हो जाने से उस अज्ञान का कोई व्यापार उसके लिये शेष नहीं रह जाता है, इस अर्थ में 'आध्यात्मिक अज्ञान' या 'माया' का बाध कहा जाता है। चूँकि जन्म से ही हमारी प्रवृत्ति नानात्वयुक्त जगत् को सत्य मानने की होती है, अत: कहा जा सकता है कि 'आध्यात्मिक अज्ञान' से मोहित ही हम पैदा होते हैं। कि हम आध्यात्मिक अज्ञान से गस्त संसार में पैदा हुए तथा इसके लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं, यह हमारी स्थितिप्रदत्तता है, पर हम इसमें रमें रहें तथा हमने इसको दूर करने का उपाय नहीं सोचा इसके

लिये हम जिम्मेदार हैं। इस तरह एक बार माया या आध्यात्मिक अज्ञान के द्वारा सृष्ट हो जाने के बाद हम उस माया या आध्यात्मिक अज्ञान के लिये जिम्मेदार हो जाते हैं क्योंकि हमने नानात्व को स्वीकार कर लिया तथा तत्त्व को खोजने का प्रयास नहीं किया।

इस अज्ञान से विशिष्ट हो ब्रह्म जगद् का कारण बनता है। अज्ञान या माया से विशिष्ट ब्रह्म, जगत् स्रष्टा या ईश्वर है। ब्रह्म-अज्ञान सर्व-संसार का बीज है, अनर्थ का मूल है, समस्त संसार का उपादान है। इस अज्ञान से मोहित हो हम देहादि को आत्म तथा आत्म को अनात्म समझने का भ्रम करते हैं। यह अज्ञान अव्यक्त है, क्योंकि आविद्यक संसारादि का यह मूल उपादान है। यह अज्ञान तथा इसका व्यापार (जगत् आदि) दोनों अनादि हैं। आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त होने का तात्पर्य यह नहीं कि अज्ञान पहले ब्रह्म को ढकती है और पश्चात् जगदादि का उसमें सृजन करती है। अपितु एकत्व का, आत्ममात्र का, न दिखना ही आवरण है तथा जगदादि नानात्व का दिखना विक्षेप है। यह जो जीव-ईश्वर-जगद् रूप हमारा व्यवहार है वह 'तत्त्व' के अज्ञान द्वारा आच्छादन से ही सम्भव होता है। इस अज्ञान के कारण परमतत्त्व जीव, जगदादि रूप में दिखता है। वस्तुतः माया अथवा आवरणविक्षेपमयी उसकी शक्ति का चित्रण इस रूप में किया गया है मानो वह कोई तत्त्व हो, शक्ति हो। माया की वस्तुनिष्ठ व्याख्या प्रथम दृष्ट्या शंकर का अभिमत प्रतीत होता है। उन्होंने अविद्या या माया को परमेश शक्ति, अव्यक्त, त्रिगुणात्मिका, सकल संसार की बीजभूत, अनादि कह कर उसे सांख्य की 'प्रकृति' के समान समस्त जडात्मक संसार का उपपादक मान लिया है। अन्तर मात्र यह प्रतीत होता है। कि सांख्य के प्रकृति के विपरीत यह माया या अविद्या चेतन ईश्वर द्वारा संचालित है, अधिष्ठित है। गीता भाष्य में अपरा प्रकृति के रूप में माया का ऐसा ही विवेचन किया गया है। वस्तुतः जगत् की वस्तुनिष्ठता भी इस मत में पर्याप्तरूपेण सुरक्षित रहती है तथा विज्ञानवाद के खण्डन का भी इस दृष्टिकोण से सामञ्जस्य किया जा सकता है। लेकिन समस्या तब खड़ी होती है जब हम ऐसी प्रकृति या माया को अज्ञानेन कल्पित घोषित कर देते हैं। इस तरह के सर्वसंसार बीज, अव्यक्त, परमेश शक्ति का बाध समझ में नहीं आता। अतः अविद्या या माया की ऐसे तत्त्व या शक्ति रूप में व्याख्या जो ईश्वर द्वारा अधिष्ठित हो तथा समस्त जगत् एवं जागतिक पदार्थों की सृष्टि करती हो, शांकर वेदान्त का मन्तव्य नहीं प्रतीत होता है। शंकर या उनके अनुयायी यदि 'जगत्' की उत्पादिका के रूप में 'माया' में सांख्य की प्रकृति के समान गुण देखते हैं तो वह एक तरह से उनके परिणामवादी विश्वासों को ही अभिव्यक्त करता है तथा दूसरा यह कि जागतिक उत्पत्ति आदि की चर्चा शंकर जिस भाषा में करते हैं उस युग की सृष्टि

सम्बन्धी चर्चा की बातें उसी भाषा में की जा सकती थीं, समझी जा सकती थीं। अत: जगत् आदि प्रपञ्च के उपपादक के रूप में कल्पित अविद्या या माया वस्तुत: **आध्यात्मिक अज्ञान** के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह अज्ञान अनुभवपूर्व प्रदत्त अज्ञान है जिससे सभी मनुष्य ग्रस्त हैं। इस अज्ञान के कारण ही एक अद्वितीय परम चैतन्य नानाविध जगत् एवं जीव रूप में भासित होता है। यह अज्ञान जिसे शंकर अविद्या या माया कहते हैं अनादि है तथा सर्वलोक प्रत्यक्ष कर्तृत्व भोक्तृत्व से युक्त जगत् की उपकल्पिका होने से भाव रूप है। अनादि होने पर भी चूँकि इसका बाध होता है, अत: यह सत् या तत्त्व नहीं है और शश-शृंग एवं ख-पुष्प के समान नितान्त असत् भी नहीं है। इसीलिये सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य के उपोद्घात में अनादि, अनन्त, मिथ्या प्रत्यय रूप, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रवर्तक, सर्वलोक प्रत्यक्ष नैसर्गिक अध्यास की बात करते हैं।[87] आत्म-अनात्म के इस अध्यास पूर्वक ही हमारा समस्त लौकिक वैदिक प्रमाण प्रमेय व्यवहार सम्भव होता है।[88] यह नैसर्गिक अध्यास अविद्या के कारण है अथवा हम कह सकते हैं कि यही अविद्या है। इस तरह आत्मा का अप्रामाणिक अस्तित्व नैसर्गिक है। आत्मा का यह अप्रामाणिक अस्तित्व परमार्थत: असम्भव होते हुए भी सर्वसिद्ध है। आत्मा की यह अप्रामाणिक अवस्था अज्ञानवश है। यह अज्ञान अनादि है, प्रदत्त है। प्रदत्त होते हुए भी यह वास्तविक (सत्) नहीं है। हम अज्ञान में ही पैदा होते हैं पर अपने 'ज्ञान' द्वारा इस 'अज्ञान' की समाप्ति कर सकते हैं। शंकराचार्य के अनुसार एकमात्र चैतन्य तत्त्व की ही सत्ता है, तथाकथित जगद्भाव मनुष्य के कारण है। यह मनुष्य मूलत: चैतन्य स्वरूप है परन्तु अनादि अज्ञान के कारण स्वयं पर देहादि भाव, आत्मेतर भाव अध्यस्त किये हुए है। जगदादि प्रपञ्च की सिद्धि के लिए चेतना का 'मनुष्य' भाव में अवच्छेद आवश्यक है। अत:वेदान्त की प्रधान समस्या जगत् की गुत्थी सुलझाने की नहीं, अपितु मनुष्य की गुत्थी सुलझाने की है। शंकर ने अध्यास-भाष्य में यही किया है और कहा है कि एक नैसर्गिक अध्यासवश मनुष्य अपने को शुद्ध आत्म के रूप में न लेकर देहादिबद्ध समझ अहमिदम् ममेदम् ऐसा व्यवहार सम्भव बनाता है। अत: जगदादि प्रपञ्च की यदि कुछ वेदान्त ग्रन्थों में मनुष्याश्रित व्याख्या की जाती है तो इसे इसी रूप में समझा जाना चाहिये। हाँ, यह प्रपञ्च व्यक्ति द्वारा रचित न हो जीव मात्र द्वारा संरचित है। एकमात्र निरवच्छिन्न चैतन्य में अविद्या के कारण विभिन्न गुण्ठन उत्पन्न होता है जिसके कारण नाना जीवादि सृजित होते हैं। अविद्या के बाध के बाद जगत् जैसा है वैसा ही रहेगा केवल आत्मेतर रूप में उसका बोध नहीं होगा। जीवन्मुक्ति को इसीलिये जगत् की वस्तुनिष्ठता के प्रति आग्रहवान् लोग स्वीकार नहीं करते हैं। पर शंकराचार्य स्पष्टतया जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। जीवन में मुक्ति

तभी सम्भव है जब हम यह मानें कि मुक्ति का अर्थ जगद् के रहने पर भी जगद्भाव न रहना है, क्योंकि मुक्ति के बाद जगद् नहीं रहता है—ऐसी बात नहीं है, बल्कि जो चीज नहीं रहती है वह जगद्भाव है। अतः जगत् के अस्तित्व की समस्या और तत्विषयक प्रश्न कि वह कहाँ से आया एवं कैसे आया गलत है। वास्तविक प्रश्न जगद्भाव का है, जो अवश्य समाधेय है, क्योंकि जगद्भाव के कारण ही जगद् है। यह जगद्भाव शंकर के अनुसार एक अनादि भ्रम है। शुद्ध जडात्मिका जगत् के सम्बन्ध में न तो बन्धन और न मोक्ष का प्रश्न है। नाना जीवों की सत्ता इस दृष्टि से अधिक समस्याप्रद है क्योंकि नाना जीवों की समस्या से ही जगद्भावापन्नता की व्याख्या हो पायेगी। अतः अन्ततः वेदान्तीय ब्रह्म कैसे नाना जीवों में प्रकट होता है, वेदान्त की असली समस्या यही है। ब्रह्म की जीवभावापन्नता ही असली समस्या है क्योंकि यही जगदादि भाव का मूल है। यह जीवभावापन्नता अनादि है, अध्यास है। परमार्थतः यह जीवभावापन्नता मिथ्या है। अविद्या या व्यवहार के क्षेत्र में ही यह जीवभाव और तन्मूलक जगद्भाव है। तत्त्व तो एकमात्र परमचैतन्य ब्रह्म है।

इस तरह हम देखते हैं कि सारा का सारा जगत् प्रपञ्च जीवाश्रित हो जाता है। चेतन मनुष्य के परिप्रेक्ष्य में ही जगत् अर्थान्वित होता है, अन्यथा जगदान्ध प्रसंग प्रसक्त होगा। इस दृष्टि से मनुष्य जगत् का सर्जक है क्योंकि जगत् जगद्भाव से पृथक् कुछ नहीं और जगद्भाव एक चेतन ज्ञाता की पूर्वापेक्षा रखता है। नानात्व और द्वैत अन्ततः मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं और इस मिथ्यादृष्टि का आश्रय बनता है मनुष्य। यह मनुष्य का अज्ञान है जिसके कारण यह नाना प्रपञ्च है।, अतः वेदान्त की मूल समस्या निर्विशेष निरूपाधिक परम चैतन्य का 'नाना' जीवों या 'मनुष्यों' के रूप में प्रतीत होना है। यदि तत्त्व एकमात्र अद्वितीय प्रज्ञानघन चैतन्यमात्र है तो सर्वप्रत्यक्षसिद्ध नाना मनुष्यों की सत्ता कैसे? मनुष्य के स्वरूप और उसकी नियति की व्याख्या करना ही समस्त वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है।

जीव या मनुष्य

सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि शंकर ने अपनी रचनाओं में यद्यपि जीव शब्द का प्रयोग किया है फिर भी जीव से तात्पर्य मनुष्य से ही लेना चाहिये क्योंकि अन्तःकरण से अवच्छिन्नता मनुष्य पर ही लागू होती है और कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा प्रमातृत्व प्रभृति धर्म भी मनुष्य के ही हैं तथा शास्त्रोक्त विधि-निषेध उसी के प्रति है एवं समस्त वेदान्त शास्त्र की प्रयोजनवत्ता भी मनुष्य के मोक्ष के निमित्त ही है।

परमार्थतः यह मनुष्य ब्रह्म स्वरूप है, फलतः वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि उसमें स्वभावतः नहीं है। वह असंग है। लेकिन मनुष्य का यह स्वरूप पारमार्थिक दृष्टि से है। व्यवहार में जो मनुष्य दिखता है वह देह-इन्द्रिय से आवेष्ठित अन्तःकरण युक्त है। वह विभिन्न कर्मों का कर्त्ता और फलों का भोक्ता है। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र भाष्य में जीव की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि वह आत्मा जो शरीर और इद्रियरूपी पञ्जर का स्वामी है तथा कर्म फल का सम्बन्धी है, वही जीव है।[89] अन्तःकरण अर्थात् मन एवं बुद्धि से अवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है। अथवा और मूल में कहें तो अविद्योपहित चैतन्य ही जीव है। चूँकि यह मनुष्य अपने देहादि से बद्ध है, अतः वह परिमित शक्ति एवं ज्ञान वाला है। वह राग-द्वेष आदि वासनाओं से ग्रस्त है। क्योंकि वह विज्ञानमय है[90] और विज्ञानमय का अर्थ बुद्धिमयत्व से है, अतः बुद्धि के धर्म इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, आदि से मनुष्य युक्त रहता है। यह मनुष्य कर्ता, भोक्ता, धर्माधर्म का साधन, सुख दुःखादि से युक्त है।[91] मुण्डकोपनिषद् में मनुष्य की तुलना उस पक्षी से की गयी है जो फलों का स्वाद लेने में निमग्न है।[92] इस प्रकार मनुष्य का जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूप संसारित्व बतलाया गया है, क्या वह उसका स्वाभाविक धर्म है जिस प्रकार अग्नि का धर्म उष्णता और दाहकता है, यह प्रश्न सहज ही उठता है। स्वयं शंकर ने यह प्रश्न उठाया है।[93] शंकर ने वहीं 'तक्षादि प्रकरण' में इसका उत्तर देते हुए कहा है कि यह जो कर्तृत्व है वह स्वाभाविक नहीं है।[94] यदि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मनुष्य का स्वाभाविक धर्म हो तब तो उससे मुक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती फलस्वरूप मोक्ष सम्भव ही नहीं होगा। पुनः यह कर्तृत्व स्वभावेन दुःखरूप है और लोक में दुःख अमिश्र सुख की प्राप्ति असम्भव है। अतः दुःखों के बाध रूप मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है जब यह माना जाए कि मनुष्य का कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि स्वाभाविक धर्म नहीं है। अतः शंकराचार्य कहते हैं कि जीव में जो यह कर्तृत्व दिखता है वह उपाधि धर्म के अध्यास से ही है, स्वाभाविक नहीं है।[95] शंकराचार्य बढ़ई का उदाहरण देते हुए कहते हैं[96] कि जैसे लोक में बढ़ई बसुला आदि करण से युक्त होता हुआ काम करते हुए श्रान्त होता है और अपने घर वापस आकर उन वसुला आदि से मुक्त होकर स्वस्थ, शान्त, व्यापार-शून्य और सुखी होता है, वैसे ही अविद्या से प्रत्युपस्थापित द्वैत से सम्पृक्त आत्मा स्वप्न और जाग्रत अवस्था में कर्ता होकर दुःखी होता है, वही आत्मा उस श्रम की निवृत्ति के लिये सुषुप्ति में कार्य-करण संघात से मुक्त होता हुआ अकर्ता होकर सम्प्रसन्न होता है और मुक्ति दशा में तो अविद्या से भी छूटकर परम सुखी होता है। शंकर आगे कहते हैं कि जिस प्रकार बढ़ई वसुला आदि करणों की अपेक्षा से ही तक्षण करता हुआ तक्ष (बढ़ई) होता है स्वशरीरेण तो वह अकर्ता ही है, वैसे ही आत्मा

समस्त व्यापारों में मन आदि करणों की अपेक्षा से ही कर्ता होता है स्वरूपतः तो वह अकर्ता ही है।[97]

इस तरह मनुष्य की आत्मा स्वरूपतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है। शंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा तो अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी व नित्य मुक्त है। उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि रूप संसारित्व बुद्धिरूप उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही है।[98] यह मनुष्य 'विज्ञानमय' होने से तद्‌गुण सार (प्रधान) है। बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष आदि सार हैं जिसका ऐसा संसारित्व अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप संसारित्व वस्तुतः बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से ही है। बुद्धिरूप उपाधि से संयोग ही 'आत्मा' का 'मनुष्य' रूप में अवगमन है। बुद्धिरूप उपाधि से सम्बन्ध ही आत्मा का संसारित्व है। परमार्थतः तो वह नित्य शुद्ध मुक्त है। यह बुद्धिरूप उपाधि से सम्बन्ध जब तक है तभी तक जीवत्व है, सांसारित्व है। वास्तव में तो बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से अतिरिक्त कोई जीव वस्तु है ही नहीं।[99]

आत्मा का यह जो बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है वह मिथ्याज्ञान पुरस्सर है।[100] हम कह सकते हैं कि जीवत्व या संसारित्व अविद्याप्रत्युपस्थापित है। मनुष्य परमार्थतः आत्म स्वरूप है, अविद्यावश वह शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि से अपना तादात्म्य किये हुए है और अपने आप पर इन देहादि धर्मों का अध्यास किये हुये है। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्‌घात में कहते हैं–

"मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं गोरा हूँ, खड़ा हूँ, जाता हूँ, लाघँता हूँ इत्यादि देहधर्मों का आत्मा में अध्यास होता है, इसी तरह मैं काना हूँ-अन्धा हूँ-नपुंसक हूँ-बहरा हूँ इस प्रकार इन्द्रिय धर्मों का अभ्यास होता है। इसी तरह इच्छा, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का अध्यास होता है।" शंकराचार्य आगे कहते हैं कि "अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी रूप आत्म में तथा इसके विपरीत साक्षी का अन्तःकरणादि में अध्यास करने से ही यह अनादि अनन्त नैसर्गिक मिथ्या प्रत्यय रूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप सर्वलोक प्रत्यक्ष व्यवहार सम्भव होता है।"

इस तरह हम दखते हैं कि शंकर जागतिक व्यवहार की व्याख्या 'अध्यास' द्वारा करते हैं। अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी रूप आत्म में तथा इसके विपरीत साक्षी का अन्तःकरणादि में अध्यास करने से ही यह अनादि, असीम, नैसर्गिक, मिथ्या प्रत्यक्ष रूप, कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यवहार सम्भव होता है। शंकराचार्य अपने भाष्य का आरम्भ ही अध्यास-भाष्य द्वारा करते हैं। 'अध्यास' की सिद्धि

द्वारा वह जगद् व्यवहार तथा जीवभाव की व्याख्या कर पाते हैं। यदि सब कुछ अद्वितीय परमतत्त्व ही है तो कर्ता, भोक्ता और सुख-दु:खों से बद्ध नाना जीवात्मा कैसे? और यदि इस तरह का मनुष्य नहीं, तो बन्धन, मुक्ति और तत्परक शास्त्र कैसा? अत: शंकराचार्य शुरु में ही कह देते हैं कि विषय एवं विषयी, अनात्म एवम् आत्म अन्धकार-प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, इसलिये उनके धर्मों का तादात्म्य (इतरेतर भाव) अनुपपन्न है। अस्मत् प्रत्यय के विषय चैतन्य रूप आत्म तथा युस्मत् प्रत्यय के विषय अनात्म, जड़ या देह का परस्पर एक दूसरे पर आरोप नहीं हो सकता है और यदि वह होता है तो वह मिथ्या है। इस तरह का आरोप–अतस्मिन्तद्बुद्धि:–ही अध्यास है। जहाँ जो नहीं है उसमें उसका, अन्य में अन्य के धर्म का अवभास अध्यास है। इस प्रकार यद्यपि विषय एवं विषयी नितान्त विरुद्ध धर्म वाले हैं, उनके धर्म भी परस्पर नितान्त विरुद्ध हैं फिर भी मिथ्याज्ञानवश हम इनके धर्मों का एक दूसरे पर आरोप करते हैं और सत्य-असत्य का सम्मिश्रण कर अहमिदम् या ममेदम् इस तरह का नैसर्गिक व्यवहार करते हैं।

शंकराचार्य अध्यास को नैसर्गिक बताकर यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य का मनुष्यत्व, संसारित्व या जीवत्व नैसर्गिक है, अनादि है, प्रदत्त है। यह जीवभाव सर्वव्यापक है। सभी लोग इस अनादि अध्यास से ग्रस्त हैं। हमारा यह अध्यास युक्त व्यवहार जन्मजात है, हम इसे जन्मना ग्रहण किये हुए हैं। पुन: यह लोकव्यवहार 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य' है। अर्थात् हमारा समस्त व्यवहार अध्यासपूर्वक भले ही हो, लेकिन इस अध्यास में भी सब कुछ नितान्त अनृत नहीं हैं। अर्थात् समस्त अध्यास का आधार कुछ न कुछ 'सत्य' है। अध्यास सत्य-असत्य का सम्मिश्रण होता है। अहम् या विषयी सत्य है तथा इदम् या विषय असत्य है।

'सत्यानृते मिथुनीकृत्य' कह कर शंकराचार्य अहमिदम् इस नैसर्गिक व्यवहार को सम्भव बनाते हैं। अत: 'मैं यह हूँ' इस व्यवहार का आस्पद मनुष्य या जीव संघटना की दृष्टि से मिश्र वस्तु है, विशुद्ध नहीं। मनुष्य का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि जो रूप है वह सत्य नहीं है, इसके विपरीत उसका साक्षि-चेतन, केवल, असंग एवं अकर्तृत्वपरक जो रूप है वही वास्तविक है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो प्रत्यगात्मा या साक्षित्व ही उसका वास्तविक रूप है, अन्त:करणादि से युक्त जो उसका स्वरूप है वह वास्तविक नहीं है। अनादि अविद्यावश वह अपने वास्तविक प्रत्यगात्मा में अन्त:करणादि के धर्मों का अध्यास किये हुए है। इस अध्यास का कारण क्या है? शंकराचार्य के अनुसार अनादि अविद्या या मिथ्या ज्ञान के कारण ही यह अध्यास है। शंकराचार्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने

वास्तविक स्वरूप में ब्रह्म ही है, किन्तु अनादि अविद्या के कारण वह अपना तादात्म्य मायारचित मनस् आदि से करता है तथा अपने को एक सीमित व्यक्ति मानता है। वह अपने को कर्ता और भोक्ता मान शुभ व अशुभ कार्य करता है।[101] इसी से वह सांसारिक बन्धन में पड़ता है और देहादि के दु:खों से स्वयं को दु:खी समझता है।[102] इस प्रकार उसकी अविद्या अथवा अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान विश्व का कारण बनता है।[103] यही विश्व में उसके बन्धन का कारण बनता है। यह बन्धन तब तक रहता है जब तक अविद्या के कारण मनस् आदि उपाधियों से अपना तादात्म्य बना रहता है। मूलतत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है। परमब्रह्म से अतिरिक्त कोई कर्ता, भोक्ता रूप जीव नहीं है।[104] ब्रह्म ही 'अविद्या' वश जीव रूप में भासित होता है। जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है—जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म।[105] अत: अविद्या के निरसन से जीवभाव तथा जीव का दु:खादि रूप बन्धन, जो कि अविद्यावशात् है,[106] दूर हो जाता है और ब्रह्म मात्र ही रह जाता है।[107]

ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शांकर वेदान्त की परम्परा में विभिन्न मत प्रचलित हैं—अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, अभासवाद आदि। अवच्छेदवाद के अनुसार अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीवात्मा है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव शुद्ध चैतन्य का अविद्या या बुद्धि में प्रतिबिम्ब है तथा आभासवाद के अनुसार जीव बह्म का आभास है। विषय के अनावश्यक विस्तार के कारण इन विभिन्न मतों के बीच विवाद में जाना अनावश्यक है। वैसे विवाद का एक प्रमुख कारण दृष्टान्त को अक्षरश: लेने से है। स्वयं शंकराचार्य इस बात की गम्भीरता को देखते हुए कहते हैं कि विवक्षितांश को ही लेकर दृष्टान्त को समझना चाहिये। दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में विवक्षितांश के अतिरिक्त सर्वाङ्ग सादृश्य हो, थोड़ा भी अन्तर न हो, ऐसी बात नहीं है।[108] अत: जीव को प्रतिबिम्ब रूप लें अथवा आभासरूप में या अवच्छिन्न रूप में, सब का तात्पर्य यही है कि एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है और वही अविद्यावश नाना जीवों के रूप में अहं प्रतीति का विषय बनता है। जीवों में जो अनेकत्व, परिच्छिन्नत्व, अल्पत्व, अशक्तत्व है वह अविद्यावशात् ही है, उपाधि रूप से ही है, वस्तुत: वह शुद्ध अविकृत ब्रह्म है। शंकराचार्य 'आभास एव च' सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि जल में सूर्य की प्रतिच्छवि के समान जीव परमात्मा का आभास है। यह जलगत आभास या छाया न तो सूर्य है, न कोई अन्य वस्तु। जिस तरह एक जलाशय के जल के हिलने पर उसी में प्रतिफलित सूर्य हिलता प्रतीत होता है, न कि अन्य जलाशय में आभासित सूर्य, वैसे ही एक जीव के कर्मफल से सम्बन्धित होने पर दूसरे जीव का उसी कर्मफल से सम्बन्ध नहीं होता। यह आभास अविद्याकृत है,[109] अत: आभास पर आश्रित संसरण भी अविद्याकृत है। उपनिषद् में "योऽयं विज्ञानमय:"[110] वाक्य में जीव

का स्वरूप बताया गया है। वहाँ बुद्धिमयत्व से तद्गुणसारत्व अभिप्रेत है। अर्थात् बुद्धिगत धर्म ही जीव धर्म है।[111] जब तक बुद्धि है तभी तक जीव है, संसारी मनुष्य है जैसे जब तक जल में कम्पन है तभी तक जलसूर्यक में भी कम्पन्न है। इस प्रकार बुद्धि रूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से ही जीव पदार्थ की सत्ता है अन्यथा जीव ही नहीं है।[112] जलसूर्यक और जीव के दृष्टान्त में विवक्षित सारूप्य है वृद्धि व ह्रास आदि का भागी होना। जल में स्थित सूर्यादि का आभास जल के सभी धर्मों का अनुयायी होता है। जल के हिलने पर हिलता है। (अलग-अलग पात्रों में रखा होने पर) जल के भिन्न होने पर आभास भी भिन्न-भिन्न होता है, जल न रहने पर आभास भी नहीं रहता, किन्तु वास्तविक सूर्य में उसके आभास की गतिविधियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार परमार्थतः अविकृत ही रहता हुआ ब्रह्म देहादि उपाधियों के अन्तर्भाव से इन उपाधियों के धर्मों को प्राप्त सा होता है।[113]

छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य में भी जीव का स्वरूप आभास मात्र बतलाते हुए आयार्य ने प्रतिबिम्ब और आभास का समान अर्थ लिया है। आभास का कारण आचार्य ने वहाँ बुद्धि आदि भूतमात्राओं (अविद्याकार्यों) का संसर्ग (उनमें चैतन्याभास) कहा है, फिर उसका भी निमित्त स्वरूप-विवेक का अग्रहण बताया है। इस आभास से ही सुखित्व-दुखित्व आदि अनेकों विकल्प की प्रतीति होती है।[114]

भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त जलसूर्यक के दृष्टान्त को ही आधार बनाकर विवरणकार तथा उनके अनुयायियों ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप माना तथा बताया कि जैसे दर्पण का मुख स्वयं अपना ही मुख होता है वैसे ही प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव बिम्ब स्थानीय ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म वस्तुतः एक ही हैं। ऐतरेय उपनिषद् भाष्य में स्वयं शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य जल भेद से विभिन्न रूपों से अवभासित होता है वैसे ही एक ही आत्मा विविध उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर हिरण्यगर्भ, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि रूपों में अवभासित होता है।[115]

इसके अतिरिक्त शंकराचार्य ने जीव एवं ब्रह्म के औपाधिक भेद के प्रदर्शन के लिये घटाकाश आदि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है जिसके आधार पर वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद का सिद्धान्त विकसित किया। शंकर ने देहेन्द्रियमनोबुद्धि अवछिन्न आत्मा को जीव कहा है। उनका कथन है कि जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घटकरकादि उपाधियों के कारण परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न आत्मा देहादि रूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न सा प्रतीत होता है। अन्तर्याम्यधिकरण भाष्य में शंकर कहते हैं कि जीव एवम् अन्तर्यामी के

भेद का व्यपदेश अविद्याप्रत्युपस्थापित कार्यकारणोपाधि के कारण है, परमार्थतः नहीं। एक ही प्रत्यगात्मा का उपाधिकृत भेद से घटाकाश एवं महाकाश के समान भेद व्यवहार होता है।[116] आत्माधिकरण भाष्य में वे कहते हैं कि आत्मा के विभाग का प्रतिमान बुद्धि आदि उपाधियों के निमित्त है, यथा आकाश का भेद प्रतिमान घटादि सम्बन्ध के कारण होता है।[117] विवेकचूड़ामणि में आचार्य कहते हैं कि अन्तःकरण रूप उपाधि के नष्ट होने पर घटाकाश रूप जीव महाकाश रूप ब्रह्म में विलीन हो जाता है।[118] भाष्यकार के इन अवच्छेद परक उद्धरणों को आधार मानकर वाचस्पति मिश्र भामती के आरम्भ में ही प्रश्न उठाते हैं कि श्रुति, स्मृति आदि शास्त्र एक स्वर से तत्त्व को एक अद्वितीय अनन्त आनन्द स्वरूप चैतन्यैकरस, सभी उपाधियों से अनवच्छिन्न (असीम) रूप में बताते हैं; यह आत्मतत्त्व तो हमारे स्वयं के अनुभव (अहमनुभव) में प्रकाशित नहीं होता कारण कि यह अहमनुभव अत्यन्त सीमित (प्रादेशिक, देश-विशेष में अवस्थित) अनेकविध शोकादि से उपप्लुत स्वयं को विषय करता है जबकि श्रुति एक स्वर से कहती है कि हमारा यह 'स्वयं' वह परमतत्त्व ही है। इस तथ्य और प्रतीति के विरोध का समाधान भला कैसे हो? भामतीकार कहते हैं कि अविद्या द्वारा कल्पित विभिन्न अवच्छेद (सीमाओं) के कारण ही ऐसा होता है। वाचस्पति कहते हैं[119] "अनादि अविद्या द्वारा कल्पित सूक्ष्मबुद्धि, मन, स्थूल शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा किये गये अवच्छेद से, अनवच्छिन्न (असीम) भी तत्त्व अवच्छिन्न (सीमित) की तरह, एक व अभिन्न होते हुए भी भेदयुक्त (नाना) की तरह, निष्क्रिय एवं असंग होते हुए भी कर्ता एवं भोक्ता की तरह, किसी का विषय न होते हुए भी 'मैं' प्रतीति के विषय की तरह जाना जा रहा है। जैसे वस्तुतः सीमा से असंस्पृष्ट भी आकाश घड़े, सकोरे या अन्य पात्रों या कक्ष-भित्तियों से घिरा होने पर उन-उन सीमाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उन-उन सीमाओं के अनुरूप अनेक विध गुण धर्मों वाला प्रतीत होता है।" उक्त अवच्छेद रूप उपाधि से कलुषित जैसा हुआ ब्रह्म का रूप ही जीव है।

यह जीव एक है अथवा अनेक, इस सम्बन्ध में अद्वैत परम्परा में मुख्यतः दो मत मिलते हैं—एकजीववाद का और अनेक जीववाद का। इन दोनों मतों के विवाद में न जाकर मात्र शंकर के पक्ष को दखा जाए तो वे स्पष्टतः अनेकजीववादी प्रतीत होते हैं। यद्यपि उन्होंने शारीरक भाष्य में जीव विषयक विचार के सभी स्थलों पर 'जीव' शब्द एकवचन में ही लिया है, किन्तु एकजीववाद में पोषित एक-जीवत्व-सिद्धान्त के प्रति आग्रह एवं जीवनानात्व की अस्वीकृति का प्रतिस्थापक कोई कथन वहाँ नहीं है। वहाँ जीव के अनेकत्व-एकत्व के सम्बन्ध में पृथक् रूप से विचार न कर प्राप्त जीवत्व के स्वरूप-विचार में ही समस्त विचार का

ध्येय केन्द्रित किया गया है। तथापि 'जन्माद्यस्य यतः' के भाष्य में[120] संसार का स्वरूप बताते हुए शंकर उसे अनेक कर्ता एवं भोक्ता से युक्त बताते हैं। इस अनेक कर्ता आदि का व्याख्यान टीकाओं में अनेक जीव रूप से ही किया गया है। उनके मत में जीवों की अनेकता इससे भी सिद्ध होती है कि वे मन:शारीरिक अवयव-संस्थान को जीव की उपाधि मानते हैं। इस संस्थान में शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन सम्मिलित हैं। उपाधियों की अनेकता एक स्पष्ट तथ्य है। इन्हीं उपाधियों के कारण जीव भी अनेक हैं। यदि जीव अनेक न हों तो अपने कर्मो के फलभोग की इच्छा रखने वाले जीवों एवं मुक्ति परायण जीवों में भेद करना सम्भव नहीं होगा। एक ही समय में एक व्यक्ति मुक्ति की कामना करने वाला और अपने कर्मफलों को भोगने की इच्छा रखने वाला नहीं हो सकता।[121]

यद्यपि शंकर पारमार्थिक दृष्टि से जीवों की अनेकता नहीं स्वीकार करते, किन्तु बह एक भिन्न बात है क्योकि परमार्थतः जीव है ही नहीं,[122] फलतः जीव अनेकत्व का उस स्थिति में प्रश्न ही नही उठता। जीव का अस्तित्व व्यवहार में आने वाला तथ्य है, उसी प्रकार जीव-अनेकत्व भी व्यावहारिक तथ्य है। व्यवहार की दृष्टि से अन्य 'नानात्व' के समान जीव-अस्तित्व और जीव-नानात्व भी एक तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता। जीवन्मुक्ति की धारणा वेदान्त की मौलिक अवधारणा है एवं इसकी संगति अनेकजीववाद में ही बैठ सकती है। इसके बावजूद गौडपाद, भाष्यकार, वार्तिकार, मण्डन व वाचस्पति प्रस्थानी आचार्यों को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने एकजीववाद का ही समर्थन किया है। एक जीववाद का सिद्धान्त मानना वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के लिये आवश्यक नहीं है क्योंकि (1) एक ही जीव को अनेकों शरीरों में अधिष्ठित मानना अथवा (2) एक को वास्तविक तथा अन्य को जीवाभास मानना एक क्लिष्ट कल्पना है। जहाँ तक एकजीववाद से तात्पर्य एकआत्मवाद से है तो उसे तो अनेकजीववादी भी स्वीकार करते हैं। एकजीववाद के विरूद्ध जो सबसे प्रमुख तर्क है वह यह कि यह मत नाना जीवों को स्वप्न के प्रतिभास तक सीमित कर **विषय** मान लेता है और उनकी **विषयिता** को नकारता है।

यदि आत्मा की देहापन्नता ही मनुष्य का बन्धन है तो मृत्यु में देहनाश होने से मुक्ति प्रसक्त होगी, इसीलिये वेदान्त में स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्मादि शरीर की कल्पना की गयी है और बताया गया है कि मृत्यु के बाद भी जीव इस सूक्ष्म शरीर से बद्ध रहता है। शांकर वेदान्त में शरीर का प्रत्यय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि स्थूल शरीर से भिन्न अन्य शरीरों की कल्पना दर्शन जगत् को उसकी अनूठी देन है। विभिन्न शरीरों की अवधारणा द्वारा चेतना एवं विषयिता के विभिन्न

स्तरों की कल्पना को परिपुष्ट किया गया है। 'शरीर' का अर्थ वेदान्त में मात्र स्थूलशरीर से ही नहीं है और न चेतना की उपलब्धि मात्र इसी स्थूलशरीर के स्तर पर होती है। जाग्रतावस्था मात्र ही चेतना की उपलब्धि की अवस्था नहीं है, बल्कि अन्य अवस्थायें भी हैं। अस्तु, पंचकोश, त्रिविध अवस्था तथा शरीरत्रय की अवधारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है जिसके बिना अद्वैतपरक 'चैतन्य' के स्वरूप का व्याख्यान नहीं हो सकता। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि यह भी ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादन का एक तरीका मात्र है। शंकराचार्य तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य में कहते हैं कि पुरुष की बुद्धि बाह्य आकार विशिष्ट अनात्म पदार्थों में आत्म भावना दृढ़ किये हुये है। यह किसी विशेष (स्थूल, बुद्धिग्राह्य) आलम्बन के सहारा बिना सबसे अन्तरतम प्रत्यगात्मा को नहीं जान सकती एवं निरालम्बना होकर निराकार वस्तुतत्त्व के ग्रहण में समर्थ नहीं हो सकती, इसीलिये शाखाचन्द्र न्याय से क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर आलम्बन लेती हुई अभीष्ट तत्त्व पर्यन्त पहुँचती है।

शरीर शब्द का शाब्दिक अर्थ है शीर्ण होने वाला। शरीर को देह अथवा काय भी कहते हैं जिसका अर्थ है (अनात्म वस्तुओं का) समुच्चय। शरीर एवं आत्म का सम्बन्ध 'मशीन में स्थित प्रेत' का सम्बन्ध नहीं है। शरीर के किसी स्थान विशेष में आत्मा नहीं रहता, यह तो सर्वव्यापी है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता हुआ उसके प्रति आत्म-बुद्धि रखता है जो कि वस्तुतः एक अध्यास है। शरीर का एक नाम विग्रह है अर्थात् जिसका विशेष रूप से ग्रहण आत्म द्वारा हो। यों तो आत्मा सर्वत्र व्याप्त है परन्तु शरीर का वह विशेष रूप से ग्रहण करता है, इस अर्थ में 'शरीर' अन्य भौतिक वस्तुओं से भिन्न है क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्याप्त होने पर भी उसमें विशेष तादात्म्य या अपनत्व रखता है।

शंकर के अनुसार शरीर वस्तुतः आच्छादन है, यह आत्मा का आच्छादन करता है। आच्छादन के रूप में शरीर से भी प्राचीन अवधारणा 'कोश' की है। 'कोश' शब्द का वाच्य अर्थ है रेशम के कीड़े द्वारा अपने आपको लपेटते हुए बनाया गया सूत (धागे) का घर। उसी के समान अविद्या-सन्निहित आत्मा को ढक लेने वाले आविद्यक रूपों को कोश कहा गया है। इस सम्बन्ध में अद्वैत मत में पंचकोशों की विशद चर्चा की गयी है और परमचैतन्य को इन पाँचों कोशों से अतीत बताया गया है।

जैसा कि मनुष्य को हम उसके सामान्य अवस्था में देखते हैं, उसका एक स्थूल शरीर होता है जो अन्न-रसादि से पोषित एवं वर्धित होता है। उसका यह शरीर स्थूल -अतिस्पष्ट-भोग का आधारस्तम्भ है तथा इसके द्वारा विभिन्न विषयों

की उपलब्धि होती है एवं सुख-दु:ख का भोग होता है। इस स्थूल शरीर में अवस्थित इन्द्रियों से उसे विभिन्न अर्थों की उपलब्धि होती है। इस उपलब्धि का साधन होने से इसे 'जाग्रत' कहा जाता है क्योंकि जाग्रतावस्था में ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। स्थूल शरीर से बद्ध आत्मा की जो अवस्था है वह उसकी जाग्रतावस्था है। चूँकि इस अवस्था में वह 'इसमें' अपना तादात्म्य किये रहता है और इस तरह अन्नादि से पोषित शरीर उसके 'आत्म' को ढकता है, इसीलिये इसे अन्नमय कोश कहा जाता है। जाग्रतावस्था का 'जीव' वेदान्त में 'विश्व' कहा जाता है। ऐसा इसलिये कि इस अवस्था में वह इन्द्रियों द्वारा शेष विश्व से सम्बन्धित होता है। 'विश्व' का अर्थ 'सब' होता है, परन्तु यह तो केवल एक शरीर में अहमिदम् का अभिमान करने वाला है, फलत: जीव की विश्व संज्ञा समझ में नहीं आती। इस पर समाधान दिया जाता है कि जाग्रत काल का जीवचैतन्य न केवल अपने स्थूल शरीर की उपाधि से अपितु स्वप्न काल के सूक्ष्म शरीर (जाग्रत काल के अनुभवों से जनित वासनायें) तथा सुषुप्ति के अज्ञान की उपाधियों से भी युक्त होता है; इन तीनों उपाधियों से युक्त होने के कारण जाग्रतावस्था का जीव 'विश्व' संज्ञक होता है। यह स्थूल शरीर में आत्मभिमान किये ही रहता है, सूक्ष्म शरीर में भी किये रहता है इसीलिये 'विश्व' है। अस्तु, जाग्रतावस्था का मनुष्य वस्तुत: 'आत्मा' पर पर सकने वाले सारे आच्छादनों से युक्त होता है।

स्थूल शरीर से ही जीव को स्थूल, स्पष्ट भोगों की प्राप्ति होती है तथा चूँकि इसकी उत्पत्ति भी स्थूल भूतों से होती है, इस कारण भी इसे स्थूल कहा जाता है। उसकी उत्पत्ति और स्थिति में अन्नप्राचुर्य की अपेक्षा होने से तथा उसमें जीव के चैतन्यात्मक वास्तव स्वरूप के आवृत होने से इसे अन्नमय कोश कहा जाता है। उसमें विद्यमान इन्द्रियों से विषयों की उपलब्धि होने से उसे जाग्रत भी कहा जाता है क्योंकि जाग्रत रहने पर ही इन्द्रियों से विषयों की अनुभूति होती है।

यह स्थूल शरीर जीव के लिये अपना होने पर भी नितान्त अपना नहीं है क्योंकि 'अन्य' की दृष्टि में तो यह आता ही है। पुनश्च शरीरादि के विकल होने से मनुष्य को 'स्वयं' की विकलता का अनुभव नहीं होता, साथ ही 'बाह्य जगत् में अवस्थित विषयी रूप विषय' के रूप में ही उसके अस्तित्व का सम्पूर्ण विलय नहीं होता। वास्तविक मनुष्य तो मनन-चिन्तन करने वाला नितान्त आन्तरिक होता है, जाग्रत काल के अनुभव से जनित वासनाओं में रमण करने वाला होता है। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य की इन्द्रियाँ हमेशा व्यापाररत हों ही, इन्द्रियों के व्यापारविरत रहने की स्थिति में भी मन व्यापाररत रहता है, बुद्धि सक्रिय रहती है। ज्ञानात्मक, इच्छात्मक तथा क्रियात्मक सूक्ष्म शरीर ही क्रमश: विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश

तथा प्राणमय कोश कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा जाता है। तैजस इसलिये क्योंकि जीव चैतन्य का उपाधिभूत अन्तःकरण तेजोमय होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा पाँच प्राण मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यह सूक्ष्म शरीर जीवचैतन्य की स्वप्नावस्था है। 'स्वप्न' का अर्थ सामान्य स्वप्न से नहीं लिया जाना चाहिये। इसे 'स्वप्न' इसलिये कहा जाता है कि जाग्रतकाल में स्थूल शरीर द्वारा होने वाले अनुभवों से उत्पन्न वासनायें सूक्ष्म शरीर में सञ्चित रहती हैं, फलतः वासनामय होने से इसे 'स्वप्न' कहा जाता है।

इस सूक्ष्म शरीर को 'आत्मचैतन्य' को आवृत करने वाले तीन कोशों के रूप में वर्णित किया है। इनके नाम हैं विज्ञानमयकोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश। हम कह सकते हैं कि सूक्ष्म शरीर कोशत्रय रूप हैं क्योंकि इन कोशों से पृथक् रूप में सूक्ष्म शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है। अन्नमय कोश के भीतर उसकी अपेक्षा सूक्ष्म प्राणमय कोश है।[123] यह क्रिया रूप है, शक्तिरूप है। स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि आत्मा प्राणमयात्मक नहीं है, इस प्राणमय कोश के भीतर रहने वाला, प्राणमय शरीर वाला मनोमय आत्मा है। शंकराचार्य कहते हैं[124] कि संकल्प-विकल्प स्वभाव वाले अन्तःकरण का नाम मन है और जो इस मन से अभिन्न है वही मनोमय है। विवेकचूड़ामणि में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों सहित मन को मनोमय कोश कहा गया है, यह 'मैं' और 'मेरा' ऐसे विकल्प का हेतु है।[125] यह व्यावहारिक जीव का उपकरण है। इसके घटक मन में किसी विषय का संकल्प-विकल्प होने पर विज्ञानमय कोश की घटक बुद्धि उस विषय का निश्चय करती है और तदनुसार जीव के अग्रिम व्यवहार सम्पादित होते हैं। लेकिन आत्मा मन नहीं है, अतः मन में आत्मबुद्धि होने से मन वस्तुतः आत्मा का आवरक हो जाता है फलतः मनोमय कोश इतिसंज्ञक होता है। इस मनोमय से भी परे उसके भीतर स्थित विज्ञानमय है। अन्तःकरण की अध्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) वृत्ति बुद्धि है। बुद्धि और पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाती हैं। वस्तुतः देखा जाए तो निर्गुण निर्विशेष परमचैतन्य में मनुष्यत्व का हेतु यही बुद्धि है, विज्ञानमयकोश है। मनुष्य 'बुद्धिमान' है। इसीलिये विज्ञानमय कोश से उपहित आत्मचैतन्य को व्यावहारिक जीव कहा जाता है, संसारी कहा जाता है। व्यावहारिक का अर्थ है व्यवहार के लिये स्वीकृत अथवा कहें व्यवहार का कर्ता। वेदान्त दर्शन में एकमात्र ब्रह्मचैतन्य या आत्मचैतन्य ही पारमार्थिक है। वह कूटस्थ नित्य होने से व्यावहारिक नहीं है। वह न कर्ता हो सकता है और न भोक्ता, वह सुख-दुःख का आस्पद भी नहीं हो सकता है और न इहलोक तथा परलोक में आना-जाना ही उसका सम्भव है। किन्तु जब वह विज्ञानमय कोश से उपहित होता है तब उसमें कोश के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख आदि का अभिमान होने लगता है

और कोश के इहलोक, परलोक में संसरण करने से उसमें भी संसारी का भाव होने लगता है। शंकराचार्य विवेकचूड़ामणि में कहते हैं[126] कि विज्ञानमय कोश ही चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होकर संसारी आत्मा होता है, वही कर्म करता है और उनके फलों का भोग करता है। वास्तविक आत्मा के अति निकट होने से यह विज्ञानमय कोश अत्यन्त स्वच्छ प्रकाशयुक्त होता है। यही आत्मा की वास्तविक उपाधि है, इसी विज्ञानरूप परिच्छेद से सन्निहित होकर, उसके तादात्म्याध्यास वाला होकर आत्मा सर्वात्मक होने पर भी स्वयं को अन्य घट-पटादि से पृथक् मानता है। इसी उपाधि के सम्बन्ध के कारण निधर्मक आत्मा उपाधि के गुणों को हासिल करता हुआ स्वयं भी उन गुणों से युक्त जैसा हो जाता है। जैसे कि शुद्ध वह्नि सदा एक रूप होता हुआ भी लौह खण्डों से ससंक्त होकर उन्हीं के समान आकृति-विकृति वाला हो जाता है।

इस तरह जाग्रतावस्था जहाँ जीव की बाह्यावस्था है, स्वप्नावस्था से तात्पर्य उसके 'आन्तरिक जगत्' से है। स्थूल शरीरादि में आत्मबुद्धि से भी महत्त्वपूर्ण है सूक्ष्म-अन्तःकरणादि में आत्मतादात्म्य का भाव। अन्तःकरण ही चैतन्य की वह मूलभूत उपाधि है जिसके कारण यह समस्त प्रपञ्चभाव सम्भव होता है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया मनुष्य के स्वरूप के मूलभूत सर्जक तत्त्व हैं। समस्त मानवीय व्यापार, व्यवहार इसी सूक्ष्म शरीर के स्तर पर नियोजित होते हैं। माण्डूक्यकारिका में कहा गया है कि चेतना का मनीभाव ही समस्त प्रपञ्च का कारण है। विवकचूड़ामणि में शंकराचार्य कहते है कि यह मनोमय ही जगद् व्यवहार का मूल है, इसके नष्ट हो जाने पर सभी कुछ नष्ट हो जाता है। बन्ध, मुक्ति, जगत् सभी कुछ मनोमय का ही विजृम्भण (कल्पना) है।[227]

जैसे स्थूल शरीर या अन्नमय कोश आत्मचैतन्य का आच्छादक है वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी उसका आच्छादक है और फलतः प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोश भी। आत्मा का देहादि से सम्बन्ध जैसे मिथ्याकृत है वैसे ही बुद्धि से उसका तादात्म्य भी मिथ्याज्ञानपूर्वक ही है और यहीं हम भारतीय चिन्तकों की उस विशेषता को पाते हैं जिसके अनुसार चेतना का बुद्धि से सम्बन्धित रूप में ही होना, अनिवार्य नहीं माना जाता है। हम अपने वास्तविक जीवन में भी एक ऐसी अवस्था को पाते हैं जहाँ हमारा अस्तित्व तो रहता है पर देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि का व्यापार नहीं रहता। 'सुषुप्ति' की अवस्था ऐसी ही अवस्था है जहाँ न तो इन्द्रियाँ कार्य करती हैं और न मन-बुद्धि, फिर भी चैतन्य का उसमें अभाव नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा होता तब तो जीव के सोने के साथ ही उसकी मृत्यु होती। यह चैतन्य की वह अवस्था है जिसमें वह 'अविद्या' मात्र से उपहित रहता है।

यहाँ अविद्या के कार्यभूत अन्तःकरणादि के न रहने से जाग्रत एवं स्वप्न की तरह वस्तुयें प्रत्यक्ष करने को नहीं होती हैं। सुषुप्ति में अन्तःकरणादि का अपने कारणभूत अविद्या या अज्ञान में विलय हो जाता है। इस अज्ञान मात्र से उपहित चैतन्य 'प्राज्ञ' कहलाता है। जीव की यह उपाधि चूँकि अहंकार आदि का कारण होती है इसीलिये इसे कारण शरीर कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में अविद्या केवल आंशिक रूप में ही कार्य करती है। अविद्या अपनी आवरण शक्ति द्वारा तत्त्व के वास्तविक रूप को ढक लेती है, पर उसे विभिन्न नामरूपों में प्रदर्शित नहीं करती। सुषुप्तावस्था का जीवात्मा 'सुषुप्ति' में सुख और अज्ञान का अनुभव करता है, क्योंकि तभी वह उठने पर यह कह सकता है कि 'मैं सुख से सोया, सोते समय मुझे किसी चीज का ज्ञान नहीं हुआ'। पुनः सुषुप्ति में यदि 'अज्ञान' एवं 'सुख' की अनुभूति होती है,[128] तो चैतन्य से उद्दीप्त की गयी अज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों से ही सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है क्योंकि अज्ञान में स्थूल, सूक्ष्म सभी शरीर प्रपञ्च का लय हो जाने से अन्तःकरण के विद्यमान न होने के कारण उसकी वृत्ति सम्भव नहीं है। 'प्राज्ञ' को आनन्दमय कोशाबद्ध कहा गया है। यह वह अवस्था है जहाँ न स्थूल देह की चेष्टायें रहती हैं, न मन का वासनात्मक स्मरण रहता है और न प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय विभाग की अभिव्यक्ति हुई रहती है। आचार्य शंकर ने इस अवस्था को सम्प्रसाद अवस्था कहा है।[129] जाग्रत अवस्था में जो देह और इन्द्रियों के सैकड़ों व्यापारों से सम्बन्धित क्लेश था, उसे छोड़कर उन देह और इन्द्रियों से असम्बन्धित हो जाने के कारण स्वप्नावस्था में थोड़ा प्रसन्न, परन्तु सुषुप्तावस्था में जीव पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। इसलिये सुषुप्ति को 'सम्प्रसाद' कहते हैं। आत्मज्योति रूप इस अवस्था में द्रष्टा-द्रष्टव्य इस दृष्टि का लोप हो जाता है, फलतः द्वितीय का अभाव होने से यह अद्वैत रूप है।[130]

परन्तु यह सुषुप्ति भी आत्मा की वास्तविक अवस्था नहीं है। यह आनन्दमय भी वास्तविक आत्मा नहीं है, सोपाधिक होने से। यहाँ साक्षात् अविद्या ही उपाधि है, उसके कार्य नहीं। इसीलिये यह भी शरीर है—कारण शरीर। इस शरीर में स्थित इससे पृथक् जो निषेधावधि (जहाँ जाकर सभी निषेध समाप्त हो जाते हैं), स्वयं-ज्योति, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, बोधस्वरूप, आनन्दस्वरूप (विज्ञानमय व आनन्दमय नहीं) वस्तु है, वह आत्मा है। यह तुरीय है। तुरीयावस्था उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न और उन सबका अधिष्ठान है। यद्यपि उपर्युक्त तीनों अवस्थायें तुरीय चैतन्य की ही जीवभावापन्न अवस्थायें हैं, फिर भी तुरीय चैतन्य इन अवस्थाओं से प्रभावित नहीं होता। वह सभी कोशों से मुक्त अर्थात् पञ्चकोशातीत है। यह तुरीय चेतन ब्रह्माभिन्न है। विवेकपूर्वक जब अन्वय व्यतिरेक से जाग्रत आदि अवस्थाओं का और पञ्चकोशों का बाध कर दिया जाता है तब एकमात्र

तुरीय चेतन ही शेष रहता है। तुरीयावस्था ही वस्तुतः मोक्ष की अवस्था है। इसमें प्रत्येक प्रकार के शरीर का अभाव पाया जाता है। यहाँ अविद्या न आवरण रूप में और न विक्षेप रूप में ही कार्य करती है। किसी भी प्रकार के अज्ञान के अभाव के कारण यह पूर्ण मोक्ष या आनन्द की अवस्था है।

अस्तु, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से परे चैतन्य की एक तुरीय (चतुर्थ) अवस्था है, जो उसकी शुद्ध अवस्था है। विभिन्न उपाधियों से मुक्त यह अवस्था अखण्ड ब्रह्म की अवस्था है। एतदवस्थ चैतन्य का न कोई नाम है और न रूप। 'द्वैतशून्य अनुपहित शिव चैतन्य को चतुर्थ मानते हैं' ऐसा माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है।[131] इस अवस्था में चैतन्य का सच्चिदानन्द स्वरूप स्वतः प्रकाशमान होता है। इस अवस्था को प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य है;[132] क्योंकि मनुष्य की यही मूल अवस्था है, उसका वास्तविक स्वरूप है।

शांकर वेदान्त में साक्षी

जीव यदि परमार्थतः निर्गुण, निष्क्रिय, असंग, चैतन्यस्वरूप है तो व्यवहार में जो उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व दिखायी देता है, वह आविद्यक ही होना चाहिये। क्योंकि यदि जीव का संसारित्व एवं जीवत्व वास्तविक स्वरूप हो तो इससे मुक्ति असम्भव होगी। अतः 'व्यवहार में रत', 'स्वाद लेने में मग्न' होने के बावजूद जीव को कहीं न कहीं ऐसा होना चाहिये कि वह उनसे विरत भी हो, अन्यथा जीव का बन्धन वास्तविक हो जायेगा। यदि एकमात्र ब्रह्म ही सब कुछ है तथा उसी के प्रकाश से सभी कुछ प्रकाशित है तो ब्रह्मचैतन्य को 'नाना जीवों' के रूप में भासित होने के बावजूद अर्थात राम, श्याम आदि सभी जीवों में रामत्व, श्यामत्व के बावजूद वह अधिष्ठान रूप चैतन्य होना चाहिये जो इसका आधार है। इस चैतन्य को अन्य के द्वारा सिद्ध या प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती, यह स्वतः सिद्ध है। इसी के प्रकाश से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सब प्रकाशित होता है। जीव का ज्ञातृत्व, कर्तृत्व विषय की अपेक्षा विशेष से होता है अर्थात् ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता रूप ज्ञेय, कार्य एवं भोग्य की अपेक्षा रखता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विषय, भोग्य या ज्ञेय के अभाव में 'चैतन्य' रह ही नहीं जाता, अपितु वह तो शाश्वत है, सर्वदा विद्यमान रहता है। स्वयं ज्ञाता या प्रमाता का ऐसा स्वरूप है कि वह स्वप्रकाशरूप नहीं है, यह जिसके प्रकाश से प्रकाशित होता है वह तत्त्व साक्षी है। साक्षी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तीनों को प्रकाशित करता है। जीव के समस्त व्यवहार या ज्ञान को यह साक्षी आलोकित करता रहता है। समस्त चैतन्य व्यवहार के आधार रूप में इसके विद्यमान रहने के कारण ही 'व्यक्तित्व सातत्य'

सम्भव होता है। सुख-दु:खादि हमारी अवस्था विशेष हैं, इन अवस्थाओं को कौन प्रत्यक्ष करता है? वह जिनकी यह अवस्था है यदि वह प्रत्यक्ष करता है तब तो कर्तृ-कर्म विरोध प्रसक्त होगा। हमारी मनस की ये अवस्थायें वस्तुत: साक्षी के द्वारा आलोकित होने के कारण ही प्रत्यक्ष होती हैं। सुषुप्ति की अवस्था में बुद्धि की वृत्तियों का लय हो जाता है और कुछ ज्ञान नहीं होता, तो क्या 'चैतन्य' का इस अवस्था में तिरोधान हो जाता है? नहीं, क्योंकि उठने के बाद हमने कुछ नहीं जाना और सुखपूर्वक सोया इस तरह का भान होता है। ऐसा भान साक्षी के कारण ही होता है, वह इस अवस्था में भी जीव के जीवत्व तथा उसकी सुषुप्ति को साक्षित्व प्रदान करता है। सारा का सारा अज्ञान साक्षी द्वारा भास्य है। साक्षी ज्ञात एवं अज्ञात सभी वस्तुओं को जानता है। जीवात्मा के लिए अज्ञात विषयों को जानने का कोई साधन नहीं है, परन्तु साक्षी के लिये वृत्तियों की उपस्थिति, अनुपस्थिति समान रूप से प्रकाशित है।

इस तरह अद्वैत मत में 'साक्षी' की अवधारणा का बड़ा महत्त्व है क्योंकि साक्षी द्वारा ज्ञात अज्ञात, यथार्थ मिथ्या आदि सभी वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। तर्कत: एक ऐसे चैतन्य को मानना आवश्यक है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो, अर्थात् जो प्रमाता को अज्ञात हो वह भी उसे ज्ञात हो। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि वस्तु यहाँ पहले से थी, किन्तु हमको उसका ज्ञान नहीं था। अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति ज्ञान के साथ ही नहीं होती, नहीं तो ज्ञान और कल्पना में भेद ही नहीं रह जाएगा। ज्ञान भूतवस्तु विषयक होता है और कल्पना से वस्तु की सृष्टि होती है। अत: एक ऐसे चैतन्य को मानना आवश्यक है जिसे वस्तु का उस अवस्था में भी ज्ञान होता रहे जब वह प्रमाता से अज्ञात हो। अज्ञान तथा अज्ञान विनिर्मित सभी वस्तुओं का सामान्य ग्राहक साक्षी है। यह चैतन्यरूप है, स्वप्रकाश है। अज्ञानादि को ग्रहण करने में इसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। यह साक्षी प्रमाता से भिन्न है। प्रमाता वह अहं बोध है जो विभिन्न वृत्तियों में व्याप्त रहता है। बुद्धि की वृत्तियाँ बदलती रहती है, वृत्तियों के अनुसार प्रमाता का स्वरूप भी बदलता रहता है, पर नित्य एवं एकरस साक्षी इससे भिन्न है। वह प्रमाता का भी प्रकाशक है। प्रमाता साक्षी चैतन्य पर अध्यस्त होकर उसके द्वारा प्रकाशित वृत्तियों का उपयोग करता है। साक्षी को सत्यासत्य के द्वैत का भान नहीं होता किन्तु प्रमाता को रहता है। साक्षी प्रमाता को, प्रमाण वृत्तियों को तथा इनके अतिरिक्त भी अन्य को प्रकाशित करता है। प्रमाता सोता है, स्वप्न देखता है, जागता है, किन्तु साक्षी सदा जागरूक रहता है। साक्षी का ज्ञान असीम एवं प्रमाता का ज्ञान सीमित होता है। सभी ज्ञान साक्षी में है, यदि साक्षी न हो तो सारा जगत् अन्धकार में डूब जाएगा। साक्षी प्रमाता के सारे कार्य को जानता है एवं कुछ

और जानता है जो प्रमाता नहीं जानता। भ्रम, सुषुप्ति, सुख-दुःख का रूप प्रमाता नहीं देख पाता, किन्तु साक्षी सब कुछ देखता है। देखना उसकी अनिवार्यता है—स्वरूप है। वह नित्य ज्ञाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् और उसके भाष्य में सर्वप्रथम साक्षी का स्वरूप वर्णित हुआ है। वहाँ साक्षी को कर्माध्यक्ष कहा गया है। साक्षी ईश्वर एवं जीव के मध्य चित् की वह अवस्था है जो एक ओर ब्रह्म तत्त्व के समान निष्क्रिय, निस्संग है, दूसरी ओर वह प्रति मुहूर्त जीव के साथ रहती हुई उसके प्रत्येक कार्य-संकल्प-चेष्टा आदि को अनवरत देखती रहती है। इस पक्ष से वह ईश्वर तत्त्व का ही एक रूप है जिसमें रहता हुआ वह (ईश्वर) जीव के सब कर्म देखता है, जिनके अनुसार फल विधान सम्पन्न होता है। शंकर के अनुसार जीव कर्मों से बंधा है, कर्मफल भोग उसकी नियति है। कर्म जड़ होने के कारण स्वयं फल प्रदान करने में समर्थ हैं। अतः कर्मफलदाता के रूप में एक सत्ता की आवश्यकता होती है जिसे शंकर ईश्वर रूप में स्वीकारते हैं। यह ईश्वर कैसे जीवों के कर्मों का साक्षी बनता है? उत्तर है साक्षी द्वारा। साक्षी ईश्वर का ही एक रूप है जो अन्तःकरण की उपाधि से युक्त अवश्य है पर उसका अन्तःकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार घटाकाश घट की दीवारों के गुण-दोष से किञ्चित् भी प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार साक्षी अन्तःकरण के मालिन्य से अप्रभावित रहता है। यह जीवों के सुकृत्यों, दुष्कृत्यों को निरपेक्ष भाव से देखता रहता है और इसी के साक्षित्व के आधार पर ईश्वर कर्मफल का विधान करता है।

शारीरक भाष्य के आरम्भ में प्रत्यगात्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी तथा सर्वसाक्षी कह कर विशेषित किया गया है।[133] गोविन्दानन्द ने रत्नप्रभा में आचार्य शंकर के उक्त कथन में साक्षी शब्द का अभिमत अर्थ 'जिसका प्रत्यकत्व ज्ञात नहीं है, ऐसा आत्मा' किया है।[134] स्वयं शंकराचार्य पाणिनि सूत्र के अनुसार साक्षी को साक्षात् देखने वाला बताते हैं। अर्थात् साक्षी आत्मरूप सर्वदा सब कुछ का द्रष्टा है।[135] द्रष्टा होने के साथ ही साक्षी जीव के विपरीत उदासीन है! उसका लक्षण ही है कि वह उदासीन द्रष्टा है-द्रष्टृत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्।[136] वह विभिन्न व्यापारों में रत नहीं है। वस्तुतः देखा जाये तो शुद्ध द्रष्टा के लिये उदासीन होना भी आवश्यक है तभी वह निष्पक्ष हो सकेगा। सभी कुछ, भाव या अभाव कोई भी वस्तु, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, नाम रूप आदि से अभिव्यक्त होने वाला समस्त जगत्—साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध हैं क्योंकि समस्त साक्ष्य स्वतः स्फूर्तिहीन हैं, सदा समान रूप से स्फुरित होने वाला सत्य अध्यक्ष ही इन सबके पृथक्-पृथक् स्फुरण का आधार है। वह चिदात्मा है, उसे फिर अपनी सिद्धि के

लिये किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं है, उसका साक्षित्व स्वत:सिद्ध है। आविद्यक सभी कुछ जो अपने से भिन्न किसी प्रकाश द्वारा प्रकाशित होता है, सर्वदा साक्षी का विषय है। यही साक्ष्य होने का अर्थ है। लौकिक ज्ञान जो प्रमेय व प्रमाता आदि को भी विषय करता है, वह साक्षी को विषय नहीं करता क्योंकि वह उन (प्रमाता आदि) से विलक्षण है। पुनः प्रमाण पराक्–बहि:प्रवण हैं, वे प्रत्यक् नहीं हैं, आन्तर दिशा में नहीं जाते। साक्षी स्वयंप्रकाश है। इसीलिये वह प्रमाण का विषय नहीं होने पर भी साक्षात् है। विद्यारण्य ने पञ्चदशी में कहा है कि कर्ता (मैं पन का अभिमानी जीव), क्रिया (आन्तरिक तथा बाह्य सभी) तथा दृक् (अनुभविता वर्ग) एवं उनसे भिन्न एवं परस्पर विलक्षण समस्त विषयों या दृश्य वर्ग को नित्य चैतन्य का जो रूप एक साथ प्रकाशित करता है, वही साक्षी है।[137] साक्षी एक साथ ही इन सबको कैसे प्रकाशित करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि साक्षी मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, चाहता हूँ, क्रोध करता हूँ इत्यादि अनुभव करने वाले सभी प्रमाता, कर्ता, भोक्ता, प्रमाण, क्रिया, भोग, प्रमेय, कार्य, भोग्य विषय इत्यादि को अविचलित व निष्पक्ष भाव से एक समान रूप में वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे नृत्यशाला में स्थित दीपक वहाँ रखी हुई सभी वस्तुओं को एक साथ प्रकाशित करता है। नृत्यशाला में स्थित दीपक जैसे प्रमुख, प्रेक्षक, सभा व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनमें किसी के भी न रहने पर स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है, वैसे ही साक्षी कर्ता (अहमर्थ जीव), बुद्धि और विषयों को प्रकाशित करता है तथा उनके न रहने पर स्वयं ही पहले की भाँति प्रकाशित होता है।[138] प्रश्न है जब प्रकाश रूप बुद्धि से ही अहंकारादि (प्रमाता जीव) प्रकाशित हो जाते हैं तब उससे भिन्न साक्षी की कल्पना क्यों? इसके उत्तर में कहा जाता है कि अन्तःकरण एवम् उसकी वृत्तियाँ जडात्मिका हैं, जडात्मिका होने के कारण ये अपने को प्रकाशित करने के लिये चैतन्य की अपेक्षा रखती हैं। इसीलिये जीव एवं उसके स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों को प्रकाशित करने वाले साक्षी तत्त्व की कल्पना की गयी है। साक्षी के प्रकाश से प्रकाशित (अन्तःकरण वृत्तियों में प्रतिबिम्बत चैतन्य) अन्तःकरण अपने विषयों को प्रकाशित करता है। इस वृत्ति के प्रकाशक रूप में स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा अचेतन अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा वृत्तिगत विषयों को प्रकाशित करना असम्भव होगा। इसी प्रकार प्रश्न उठता है कि अन्तःकरण अवच्छिन्न जो प्रमाता या जीव है, उसका ज्ञान कैसे होता है? यदि उसका ज्ञान स्वयं उसी के द्वारा माना जाए तो कर्तृकर्म विरोध होगा। पुनः सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि में अन्तःकरण का लय हो जाता है। फिर भी जागने पर मैं मूर्च्छित था, सोया था, इस प्रकार ज्ञाता या प्रमाता के सातत्य का स्पष्ट भान होता

है। साथ ही स्वयं अपने प्रति व्यक्ति में सन्देह नहीं होता—सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।[139] अतः अहं प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पञ्चकोशातीत है।[140] जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जो स्पष्टतया प्रत्यक् रूप से प्रकाशित होता हुआ सदा 'अहं अहं' रूप से अनेक प्रकार स्फुरित होता है और अहंकार से लेकर प्रकृति के नाना विकारों को साक्षी रूप से देखता हुआ नित्य चिदानन्द रूप से स्फुरित होता है, वही साक्षी हैं।[141] आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न, शुद्ध ज्ञानस्वरूप वह निर्विशेष परमात्मा, सत् असत् सबको प्रकाशित करता हुआ, जाग्रदादि अवस्था में अहंभाव से स्फुरित होता हुआ बुद्धि के साक्षी रूप से साक्षात् विराजमान है।[142] इस प्रकार श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँचो कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधि रूप बोधस्वरूप साक्षी (आत्मा)की ही सत्ता शेष रहती है।[143]

जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के विपरीत साक्षी के असंगत्व, उदासीनत्व तथा सर्वसाक्षात्कारित्व रूप की व्याख्या इन दोनों के लक्षणों से की जा सकती है। जीव को जहाँ अन्तःकरण अवच्छिन्न चैतन्य कहा गया है, वहीं साक्षी को अन्तःकरण उपहित चैतन्य बताया गया है। एक ही अन्तःकरण जीव को जिस प्रकार व्यावर्तित करता है उसी प्रकार साक्षी को भी। प्रश्न है तब उनमें भेद कैसे है? इस सम्बन्ध में वेदान्त की परम्परा में विशेषण और उपाधि के भेद की ओर ध्यान दिलाया जाता है। विशेषण उसे कहते हैं जो वस्तु के साथ रहते हुए उसे अन्य वस्तुओं से अलग करती है, जबकि उपाधि वस्तु के साथ रहे बिना ही उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् करती है।[144] उदाहरणतः नील घट में घट का नीलत्व उस घट के साथ रहते हुए उसे अन्य पीतादि घटों से पृथक् करता है जबकि घटाकाश में उपाधि घट आकाश को किञ्चित् भी विकृत किये बिना उसे शेष आकाश से पृथक् करता है। अतः साक्षी वह शुद्ध चेतना है जो जीव के विभिन्न अनुभवों का निरन्तर बोध रखते हुए भी उनसे भिन्न है जबकि जीव उस चेतना एवं अन्तःकरण के बीच एक तादात्म्यभाव है। अन्तःकरणविशिष्ट होने से जीव में अन्तःकरण के गुणों का प्राधान्य है, तद्गुणसारत्व ही जीवत्व है। जीव अविद्या या अन्तःकरण से विशिष्ट होने से कर्ता एवं भोक्ता है जबकि साक्षी अन्तःकरण या अविद्या विशिष्ट चैतन्य न होकर तद् उपहित चैतन्य है, फलतः अन्तःकरणकृत व्यापार-धर्म से वह तनिक भी विकृत नहीं होता है। शंकर ने जीव की तीन अवस्थायें मानी हैं—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति। साक्षी चैतन्य इन तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठानभूत होता हुआ इनसे परे है, इनका प्रकाशक है। साक्षी चैतन्य जो कि सर्वदा प्रत्येक स्थिति में अनुभवी के हर अनुभव को निरपेक्ष रूप से जानता है, वह इन तीनों अवस्थाओं

में भी अनुभव की और अनुभवहीनता की हर स्थिति को जानता है। जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व की परिधि से वेष्ठित है, कारण कि वह जागतिक प्रपञ्चों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किये हुए है, जबकि साक्षी इन प्रपञ्चों से असम्पृक्त रहते हुए अनासक्त भाव से सत्य-असत्य, ज्ञात-अज्ञात सभी बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों को देखता रहता है। प्रपञ्च के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण जीव राग-द्वेष, सुख-दुखादि का अनुभव करता है और उस अनुभव को आत्मार्पित करते हुए आत्म-स्वरूप से विमुक्त होकर बन्धनग्रस्त रहता है, जबकि साक्षी न तो प्रपञ्च के साथ बँधा है और न सुख-दुःख का अनुभव करता है, कारण उसका अन्तःकरण से तादात्म्य नहीं है। वह तो निरपेक्ष भाव से जीव के कर्तृत्व एवं कृत्यों तथा नानात्व एवं प्रपञ्च को तटस्थ होकर केवल देखता रहता है। जीव और साक्षी को लक्ष्य करके श्रुति में कहा गया है—दो पक्षी एक साथ एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं, इनमें एक उस वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है जबकि दूसरा केवल देखता हुआ बैठा है।[145] जीवन एवं जगत् में रत जीव है जबकि उनको देखता हुआ विरक्त उदासीन साक्षी है।

साक्षी की सत्ता की स्वीकृति द्वारा अद्वैत परम्परा में यह सुनिश्चित किया गया है कि देहान्तःकरणादि से विशिष्ट होने के बावजूद चैतन्य का अकलुषित, अविकृत, सर्वभासक और स्वतःप्रकाशमान स्वरूप सर्वदा वर्तमान रहता है। अतः जीवत्व के अतिक्रमण का जो आदर्श या श्रेय वेदान्त मनुष्य के सम्मुख रखता है वह वस्तुतः उसे सर्वदा उपलब्ध ही है, आवश्यकता मात्र इसके साक्षात्कार की है। यह आत्म किस तरह स्वयं सत् है और स्वयं परम मूल्य है, साक्षी की उपरोक्त व्याख्या से हम भली-भाँति समझ सकते हैं।

सन्दर्भ

1. येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातमिति।
   छादोग्य उपनिषद्, 6.1.3.
2. आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन
   मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
   बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.5.
3. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो....।
   तत्रैव, 2.4.5.
4. देखिये, छान्दोग्य उपनिषद् का षष्ठ प्रपाठक।
5. जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात् परं श्रेयो इति निश्चितोऽर्थः।
   शंकराचार्य, प्रश्नोपनिषद्भाष्य, 6.1.

6. कारणं हि आत्मा। न शक्यं हि कारणातिक्रमणं कर्तुं कार्येण।
   शंकराचार्य छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, 8.4.1.
   कार्यं हि कारणस्यान्तर्वर्ति भवति।
   गीता, शां॰भा॰, 8.28.
7. वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकेत्येव तु सत्यं वस्त्वस्ति।
   छा॰शां॰भा॰, 6.1.4.
8. न शक्यं हि कारणातिक्रमणं कर्तुं कार्येण।
   छा॰शां॰भा॰, 8.4.1.
9. विकारेणापि विकारिणो नित्य प्राप्तत्वात्। न हि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः।
   ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 4.3.14.
10. तैत्तिरीयोपनिषद् शां॰भा॰ 2.1. की भूमिका में।
11. मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते; यथा मृदादिकार्यं घटादिमृदाद्यन्वितम्। तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवोपलब्धव्यः।
    शांकरभाष्य, कठोपनिषद्, 2.3.12.
12. सदेव सोम्येदमग्र आसीत्-----
    -----सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।
    छान्दोग्य उपनिषद्, 6.2.1-2.
13. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा।
    छान्दोग्य उपनिषद्, 6.8.6.
14. अस्तीत्येवोपलब्ध्यः-----।
    कठोपनिषद्, 2.3.13., देखिये उस पर शांकरभाष्य।
15. छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, 6.8.4 में शंकराचार्य।
16. छा॰उ॰शां॰भा॰, 6.8.7.
17. नित्यत्वं सत्यत्वं, भामती, 1.1.1.
18. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै॰उ॰, 2.1.1.
19. -----वस्तुत आनन्तयं सर्वानन्यत्वात्। भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति। वस्त्वनन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद् वस्त्वन्तरान्निवर्तते। यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः। -----स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः। नैवं ब्रह्मणो भेदः। अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम्।
    तै॰उ॰, शां॰भा॰, 2.1.1.

20. सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण: सर्ववस्तुकारणत्वात्। सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म। कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेन्न, अनृतत्वात् कार्यवस्तुन:।
तै०उ०शां०भा०, 2.1.1.
21. द्रष्टव्य-ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में द्वितीय अध्याय के दूसरे पाद में शंकरकृत सांख्य की आलोचना।
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.9.
22. ब्रह्मसूत्र, 1.1.6. पर शांकरभाष्य।
23. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.7.
24. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 1.1.9.
25. ब्रह्मसूत्र 3.2.21 पर शंकराचार्य का भाष्य।
26. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.1. पर शंकरकृत भाष्य।
27. छा०उ०, 7.23.1 पर शांकरभाष्य।
28. ----- अधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति -----।
छान्दोग्य उपनिषद्, 7.25.2.
आत्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। बृ०उ० 2/5/1.
29. देखिये, बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.5.
30. सर्वज्ञात्म मुनि-संक्षेपशारीरक, 1/25.
31. परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरात्मन: सुखरूपत्वे प्रमाणम्। आत्मन: प्रेमास्पदतायां न कस्यचिद् विवाद:।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, सं., योगीन्द्रान्द, षड्दर्शन प्रकाशन-प्रतिष्ठानम् काशी, 1985, पृ. 566।
32. विद्यारण्य स्वामी, पञ्चदशाी, 12/25.
33. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3/9/28 पर शंकरकृत भाष्य।
34. किमानन्दो विषयविषयिसम्बन्धजनितो लौकिकानन्दवद् स्वाभाविक इत्येवमेवाऽऽनन्दस्य मीमांसा। तत्र लौकिको आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्ति निमित्त उत्कृष्ट:। स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगामार्थम्। अनेन हि प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषय-बुद्धिगम्यआनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते। लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्रा ....। अभिन्न: स्वाभाविक आनन्द: परमात्मैव, न विषयविषयिसम्बन्धजनित इति।
तै०उ०, 2/8/4 पर शांकर भाष्य।
35. न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते, अत: सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनात्मनाद्वयस्या-व्यभिचारात्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा।
माण्डूक्यकारिका, 2/33 पर शंकरकृत भाष्य।

36. एकमेवेति। स्वकार्यपतितमन्यन्नास्तीत्येकमेवेत्युच्यते। अद्वितीयमिति। मृदो यथाऽन्यद्घटाद्याकारेण परिणमयितृकुलालादिनिमित्त कारणं द्रष्टं तथा सद्व्यतिरेकेण सतः सहकारिकारणं द्वितीयं वस्त्वन्तरं प्राप्तं प्रतिषिध्यतेऽद्वितीयमिति, नास्य द्वितीयं वस्त्वन्तरं विद्यत इत्यद्वितीयम्।
छा०उ०, 6/2/1 पर भाष्य।
37. एकमेवाद्वितीयमित्येतौ च सच्छब्देन समानाधिकरणौ।
तत्रैव।
38. सलिल इव सलिल एको द्वितीस्याभावात्। अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते, सा च शान्तात्र अत एकः। द्रष्टा दृष्टेरविपरिप्लुतत्वादात्मज्योतिः स्वभावायाः, अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।
बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/32 पर शांकरभाष्य।
39. सुरेश्वराचार्य, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक 4/3/1800-3।
40. बृहदारण्यक उपनिषद् 3/8/8।
कठोपनिषद् 1/3/15।
41. माण्डूक्योपनिषद्, 1/7 पर शंकरकृत भाष्य।
42. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।
बृ०उ०, 2/4/14.
43. दष्टव्य, यशदेव शल्य कृत मनुष्य और जगत्, पृ० 4. मनुष्य और जगत्: वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, दिल्ली, 1985.
44. देखिये स्वयं शंकर का मत—यदि हि नामरूपे न व्याक्रियते तदास्यात्मनो निरूपाधिक रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत्।
बृ०उ०शां०भा०, 2/5/10.
45. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति,
तै०उ०, 2/6.
आनन्दात् एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
तै०उ०, 3/6.
46. वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात्।
शंकराचार्य, तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1 पर भाष्य।
47. तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥
विद्यारण्यस्वामी, पंचदशी, 6/130.
49. 'अजो हि एको जुषमाणोऽनुशेते'
श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/5.

'तन्योरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति'
श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4/6.

50. अविद्यात्मक नामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य। ---- एवमविद्याकृत-नामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति---- तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमे-वेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च, न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्री शितव्य सर्वज्ञत्वादि व्यवहार उपपद्यते।
ब्र०शां०भा०, 2/1/14.

51. ऐतदात्म्यमिदं सर्वं—छान्दोग्य उ० 6/8/7.
ब्रह्मैवेदं सर्वम्—मुण्डक उ०, 2/2/11
आत्मैवेदं सर्वम्—छा०उ०, 7/25/2.

52. ब्रह्मसूत्र, 1/1/2.

53. कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारण प्रतिज्ञाविरोध इति चेत्।
ब्र०शां०भा०, 2/1/14.

54. कर्माध्यक्ष: सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता।
श्वे०भा०, 6/11.
प्रधानमव्यक्तं, क्षेत्रज्ञौ विज्ञानात्मा, तयो: पति: पालयिता।
तत्रैव, 6/16
जालं माया दुरत्ययत्वात्---- तदस्यास्तीति जालवान् मायावी।
श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य 3/1

55. अद्वितीय: परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवद् आत्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीयमुपादान कारणमुपादत्ते। किं तर्हि? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयते।
तत्रैव, 3/2.

56. सर्वप्राणिगतानि चक्षूँसि अस्येति विश्वतश्चक्षु: अत: स्वेच्छयैव सर्वत्र रूपादौ सामर्थ्यं विद्यते ---- ।
श्वेताश्वतर भाष्य, 3/3.

57. हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व: ---- ।
तत्रैव, 3/4.

58. ब्रह्मसूत्र, 1/1/2 पर शंकराचार्य का भाष्य।

59. अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।
विवेकचूड़ामणि-108.

60. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः।
जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरेषु सदेश्वरः।।
आचार्य सुरेश्वर, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, 1/4/371-376.
61. छान्दोग्य उपनिषद् 7/24/1.
62. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/5/14.
63. परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।
ब्रा०शां०भा०, 2/1/14.
64. परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादि व्यवहाराभावः प्रदर्श्यते।
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2/1/14.
65. "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।
गीता, 5/14-15
शंकराचार्य द्वारा उद्धरित ब्र०शां०भा०, 2/1/14 में।
66- T.R.V. Murti, 'The Concept of Appearance' in Studies in Indian Thought, ed. Harold G. Coward, Motilal Banarasidass, Delhi, 1983, p. 88.
67. भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्। ब्रह्मसूत्र, 2/1/13। इस सूत्र के भाष्य में शंकर कहते हैं–
परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरंगादि-न्यायेनेत्युक्तम्।
68. सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोक-वत्' इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति–सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यते इति।
ब्रा०शां०भा०, 2/1/14.
69. उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं
भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ---- ।
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं
स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।
छान्दोग्य उपनिषत्, 6/1/2-3-4
70. ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/14.

71. सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह।
तत्रैव

72. विवर्तवादस्य च पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः
व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।
सर्वज्ञात्म मुनि-संक्षेपशारीरक, 2/61

73. कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा।
ब्रह्मसूत्र, 2/1/26

74. दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्–'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा०, 6/8/4) इति।
ब्रह्मसूत्र, 1/4/14 पर शांकरभाष्य।

75. न हि अयं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः। न हि तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते श्रूयते वा। न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात्।
ब्र०शां०भा०, 1/4/14

76. अविद्याकल्पितेन न नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते।
ब्रह्मसूत्र, 2/1/27 पर भाष्य

77. न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्व व्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्।
ब्रा०शां०भा०, 2/1/27
न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्च इत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम्।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/1/33.

78. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्।
छा०उ०, 6/1/4
मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासानं रज्ज्वा इव सर्पादिभावनेति।
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/9

79. The word Brahman is always used by Sankara to mean Brahman, unless otherwise indicated; and when Brahman is described as the source of the universe, it is this Brahman and not any 'inferior' or 'phenomenal' reality that is meant."

R.P. Singh, The Vedanta of Sarikara, (Jaipur Bharat Publishing House, 1949), p. 380.

80. यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्यालम्बनं जगत्कारणम्।
ब्रह्मसूत्र, 1/2/1 पर शांकरभाष्य।

81. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।
शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/4/3

82. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।
आचार्य सुरेश्वर, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, 1/4/371

83. मिथ्याज्ञानस्य वस्तुत्वं येनैव स्यात् सदात्मना।
अज्ञानस्यापि तेनैव सत्यत्वं केन वार्यते।।
बृ॰भा॰वा॰, 1/4/442.

84. देखिये, तत्त्वप्रदीपिका 1/5
तथा—प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः।।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका, 1/13.

85. ज्ञानबाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वम्।
चित्सुखी, सं॰ योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्, काशी, 1985, पृ॰ 138.

86. तस्माद् राम जगन्नासीत् न चास्ति न भविष्यति।
योगवासिष्ठ-4/2/8

87. एवमयमनादिरन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य के उपोद्घात में।

88. तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।
ब्र॰शां॰भा॰ के उपोद्घात में।

89. अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र 2/3/17 के भाष्य में।

90. तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति, ...बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/30.

91. एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च।
तत्रैव, 1/2/8.

92. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
मुण्डकोपनिषत्, 3/1/1

93. कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितम्, तत्पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति ....।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/40.

94. न स्वाभाविकं कर्तृत्वामात्मनः संभवति ....।
वहीं।

95. तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्।
ब्रह्मसूत्र 2/3/40 पर शांकरभाष्य।

96. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/40.

97. एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मन आदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति।
द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/40

98. न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वम् अस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/29.

99. परमार्थस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/30

100. यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च।
तत्रैव
अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसंबन्ध।
तत्रैव

101. अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/40.

102. जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। .... जीवस्यापि अविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्य-विवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति।
तत्रैव, 2/3/46.

103. संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणम्।
शंकराचार्य-केनोपनिषत् के भाष्य की प्रस्तावना में।

104. न हि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' (बृह०, 4/3/23) इत्यादिश्रवणात्।
ब्र०शां०भा०, 2/3/40.

105. वाचस्पति मिश्र, भामती, 1/4/3.

106. ततश्च निश्चितमेतदवगम्यतेमिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति।
ब्र॰शां॰भा॰, 2/3/46
द्रष्टव्य, वहीं आगे–
जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्।

107. तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः- 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/46.

108. युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः, विवक्षितांशसंभवात्। न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कंचिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते।
ब्र॰शां॰भा॰, 3/2/20.

109. आभासस्य चाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्य उपदेशोपपत्तिः।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/50.

110. योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ....।
बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/7.

111. तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति, ...।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/30

112. देखें, वहीं आगे।

113. एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधि-धर्मान्वृद्धिह्रासादीन्।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 3/2/20

114. द्रष्टव्य, छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, 6/3/2

115. ऐतरेयोपनिषद पर शंकरकृत भाष्य, 3/3

116. अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिर्णोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। .... एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति।
ब्र॰शां॰भा॰, 1/2/20.

117. बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्यैव घटादिसंबन्धनिमित्तम्।
ब्र॰शां॰भा॰, 2/3/17.

118. घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्।
विवेकचूडामणि-565

119. ब्रह्मसूत्रभाष्य के उपोद्घात की टीका में भामतीकार।
देखें–ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य एवं भामती, भाग–1, सं॰ एवं॰ अनु॰–स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम्, वाराणसी, पृ॰ 38.

120. .... अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य ....।
ब्र॰शां॰भा॰, 1/1/2.

121. न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत संभवति।
शंकराचार्य, गीताभाष्य, 4/2.

122. परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्धयुपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति।
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2/3/30.

123. विवेकचूड़ामणि–167.

124. मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयः।
तैत्तिरीयोपनिषद–भाष्य, ब्रह्मानन्द–वल्ली का तृतीय अनुवाक।

125. ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात् कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
विवेकचूड़ामणि–167.

126. बुद्धिबुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्।।
विवेकचूड़ामणि–184। द्रष्टव्य–वहीं आगे 191 तक।

127. विवेकचूड़मणि–167, 169–170.

128. अज्ञानभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः।
माण्डूक्योपनिषद्–5.

129. एतस्मिन्सम्प्रसादे, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति सम्प्रसादः। .... इह तु सम्यक् प्रसीदतीत्यतः सुषुप्तं सम्प्रसाद उच्यते।
बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/15 पर शंकरकृत भाष्य।

130. द्रष्टा दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्म ज्योतिः स्वभावायाः। अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।
शंकराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, 4/3/32.

131. अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम् अचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।
माण्डूक्य उपनिषद्–7.

132. पं॰ बदरीनाथ शुक्ल, वेदान्तसार की व्याख्या में, पृ॰ 179, मोतीलाल बनारसीदास।

133. अहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति।
ब्र॰शां॰भा॰ उपोद्घात।

134. अज्ञातप्रत्यग्रूपे साक्षिणि। गोविन्दानन्द, रत्नप्रभा, अच्युतग्रन्थमाला–काशी, पृ. 54.

135. अद्वितीयो देवो द्योतनस्वभाव: सर्वप्राणिषु संवृत:। कर्माध्यक्ष: सर्वप्राणिकृतविचित्र-कर्माधिष्ठाता। सर्वप्राणिषु वसति। सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा। 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (पा॰सू॰, 5/2/91) इति स्मरणात्। केवलो निरूपाधिक:। श्वेताश्वतर उप॰भा॰, 6/11.

136. द्रष्टव्य–A.K. Chatterjee, R.R. Dravid: The Concept of Saksi in Advaita Vedanta, Banaras Hindu University, 1939.

137. कर्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्त विषयानपि।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपु:॥
विद्यारण्य, पंचदशी, 10/9.

138. नृत्यशालास्थितो दीप: प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपेयदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते॥
अहंकार धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्॥
पंचदशी–10/11–12.

139. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/1.

140. अस्ति कश्चित्स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बन:।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षण:॥
विवेकचूड़ामणि–125.

141. विवेकचूड़ामणि–217.

142. विवेकचूड़ामणि–135.

143. पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तित: श्रुते:।
तन्निषेधावधि साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते॥
विवेकचूड़ामणि–210.

144. "कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम्"
"कार्यानन्वयित्वे सति व्यार्तकत्वमुपाधित्वम्"

145. मुण्डकोपनिषद् 3/1/1.

❑ ❑ ❑

द्वितीय अध्याय

आचार्य शंकर के अनुसार मानव-नियति का स्वरूप

मनुष्य के स्वरूप एवं उसके नियति की व्याख्या दर्शन का मूल लक्ष्य रहा है। समस्त औपनिषदिक चिन्तन की मूल विशेषता दार्शनिक चिन्तन को आत्माभिमुख करने की रही है। स्वयं ज्ञाता या अनुभविता का स्वरूप क्या है? उसका इस अनुभूयमान परिपार्श्व से क्या सम्बन्ध है? क्या यह परिपार्श्व या जगत् उस अनुभविता से पृथक् है? अथवा क्या यह स्वयं उसी की विसृष्टि है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न स्वयं अपने को जानने की जिज्ञासा के मध्य उठते हैं, और वेदान्त इनका उत्तर देने का प्रयास करता है। वेदान्तीय धारा, अथवा कुछ कम व्यापक दृष्टि से कहें, तो अद्वैतीय धारा की मुख्य विशेषता ही इसके जिन दो मूल मान्यताओं से निर्धारित होती है उनमें पहला यह है कि अद्वैत-चिन्तन दार्शनिक गवेषणा का केन्द्रबिन्दु स्वयं "मनुष्य" को बनाता है और दूसरा यह कि अद्वैत मत में समस्त अनुभूयमान जगत् के मूल में जो सत्ता है वही मानव-सत्ता भी है, मनुष्य ही परमतत्व स्वरूप ब्रह्म है।[1] इस प्रकार अद्वैत-चिन्तन की विशेषता न केवल दार्शनिक चिन्तन की पद्धति में आमूल परिर्वतन लाने की है (सच कहा जाए तो चिन्तन की धारा को "दार्शनिक संपुट" ही इसी पद्धति द्वारा प्रदान की जा सकती है क्योंकि "विषय" सम्बन्धी चिन्तन तो दर्शनेतर विषयों का गवेष्य है, जो ''विषय'' की सत्ता को मानकर चलने पर ही संभव है। स्वयं "विषय" को प्रश्नचिह्न के दायरे में खड़ा करना, उसे कोष्ठीकृत करना और अन्ततः यह दिखाना की विषय-विषयी का भेद एक भ्रम है--दर्शन द्वारा ही संभव है।) अपितु जो निष्कर्ष अद्वैत मत द्वारा प्रस्थापित किये गये हैं वह भी नितान्त विलक्षण है कि एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है और वह इस जीव से पृथक् नहीं है।

बंधन–एक अप्रमाणिक अस्तित्व

शंकराचार्य के अनुसार एक मात्र आत्मा की ही पारमार्थिक सत्ता है। परन्तु

जन्मना हम अपने को एक ऐसे संसार में पाते हैं जहाँ हमारे समान ही दूसरे अन्य कर्ता, भोक्ता रूप मनुष्य हैं, जहाँ हमसे इतर रूप में एक वस्तुनिष्ठ जगत् है और पग-पग पर जहाँ नानात्व परिलक्षित होती है। यदि परमतत्व सच्चिदानन्द रूप, अवाङ्मनसगोचर, अद्वितीय है तो उसकी प्रतीति उसी रूप में क्यों नहीं होती? क्यों इसके विपरीत हमें देश, काल, वस्तु की सीमाओं से परिच्छिन्न, जड़-दुखादि मिश्रित, इन्द्रियादि से ग्राह्य नानात्व की प्रतीति होती है? परमतत्त्व यदि सत्ता, ज्ञान और आनन्द का घन है, अद्वितीय है, तो फिर संसार में सतत् अनुभूयमान अनेक (मैं, तुम, वह इनके द्वारा बोध्य), विविध विकारों (जन्म, मृत्यु आदि) से युक्त, अज्ञानी, नाना प्रकार के शोक व मोह से पीड़ित, असंख्य, कर्त्ता, भोक्ता, अनुभविता रूप मनुष्य कैसे? एकमात्र आत्मतत्व की सत्ता मानने के बावजूद शंकर "नानात्व" की प्रतीति का निषेध नहीं करते। "एक वस्तुनिष्ठ जगत् तथा उसमें नाना मनुष्यों के अस्तित्व" की हमें प्रतीति होती है, शंकर इसे अस्वीकार नहीं करते। बल्कि वह तो इस प्रतीति के विश्लेषण से ही अपने दर्शन का आरम्भ करते हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखने से पूर्व उपोद्घात के रूप में अध्यास-भाष्य लिखना और उससे ग्रन्थ का आरम्भ करना, इसी बात को द्योतित करता है।[2] यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि शंकर "नानात्व" को अविद्या कहते हैं फिर भी इसे नैसर्गिक और अनादि बताकर यह दिखलाते हैं कि एकमात्र अद्वितीय परमतत्व रूप "आत्म" का "अनात्म रूप नानात्व" में जो आभास होता है वह नैसर्गिक है और हर मनुष्य जन्मना इसे अर्जित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो "नानात्व रूप जगत्" में ही वह पैदा होता है। यही अविद्या या नानात्व शंकर में बंधन है। अतः मानव-बन्धन शंकराचार्य के अनुसार उसकी स्थितिप्रदत्तता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के आरम्भ में ही शंकर स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि आत्म एवं अनात्म में किसी तरह का सम्बन्ध सम्भव नहीं, फिर भी वस्तुस्थिति यह है कि आत्म एवं अनात्म दोनों परस्पर अध्यस्त रूप में दिखायी देते हैं। अतः आत्म एवं अनात्म, विषयी एवं विषय में इतरेतरभाव की अनुपपत्ति होने पर भी इनके बीच सम्बन्धाभास, भले ही वह मिथ्या हो, लेकिन होता है। इस तरह एक की अनेक रूप में उपलब्धि, आत्म की अनात्म रूप में प्रतीति, अविद्यात्मक होने पर भी, होती है। अतः शंकराचार्य भाष्य का आरम्भ ही माया,अविद्या या अध्यास की सिद्धि पूर्वक करते हैं।[3] इसी अध्यास के कारण लोकव्यवहार की, कर्तृत्व भोक्तृत्व की, प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृत्व की व्याख्या सम्भव होती है।[4] शंकराचार्य लोकव्यवहार के सर्वलोकप्रत्यक्षत्व को स्वीकार करते हैं। मानव-अस्तित्व, जगत्, जगत् में उसका व्यवहार इन सबको शंकराचार्य स्वीकार करते हैं। इन सबकी स्वीकृति परमत्व को एकमात्र अद्वितीय निर्गुण निर्विशेष मानने पर भी कैसे युक्तिप्रद हो, इसीलिये

शंकराचार्य "अध्यास" की नितान्त मौलिक कल्पना करते हैं जिसके सहारे वे इनके बीच की अनुपपत्ति की व्याख्या करने में समर्थ होते हैं।

"नानात्व" के सर्वसाधारण सत्य को शंकराचार्य स्वीकार करते हैं, परन्तु इसे वह पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं मानते। परमार्थतः नहीं होते हुये भी इसका दिखना ही बंधन है। शंकर के अनुसार मनुष्य ब्रह्म ही है। अज्ञानवश वह अपने को देहादि से बद्ध समझ ज्ञाता, कर्त्ता एवं भोक्ता समझता है तथा अपने से इतर रूप में ज्ञेय, कार्य एवं भोग्य रूप विषय जगत् को देखता है। यही उसका बंधन है। मनुष्य अनादि काल से इस बन्धन से ग्रस्त है। उसके बंधन को, जो कि एक तथ्यता है, नकारा नहीं जा सकता। यह अवश्य है कि वह इस बंधन से अपने को मुक्त कर सकता है। एकमात्र परमतत्त्व के होते हुये नाना रूप जगत् का दिखना, साथ ही जीव, ईश्वर आदि रूपों में उसका भास होना ही बंधन है। यह बंधन वस्तुतः "मनुष्य" का है[5] क्योंकि यह वही है जिसे इस नानात्व की प्रतीति होती है। आत्मा का विभिन्न जीवों के रूप में भास, अथवा कहें कि जीव का जीवत्व ही बंधन है। यह जीवत्व अनादि है।[6] इसी "जीवत्व" के कारण नानात्व की प्रतीति होती है। जीव का ब्रह्म रूप होते हुए भी स्वयं को अल्पज्ञ, सीमित, दुःखी समझना, आत्मरूप होते हुये भी अनात्म के धर्मों का स्वयं पर अध्यास करना, यही बंधन है। आत्मा का अविद्योपहित होना अथवा अन्तःकरणविशिष्ट होना ही उसका जीवभाव है। हम कह सकते हैं कि आत्मा का नाना देहेन्द्रियान्तःकरणादि से विशिष्ट होना ही उसका बंधन है। इस तरह जीव में जो "व्यक्तित्व" है, देहेन्द्रियादि से अधिष्ठितत्व है • वही उसकी परिच्छिन्नता, अल्पता, अज्ञता, दुःखरूपता का कारण है। आत्म का अनात्म के धर्मों से इतरेतर अध्यास रूप जो "अहमिदम्" "ममदेम्" रूप व्यवहार है, वही सभी अनर्थों का मूल और जगद्भाव का प्रचालक है। शंकराचार्य बार-बार कहते हैं कि देह-इन्द्रिय आदि से पृथक् एवं परे जो आत्मा है वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। देह, इन्द्रिय के धर्मों का इस आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अनादि अध्यास के कारण वह स्वयं को इनसे तादात्म्य रूप में देखता है और नाना दुःखों का भागी होता है। बंधन की अवस्था में भी सभी जीव वस्तुतः ब्रह्म ही हैं। बंधन में पड़े हुये इस मनुष्य को उसके दुःखों आदि से आप्लावित अप्रामाणिक अस्तित्व से प्रामाणिक अस्तित्व की ओर ले जाना, ब्रह्मात्मैक्य भाव का साक्षात्कार कराना ही शंकर वेदान्त का प्रमुख प्रयोजन बताते हैं।[7]

शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य का स्वयं अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान ही बंधन है। मनुष्य स्वरूपतः ब्रह्म ही है। अज्ञानवश वह अपने इस स्वरूप को भूले हुये है और अपने को देहादिबद्ध समझता है तथा उनके धर्मों को स्वयं पर

आरोपित करता है। वेदान्त मनुष्य को स्वयं को जानने की बात कहता है। स्वविषयक अज्ञान ही "समस्त प्रपञ्च" का कारण है। यही उसकी अप्रामाणिक स्थिति है। स्वस्वरूप का बोध, यह बोध कि स्वतन्त्रता या मुक्ति उसका स्वभाव है तथा प्रपञ्चबद्धता भ्रामिक है, मनुष्य की प्रामाणिक स्थिति है। निस्सन्देह इस अवस्था में वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि यह स्वयं मनुष्यता का अतिक्रमण है। फलतः शंकर के अनुसार मानव नियति अन्ततः मानवीय नहीं रह जाती।

निर्गुण, निर्विशेष परमचैतन्य की जीवभावापन्नता ही जगद्भाव का मूल है और समस्त प्रपञ्च का कारण है। यह जीवभाव आत्मा का अन्तःकरण से अवच्छिन्न रूप है। बुद्धि आदि से उपहित चैतन्य होना ही, जीव का प्रमुख लक्षण है। परमार्थतः मनुष्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा तो अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी व नित्य मुक्त है। उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूप संसारित्व बुद्धि रूप उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही है।[8] मनुष्य "विज्ञानमय" होने के कारण तद् (बुद्धि) गुण सार (प्रधान) है।[9] बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष आदि सार हैं जिसका ऐसा संसारित्व अर्थात कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूप संसारित्व वस्तुतः बुद्धि रूप उपाधि के सम्बन्ध से ही है। बुद्धि रूप उपाधि के संयोग से ही "आत्म" का मनुष्य रूप में अवभास होता है। बुद्धि रूप उपाधि से सम्बन्ध ही आत्मा का संसारित्व है। यह बुद्धि रूप उपाधि से सम्बन्ध जब तक है तभी तक जीवत्व है, सांसारित्व है। वास्तव में बुद्धि रूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से अतिरिक्त कोई जीव वस्तु है ही नहीं।[10] आत्मा का यह जो बुद्धि रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है वह मिथ्याज्ञानपुरस्सर है।[11]

मनुष्य के बंधन को ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और संवेगात्मक तीनों दृष्टि से देखा जा सकता है।[12] एकमात्र अद्वितीय प्रज्ञानधन चैतन्य का नाना प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण व्यवहार में आभासित होना, उसका ज्ञान परक बंधन समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जीव जो कि प्रमाता रूप है अपने से पृथक् वस्तुनिष्ठ रूप में प्रमेय जगत् को देखता है। जीव का यह प्रमातृत्व अध्यासपूर्वक है। जीव वस्तुतः आत्मरूप है। अनात्म के अध्यास से ही "अहमिदम्" "ममेदम्" इस लोक व्यवहार की सिद्धि होती है। शरीर एवं इन्द्रियों में अहं एवं मम की प्रतीति के बिना प्रमातृत्व उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि बिना इसके इन्द्रियादि का व्यवहार सम्भव नहीं और इन्द्रियादि के उपयोग के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवहार सम्भव नहीं।[13] इस तरह सारा का सारा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार, चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, मिथ्याज्ञान जन्य है, अध्यास पुरस्सर है। वस्तुनिष्ठ जगत् वस्तुतः भ्रम है क्योंकि वह अतद् में तद् की प्रतीति है—अतस्मिन्तद्बुद्धि है। अधिष्ठान में अध्यस्त की

सत्ता नहीं होने से यह मिथ्या है।[14] एवंभूत हम देखते हैं कि जीव का प्रमातृत्व एवं उसका समस्त ज्ञान व्यापार एक भ्रान्त प्रतीति है, उसका अज्ञान है, उसका बन्धन है।

जिस तरह मनुष्य का प्रमातृत्व उसका बंधन है, उसी तरह उसका कर्तृत्व भी उसका बन्धन है। स्वभावतः मनुष्य अकर्ता है। कर्तृत्व उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। जीव में यह जो कर्तृत्व है, वह उपाधि धर्म के अध्यास से ही है।[15] बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार यह प्रपंच नामरूप और कर्म से युक्त है।[16] यह जगत् क्रियाकारक फलमात्मा है। मनुष्य की इच्छायें, कामनायें उसे कर्म करने को वशीभूत करती हैं और कर्म स्वभावतः बाँधते हैं।[17] इच्छायें कर्म को जन्म देती हैं, कर्म फल को। इस तरह कर्म-फल भोग रूप संसार का चक्र चलता रहता है।

कर्म के सम्बन्ध में हमने देखा कि इच्छाओं से वशीभूत होकर मनुष्य क्रियारत है। समस्त कर्म की जननी काम है।[18] पर मनुष्य की मूलभूत कामना क्या है? मनुष्य स्वभावतः दुःख से बचना चाहता है और सुख को पाना चाहता है। इस तरह कर्तृत्व के समान ही भोक्तृत्व भी उसका स्वभाव प्रतीत होता है, पर ऐसा वह भी नहीं है। कर्तृत्व के समान ही भोक्तृत्व भी अध्यासजन्य है, अतः मिथ्या है, भ्रम है, बन्धन है। मनुष्य स्वभावतः सुख की ओर भागता है, पर सुख की अत्यधिक लिप्सा अन्त में दुःख ही पहुँचाती है। पुनः कोई भी ऐसा सुख नहीं है जो दुःख से अमिश्र हो। और जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह कि सुख भी आध्यासिक है। मनुष्य जो कि आत्मारूप है, देह, इन्द्रिय और जागतिक वस्तुओं में आत्मबुद्धि कर उनके क्षय या अभ्युदय से अपना क्षय या अभ्युदय समझता है। शंकराचार्य कहते हैं कि पुत्र-पत्नी के सुख-दुःख को व्यक्ति अपना सुख-दुःख समझता है, यह आत्मा का उनपर अध्यास के ही कारण होता है।[19] बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद सें जो बात उभरती है वह यह कि पति, पत्नी, पुत्र, समाज, प्रतिष्ठा, कर्त्तव्य आदि "आत्मा" को प्रिय लगने से प्रिय लगते हैं, स्वयं इनकी प्रेमास्पदता नहीं है।[20] इस तरह समस्त आनन्द का स्रोत स्वयं व्यक्ति है, उसकी आत्मा है। आत्मा ही सर्वाधिक एवं एकमात्र प्रेमास्पद है। उसकी प्रेमास्पदता का कारण उसका आनन्द रूप होना है। अज्ञानवश व्यक्ति बाह्य जगत् में सुख की खोज करता है, जबकि स्वयं व्यक्ति का स्वरूप ही सुखरूप है। बाह्य जगत् में सुख की खोज तथा दुःख-मुक्ति का उपाय ढूढ़ना मनुष्य का (वेदनात्मक) बंधन है। शंकर के अनुसार समस्त वेदान्त व्यक्ति को बाह्य जगत् में इस तरह से तुष्टि के मार्ग को ढूढ़ने से विरत होकर आत्मानुसंधान करने को कहता है क्योंकि आनन्दस्वरूप होने के कारण आत्मा सर्वाधिक प्रेमास्पद है। "इस

तरह ब्रह्म के बजाए वस्तुनिष्ठ जगत् देखना, मनुष्य का ज्ञानात्मक बंधन है और आत्म (ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्य किसी को श्रेय समझना, आनन्दप्रद समझना, उसका भावात्मक बंधन है।"[21] यह दूसरे प्रकार का बंधन का जो रूप है वह अधिक महत्व रखता है क्योंकि यही हमें विषय-भोगों से बाँधता है। मनुष्य का सारा कर्मव्यापार आनन्द प्राप्ति के निमित्त ही होता है; यही मूल कामना है। वस्तुतः यही प्रधान बंधन है। तृष्णा रूपी आग को बुझाने के लिये ही मनुष्य कर्म करता है जो उसे पुनः फल भोग की श्रृंखला में बाँधते हैं। जगत् भोगों के लिये आमन्त्रित करता है। जीव नाना प्रकार के विषय भोगों में "आनन्द" की मिथ्या खोज करता है। पर अन्ततः ये विषय भोग उद्वेकर और क्षणिक होते हैं। अतः सत् और असत् का अविवेक तो महत्वपूर्ण है ही, श्रेय और प्रेय का अविवेक भी उतना ही महत्वपूर्ण है—वस्तुतः इसका भ्रम ही हमें जगत् में "चिपकाये" रहता है

अद्वैत मत में सत्य वह है जो त्रिकालाबाधित हो।[22] तत्त्व अपने स्वभाव से विच्युत नहीं होता है। अतः आत्मा जो कि कूटस्थ नित्य है, वह बन्धन एवं मुक्ति से अतीत है। अस्तु, जीव का जो बंधन दिखता है, यदि वह वास्तविक हो, तब तो उससे मुक्ति संभव ही नहीं है। समस्त भारतीय दर्शन मानवीय बंधन एवं उससे मुक्ति को स्वीकार करता है। शंकर कहते हैं कि यदि बन्धन वास्तविक होगा तब तो उससे मुक्ति असम्भव है।[23] अब यदि मुक्ति सत्य है तो यह मानना होगा कि बन्धन भ्रम था, मिथ्या था। इस तरह शंकराचार्य बंधन को मिथ्या मानते हैं। यह एक व्यावहारिक सत्य है, पर तात्विक सत्य नहीं है। जीव का बंधन व्यावहारिक है, परर्माथतः वह नित्य मुक्त है। बंधन वस्तुतः रज्जुसर्पवत् भ्रम है। जिस प्रकार भ्रम में सर्प की प्रतीति होती है और पश्चात् ज्ञान से वास्तविक रज्जु की उपलब्धि होती है जो कि भ्रामिक अवस्था में भी उसी प्रकार वर्तमान रहता है तथा अध्यस्त के गुण दोष से कथमपि प्रभावित नहीं होता है, उसी प्रकार अधिष्ठानभूत यह आत्मा "अनात्म" के गुण दोष से तनिक भी प्रभावित नहीं होता है।[24] इस प्रकार बंधन की अवस्था में भी सभी जीवों का वास्तव रूप ब्रह्म है।[25] जीवों का जन्म-मरण रूप सांसारिक व्यापार और प्रपञ्च रूप जो बंधन है, वह तत्वतः मिथ्या है। अन्य वेदान्त दर्शनों से अद्वैत का यही पार्थक्य है कि इसमें जीव की परिच्छिन्नता, अनेकता, सीमा, अपूर्णता, दुःखरूपता को वास्तविक न मान प्रातीतिक माना गया है। शंकर की यही विशेषता है कि वे "मोक्षवाद" की तार्किक परिणति "बंधन" के मिथ्यात्व में दिखलाते हैं।[26] अतः बन्धन वस्तुतः एक गहरी निद्रा है, एक विस्मरण है, एक भ्रम या एक मूर्च्छा है। आत्मा न तो कभी बद्ध था और न रहेगा। अतः आत्मा का वस्तुतः "पतन" ही नहीं होता है।[27]

** ** ** ** ** **

"मानव नियति" की खोज भारतीय दर्शन की मूलभूत समस्या रही है। शंकराचार्य के समस्त दर्शन का लक्ष्य मानव-स्वरूप का विवेचन और उसकी नियति विषयक मीमांसा रही है। दु:खों से घिरे और संसारचक्र में "पतित" मनुष्य की नियति विषयक अन्वीक्षा में हम अस्तित्ववादी विश्लेषण पद्धति पाते हैं। शंकर का समस्याओं को उठाने का ढंग निस्संदेह अस्तित्वपरक है। दु:ख क्या है? मनुष्य दु:खों में क्यों पड़ा है? क्या इससे मुक्ति सम्भव है अथवा अपने दु:खों को स्वीकार करना ही हमारी भवितव्यता है? भय क्या है? दूसरा हमारे लिये क्यों भयास्पद है? सांसारिक विषयों से हम क्यों 'चिपकना' चाहते हैं? पुत्र, धन-धान्य, ज्ञान हमें इतना प्रिय क्यों लगता है? क्या इनकी प्रेमास्पदता स्वयं में है? आनन्द क्या है? आनन्द का स्रोत क्या है? क्या हम गलत जगह आनन्द को ढूढ़ने की चेष्टा तो नहीं कर रहे हैं? ऐसा क्यों है कि कोई भी सुख दु:ख से अमिश्र नहीं है? जरा, मरण, व्याधि को देखते हुये भी हमारी जीने की इच्छा समाप्त क्यों नहीं होती? क्या मृत्यु हमारे जीवन का अन्त है? मृत्यु हमारी चरम नियति है अथवा इससे परे भी कुछ है? यदि इस मृत्यु के बाद पुन: जन्म होना है और फिर उसके बाद बाद पुन: मृत्यु होनी है, तो क्या इस श्रृंखला में हमें सदा बंधे रहना है? अथवा हमारी इनसे मुक्ति सम्भव है? क्या हम अपने कर्मों के लिये स्वतन्त्र हैं? यदि स्वतन्त्र हैं तो क्या ये कर्म ही हमें अपने फलों को देने में समर्थ होते हैं? यदि ऐसा है तो ईश्वर की क्या आवश्यकता है? क्या ईश्वर ने हमारी सृष्टि की है? क्या हमारे कर्म ईश्वर द्वारा पूर्व नियत हैं? स्वयं हमारा स्वरूप क्या है? जीवन, मृत्यु, सुख, दु:ख क्या स्वयं हमारा स्वभाव है। अथवा हम वस्तुत: इनसे परे हैं? इस प्रकार की अनेक अस्तित्वपरक समस्याओं का वेदान्त और उसकी परम्परा में शंकर समाधान करने की चेष्टा करते हैं। हम आगे के पृष्ठों मे यह देखने की चेष्टा करेंगे कि मृत्यु क्या हमारे जीवन का अन्त है? मृत्यु के अतिरिक्त हम मानव-दु:ख का विश्लेषण करेंगे, साथ ही यह देखेंगे कि "दूसरा" क्यों भयास्पद लगता है? हम आनन्द के स्वरूप का भी विश्लेषण करेंगे तथा साथ ही यह देखने की चेष्टा करेंगे कि सारा का सारा मानवीय व्यापार क्या "आत्म" को ही परिपुष्ट करने का साधन तो नहीं है, जैसा कि हम सार्त्र के दर्शन में पाते हैं।

मृत्यु : मानव नियति के रूप में

मानव-अस्तित्व के स्वरूप एवं नियति के सन्दर्भ में "मृत्यु" एक घटना मात्र न होकर अपना एक दार्शनिक महत्त्व रखती है। कठोपनिषद् में नचिकेता "मृत्यु" के पास जाकर मृत्यु (यम) से उसका रहस्य पूछता है।[28] नचिकेता को यम नाना प्रकार के सांसारिक उपभोगों एवं विद्याओं को देने की बात करता है, पर मृत्यु

सम्बन्धी प्रश्न नहीं करने को कहता है। लेकिन अन्ततः नचिकेता के अपने स्वरूप एवं नियति विषयक जिज्ञासा की दृढ़ता से प्रभावित हो, यम उसे मृत्यु सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है। मृत्यु सम्बन्धी ये ही विचार हम श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरे वेदान्त ग्रन्थों में भी पाते हैं। मृत्यु मानवीय अस्तित्व की समाप्ति नहीं है। यद्यपि यह अवश्य प्रतीत होता है कि मृत्यु मनुष्य की समाप्ति है, पर वस्तुतः मनुष्य की आत्मा कूटस्थ नित्य एवं शाश्वत है।[29] यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न तो मरता है। मानव देह अवश्य समय के प्रभाव से जीर्ण हो जाता है, मृत्यु इसी जीर्ण देह की समाप्ति है। तो क्या मृत्यु में मनुष्य का देह से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है? यदि देह से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तब तो मनुष्य का बन्धन ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि देहाबद्धता ही तो आत्मा का बंधन है। शंकराचार्य यहाँ भारतीय दर्शनों की परम्परानुसार कहते हैं कि मृत्यु वस्तुतः स्थूल शरीर की ही समाप्ति है। पुनः मृत्यु के बाद "पुनर्जन्म" होता है। अतः मृत्यु वस्तुतः आत्मा के जीर्ण देह रूपी वस्त्र का परित्याग है।[30] इस तरह "जीवन" यदि मृत्यु से नष्ट नहीं होती और वह आगे के जन्मों में न केवल सुरक्षित रहती है बल्कि नये-नये रूपों में ढलती है, तो मृत्यु क्यों नहीं वरणीय है? मृत्यु के बाद पुनर्जन्म वस्तुतः उन्हीं प्रक्रियाओं की व्यर्थ पुनरावृत्ति है।[31] इसके अतिरिक्त यह जीवन सुखप्रद नहीं कि इसके बार-बार आवृत्ति की इच्छा की जाए।[32] इसीलिए "मृत्यु" की समस्या को शांकरवेदान्त में अनेको बार के जन्म एवं मरण से जोड़कर, जिसे कि संसारचक्र कहते हैं, देखा गया है। शंकर के लिये केवल सम्मुख स्थित मृत्यु ही नहीं भयास्पद है अपितु भयास्पद है अनेकों बार की मृत्यु। जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है, अतः मृत्यु से बचने का उपाय यही है कि जन्म ही नहीं मिले। इस तरह मृत्यु से मुक्ति का उपाय जन्म से मुक्ति का उपाय है अथवा कहें कि जन्म एवं मृत्यु दोनों से मुक्ति का उपाय है। तो क्या इस तरह की मुक्ति सम्भव है? जहां सार्त्र इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देंगे, शंकर के अनुसार यह सम्भव है क्योंकि मनुष्य की आत्मा "मृत्यु" एवं ''जन्म'' से परे है।

अब यदि आत्मा जन्म एवं मृत्यु से परे है, कूटस्थ है, शाश्वत है, अमर है तो जन्म एवं मृत्यु दोनों आकस्मिक घटनायें हैं। जीवन एवं मरण दोनों मनुष्य के लिये महत्त्व नहीं रखते, जो बात उसके लिए महत्त्व रखती है वह है जीवन से लगाव एवं मृत्यु से भय। जीवन से लगाव एवं मृत्यु से भय वस्तुतः एक बहुत बड़े भ्रान्ति पर आधारित है, वह भ्रान्ति है आत्मा पर देह के धर्मों का अध्यास। शंकर इसी अध्यास से बचने को कहते हैं ताकि यह जो जीवन से लगााव है और जिसके कारण हमें मृत्यु से भय लगता है, वह दूर हो सके। यही श्रेय का मार्ग है, मृत्यु से मुक्ति का मार्ग है।

दुःख : मानव नियति के रूप में

भारतीय दार्शनिकों पर बहुधा निराशावादी होने का आरोप लगाया जाता है। जीवन के कष्ट, सीमा, विदूपताओं और दुःखात्मक स्वरूप पर वे अत्यधिक बल देते हैं, जरा, मृत्यु एवं व्याधियों से भयभीत ये दार्शनिक जीवन को दुखात्मक मान उससे मुक्ति (पलायन) का मार्ग तलाशते हैं–ऐसा आरोप बहुधा भारतीय दार्शनिकों पर लगाया जाता है। शंकराचार्य भी मानवीय जीवन को दुःखात्मक मानते हैं। दुःख "जगत् में स्थित मनुष्य" की मूलभूत संरचना में है और इसका कारण मानव-अस्तित्व का स्वस्वरूप-विस्मरण है। मनुष्य अज्ञानवश जगत् में दुःख भोगता है।[33] समस्त मानव-व्यापार इच्छाओं की तुष्टि के लिए होती हैं और इच्छायें हमारी अल्पता या अभाव से जागृत होती हैं। यह अल्पत्व से जनित तृष्णा, जो समस्त दुःखों की बीज है, वस्तुतः मनुष्य के स्वरूप में नहीं है। शंकराचार्य दुःख या अभावमूलक इच्छाओं से मुक्ति संभव मानते हैं क्योंकि मनुष्य परमार्थतः भूमा है, अनन्त है, आनन्द रूप है। आनन्द स्वरूप आत्मा अपने इस स्वरूप को भूल अपने को देश-काल से आबद्ध सीमित अहमात्मा समझता है और स्वयं को इसके दुःख से दुःखी तथा सुख से सुखी समझता है। यही जीव का बन्धन है। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि जिन दुःखों की चर्चा यहाँ की जा रही है वह बाह्य कारण जन्य हमारा सामान्य दुःख न हो उससे कहीं अधिक मौलिक एवं तात्विक है। अतः दुःख से हमारा अभिप्राय मानव-अस्तित्व की क्षणिकता, सीमितता, आगन्तुकता एवं निरर्थकता से है। शंकराचार्य जीवन की दुःखरूपता को स्वीकार करते हैं, अतः वे इसे स्वीकार कर इससे मुक्ति की बात करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य अपने मूल स्वरूप में जीवन के दुःखों से अतीत आनन्दरूप है। अतः शंकर दुःख को मानवीय जीवन में स्वीकार करने के बावजूद निराशावाद से स्वयं को बचा लेते हैं। सार्त्र आदि अस्तित्ववादियों में इस दुःख से मुक्ति का उपाय नहीं है। दुःख का सामना करना ही उनके मत में प्रामाणिक अस्तित्व है। इसके विपरीत शंकराचार्य दुःखों से अतिक्रमण की बात करते हैं। राग, द्वेष, सुख, दुःख, इच्छा आदि वस्तुतः मन के धर्म हैं। मन के इन धर्मों का आत्मा पर आरोपण ही हमारे दुःख का कारण है, अतः जैसे ही हम स्वयं को देह, इन्द्रिय या मन आदि से पृथक् आत्म रूप परमतत्व समझते हैं, हमारे दुःख दूर हो जाते हैं। अतः मानव-अस्तित्व के दुःखात्मक होते हुये भी उसकी नियति दुःख नहीं है।[34] आत्म-साक्षात्कार से मनुष्य के सारे दुःखों का अन्त हो जाता है।[35]

यहाँ यह स्पष्ट करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि दुःख का दुखात्मक स्वरूप ही मानव-मुक्ति या स्वातन्त्र्य को सिद्ध करता है। किसी दुखाभाव रूप स्थिति

के परिप्रेक्ष्य में ही कोई स्थिति हमें दुखात्मक लगती है। यदि अनिवार्य रूप से केवल दुःख ही दुःख हो तो दुःख-बोध भी नहीं होगा। दुःख का होना ही इस बात की पूर्वमान्यता लिये हुये है कि इस स्थिति से भिन्न एक स्थिति है। पुनः नैसर्गिक होते हुये भी दुःख हमारी नियति नहीं है। हम स्वयं अपने दुःखों के लिये उत्तरदायी हैं। ग्रीक ट्रेजेडी के विपरीत भारतीय दर्शनों के अनुसार व्यक्ति अपनी दुःखपूर्ण नियति के सम्मुख असहाय्य नहीं है। शंकर भी कर्म-फल नियम को स्वीकार करते हैं और व्यक्ति को स्वयं अपने दुर्दशा का कारण बतलाते हैं। दुःख नैसर्गिक होते हुये भी नैमित्तिक है।[36] यह अज्ञान निमित्तक है। अज्ञानवश ही मनुष्य अपने को दुःखी समझता है।

भय

सार्त्र के "नो एक्जिट" नाटक में "दूसरे" को नरक कहा गया है। "दूसरा" हमारी विषयिता के लिये खतरा है। वह हमें विषय बनाता है। चूँकि यह जगत् अन्य सहकृत जगत् है, अतः अन्यों के साथ सम्बन्ध में एक तनाव सार्त्र के लिये मनुष्य की अनिवार्य नियति है। अद्वैत वेदान्त में भी हम पाते हैं कि दूसरा भयास्पद है। दूसरा हमारी सीमा है। "दूसरा" अद्वैत वेदान्त में न केवल दूसरे मनुष्य हैं अपितु आत्म भिन्न समस्त अनात्म। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है "द्वितीयाद् वै भयम्"। "आत्म" के अतिरिक्त "अन्य" सब भय दिखाते हैं क्योंकि ''अन्य'' हमसे पृथक्, स्वतन्त्र और हमारी अनन्तता में बाधक होता है। इसीलिये जो वस्तु हमसे जितना निकट या घनिष्ठ रहती है, वह हमें इतना ही कम "भयभीत" करती है। इसीलिये हम अधिक से अधिक लोगों को, वस्तुओं को "अपना" बनाना चाहते हैं। शंकर के अनुसार "इतर" को अपना बनाने का यह तरीका ही गलत है। शंकराचार्य के अनुसार यह "अपना" और "पराया" का बोध ही एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है। अविद्या या तद्जन्य देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण से अवच्छिन्न होने पर ही चेतना में 'अहमिदम्' 'ममेवम्' इस अहंकार का उदय होता है। शरीर और अन्तःकरण की सीमा के परिप्रेक्ष्य में ही "तदितर" भाव का उदय होता है। मनुष्य की आत्मा वस्तुतः देशकालातीत है और "अन्य" का बोध देशजन्य है। "अपनत्व" की बात स्व देशकाल की अपेक्षा रखती है, अपने शरीर-मन की अपेक्षा रखती है। यह अपेक्षा वस्तुतः अविद्याकृत उपाधि है। शंकर के दर्शन की प्रमुख विशेषता उनका व्यवहार और परमार्थ का भेद है। व्यवहार में द्वैत और नानात्व होते हुये भी परमार्थतः अद्वैत है। अस्तु व्यवहार द्वैतपूर्ण होने से "अन्य" से युक्त है[37] फलतः भयकारी है। परमार्थतः एक मात्र अद्वितीय आत्मा की ही सत्ता है, अतः वहाँ कोई भय नहीं है।[38] इस तरह जहाँ सार्त्र के मत में "अन्य" के भय से मुक्ति नहीं है, वहाँ

शांकर मत में परमार्थतः एक मात्र आत्मा की ही सत्ता होने से भय का कोई स्थान नहीं है।

प्रेम

ऊपर हमने देखा कि "इतर" स्वरूपतः भय प्रदान करने वाला होता है। फिर भी हम पति, पत्नी, पुत्र, धन-धान्य, पशु-पक्षी आदि से प्रेम करते हैं। यदि दूसरे हममें भय पैदा करते हैं तो हम उन्हें प्रेम क्यों करते हैं? वस्तुतः प्रेम करके हम उन्हें "अपना" बना लेना चाहते हैं और "द्वितीय" जनित भय से बच निकलना चाहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में विस्तार से प्रेम की चर्चा की गयी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं "पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, बल्कि आत्मा के लिये। पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। संसार की समस्त वस्तुयें अपने में प्यारी नहीं होती हैं, बल्कि आत्मा के लिये होती हैं।"[39] इस तरह "अन्य" की प्रेमास्पदता स्वयं उसमें नहीं है अपितु उसकी "प्रियता" का निमित्त आत्मा स्वयं है। प्रश्न है ऐसा क्यों? मनुष्य स्वभावतः दुःख से बचना चाहता है और सुख पाना चाहता हैं। अब "दूसरा" हमारे लिये सीमा स्वरूप होता है। सीमा, अल्पता, परिच्छिन्नता दुःखों को जन्म देती है। जो परिपूर्ण है, निरतिशय है वही आनन्द है।[40] अब अद्वैत तत्त्व ही निरतिशय है, अतः वही आनन्द है। इसके विपरीत द्वैत सीमित है, परिच्छिन्न है, अतः वह दुःखरूप है। दुःख भयकारी है तथा आनन्द प्रियकारी। पुत्र-पौत्रादि में "आत्मा" का अध्यास होने से ही वे प्रिय लगते हैं। अतः वेदान्त इस "अध्यास" से बचने को कहता है। जो चीज वस्तुतः प्रियरूप है उसका श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने को कहता है। बाह्य-जगत् की वस्तुओं में तथा दूसरे मनुष्यों में जो प्रियता बोध है, वह स्वयं की अनुकूलता से ही है। अतः वास्तविक प्रिय यह आत्म ही है। आत्मा की यह प्रेमास्पदता उसके आनन्द स्वभाव के कारण है।

मूलभूत मानवीय योजना और आनन्द

ज्याँ पाल सार्त्र के अनुसार सारा का सारा मानवीय-व्यापार, उसकी कार्य योजनायें स्वनिमित्त सत् की ''स्वनिष्ठ एवं स्वनिमित्त सत्'' (ईश्वर) होने की इच्छा के विभिन्न रूप हैं। धन, दान, ज्ञान, प्रेम आदि से मानवीय चेतना स्वनिष्ठ सत् की सत्ता पाना चाहती है, ताकि वह स्वाधार एवं स्वयंभू सत्ता हो सके। पर चूँकि अपनी सत्ता से एकाकार होना तथा अपने स्वरूप को अतिक्रामी भी बनाये रखना एक साथ संभव नहीं, अतः मूल मानवीय योजना असफल होनी होती है। इसीलिये सार्त्र मनुष्य को वृथा वासना कहता है। मानवीय इच्छा के विश्लेषण

से हम देखते हैं कि वेदान्त ने भी मूल्य सम्बन्धी अदभुत निष्कर्ष निकाले। मानवीय इच्छा हमेशा किसी "विषय" से सम्बन्धित इच्छा होती है। धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र, स्त्री आदि की कामना इन "विषयों" की मूल्यवत्ता सिद्ध करती है। लेकिन बृहदारण्यक उपनिषद् में जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं, अन्ततः इनकी मूल्यवत्ता भी आत्म-तुष्टि के सन्दर्भ में ही निर्धारित होती है। अतः बाह्य जगत् में सुखान्वेषण भी अन्ततः "आत्म" को पाने का ही एक तरीका है। बाह्य वस्तुओं की मूल्यवत्ता "आत्मा" के द्वारा ही निर्धारित होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि परमतत्त्व रूप आनन्दात्मा की ही छाया या आभास रूप मात्रा लौकिक आनन्द है।[41] योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि आनन्दात्मा ब्रह्म से आनन्द के लघु सीकर (छींटें) पृथ्वी व आकाश पर बिखर रहे हैं।[42] इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी समस्त मानवीय इच्छायें आत्म सन्तुष्टि के ही विभिन्न उपाय हैं। बाह्य वस्तुओं में "आत्म तृप्ति" ढूढ़ना वस्तुतः हमारा अज्ञान ही है। हम अविद्यावश बाह्य विषयों में सुख तथा पूर्णता की तलाश करते हैं, जबकि समस्त सुखों का अजस्र स्रोत तथा निरतिशय पूर्णत्व स्वयं हमारे भीतर ही "आत्मा" रूप में छिपा है। हमारी "आत्मा" अपरिच्छिन्न है, भूमा है, अनन्त है और यही तो आनन्द है।[43] जिस पूर्णता या आनन्द की खोज में मनुष्य का सारा का सारा सांसारिक व्यापार होता है, उसकी कार्य-योजनायें होती हैं, वह पूर्णता या आनन्द स्वयं उसका स्वरूप है। उसे वह नित्य उपलब्ध है। अज्ञानवश वह उसे अपने से बाहर ढूंढ़ रहा है। अतः बाह्य विषयों की मूल्यवत्ता जिस "आत्म" से निर्धारित होती है, वही परम निःश्रेयस है, परम मूल्य है।[44]

** ** ** ** ** **

मनुष्य के लिये "मूल्य" वह होता है जो वह नहीं है तथा "तथ्य" वह है जो है। इस तरह "तथ्य" एव "मूल्य" में भेद करने की परम्परा है। मूल्य एक आदर्श है जो होना चाहिये जब कि तथ्य वस्तुस्थिति है। मानव जीवन के लिए "परम मूल्य" वह है जो उसे होना चाहिये, जो उसके लिये आदर्श है। अब यदि "परमनिःश्रेयस" ऐसा हो कि वह कभी भी "तथ्य" न बने तब तो समस्त मूल्यानुशीलन एक व्यर्थ का प्रयास होकर रह जायेगा। मूल्यों की मूल्यता इस बात की अपेक्षा रखती है कि अन्ततः तथ्य एवं मूल्य का विभाजन समाप्त हो जायेगा। सत् विहीन मूल्य निरर्थक स्वप्न मात्र है, और इनके अनुशीलन में जीवन बिताना उसे व्यर्थ गँवाना होगा। शांकर दर्शन की यही विशेषता है कि वह तथ्य एवं मूल्य के भेद को परमार्थतः नहीं मानता। शंकर के अनुसार परमनिःश्रेयस मोक्ष है और यह मोक्ष उनके मत में ब्रह्म या आत्मा ही है। इस तरह **परमसत्** ही शंकर के

मत में **परमश्रेय** है। सत् एवं मूल्य का विभाजन उन्हें स्वीकार नहीं है।[45] ब्रह्म जो कि सिद्ध वस्तु है वह भला साध्य कैसे? समस्त दर्शन इस सिद्ध और साध्य के द्वैत की समस्या से सामना करते हैं, परन्तु उपनिषद् या वेदान्त ही सिद्ध और साध्य के अद्वैत का प्रतिपादन करता है। वह परमसत् को परम आनन्द भी मानता है। जो सत्ता है वही आनन्द है। हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे कि किस तरह शंकर जब मानव जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष का वर्णन करते हैं, तो वह वस्तुतः परम सत्य का-ब्रह्म-का वर्णन कर रहे होते हैं। मोक्ष परमनिःश्रेयस और परममूल्य होते हुये भी शंकर के अनुसार परमतत्व है। सत् एवं मूल्य में जो भेद है वही शंकर के अनुसार अज्ञान है, बन्धन है। समस्त संसारचक्र इनके तादात्म्य के अज्ञान के कारण ही है।

मोक्ष हमारे जीवन का लक्ष्य है, वह परममूल्य है, परमनिःश्रेयस है। अतः मोक्ष वह है जो कि हमें प्राप्त करना है, जो कि हमें होना है। परन्तु शांकर वेदान्त में मोक्ष सर्वदा सिद्ध है, नित्योपलब्ध है, वह कूटस्थ नित्य है। ऐसी स्थिति में जो **प्राप्त** है उसको **प्राप्त करने का प्रयास,** जो हम **हैं** उसे **होने** को कहना है। अब ऐसी स्थिति तभी बन सकती है जबकि यह माना जाए कि हमारा सारा का सारा प्रयास स्वयं को भूलना और फिर उसे जानना है। यह भूलना और जानना भी भ्रमात्मक ही है। आत्मा सर्वदा सिद्ध एवं उपलब्ध है, अतः इसकी **उपलब्धि हेतु प्रयास** को तार्किक बनाने के लिये यह मानना होगा कि सर्वदा उपलब्ध होने पर भी आत्मा स्वयं ही विमोहित होता है।[46] इस प्रकार अज्ञानग्रस्त हो स्वयं को जानने का, स्वयं को पुनः प्राप्त करने का प्रयास करता है। एवं प्रकारेण जो सत् है वही मूल्य है, यह मानने के लिये, बीच में "अज्ञान" का एक आवरण मानना होगा। "अज्ञान" की अवधारणा द्वारा शंकर परमसत् को परममूल्य के रूप में व्याख्यायित करने में समर्थ होते हैं।

मोक्ष : चरम नियति

शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य परमार्थतः ब्रह्म ही है। अनादि अविद्या के कारण वह देहेन्द्रियान्तःकरणादि से अपना तादात्म्य कर लेता है और अहंकार ममकार से युक्त होकर स्वयं को शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता, सुख दुःख रूपी कर्मफल का भोक्ता मानकर जन्म-मरण चक्र में संसरण करता है। यही मनुष्य का बन्धन है। इस तरह अपने आत्म-स्वरूप का अज्ञान ही बंधन है। इस अज्ञान की निवृत्ति एवं आत्म-स्वरूप का ज्ञान अद्वैत वेदान्त में मोक्ष कहा गया है। मोक्ष अपने वास्तविक स्वरूप में में स्थिति ही है। वस्तुतः मनुष्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है।

अनादि अज्ञान के कारण वह अपने इस स्वरूप को भूल अपने को सीमित, दुःखी और संसारी समझता है। अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से—कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, प्रकाशस्वरूप ब्रह्मानन्द हूँ—मनुष्य को मोक्ष मिल जाता है। मोक्ष किसी नवीन चीज की प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। मनुष्य की वास्तविक स्थिति ब्रह्म की है। अतः मोक्ष ब्रह्म ही है। वस्तुतः आत्मज्ञान या ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान इस अर्थ में निषेधात्मक है कि यह ब्रह्मविषयक अज्ञान को नष्ट मात्र करता है। हाँ, इस अज्ञाननिवृत्ति से मुक्ति स्वतः उपलब्ध हो जाती है। इसीलिये मोक्ष को बहुधा निषेधात्मक रूप में परिभाषित किया गया मिलता है—अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः। स्वस्वरूपविषयक ज्ञान, यह ज्ञान कि मैं ब्रह्म हूँ, इस अर्थ में निषेधात्मक है कि यह ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान का ही बाध करता है, स्वयं ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता। यहाँ सामान्य ज्ञान की अपेक्षा अखण्डब्रह्माकारक ज्ञान की विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक होगा। जहाँ घटादि जड़ पदार्थ के ज्ञान में अन्तःकरण की चित्तवृत्ति घट के अज्ञान को दूर करती है तथा उसमें स्थित चिदाभास (चित्तवृत्ति में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब) घट को प्रकाशित करता है, वहीं ब्रह्मविषयक चित्तवृत्ति केवल ब्रह्म के अज्ञान को दूर करती है तथा वहाँ चिदाभास द्वारा ब्रह्म के प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती और न तो यह सम्भव है। जो स्वयं समस्त प्रकाश का पुञ्ज है तथा सभी का प्रकाशक है, उसे भला कौन प्रकाशित कर सकता है?[47] ब्रह्मविषयक अज्ञान के समाप्त होते ही उसके कार्यभूत समस्त जगत्-प्रपञ्च का नाश हो जाता है और फलतः जगत् में स्थित ब्रह्मविषयक यह ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह भी तो आविद्यक ही है। जैसे घर-खलियान को जलाने के बाद आग जलकर स्वयं नष्ट हो जाती है, वैसे ही ब्रह्माकारकचित्तवृत्ति ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान को नष्ट कर देने के बाद उसके कार्यभूत जगत्-प्रपञ्व के नष्ट हो जाने से स्वयं भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान स्वरूप में ही ऐसा होता है कि अन्त में इस तरह का विमर्श भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब केवल एकमात्र अद्वितीय परम चैतन्य ही रहता है तथा सारी अविद्या समाप्त हो गयी होती है। फलतः उस अवस्था में कोई ज्ञानात्मक विमर्श नहीं हो सकता। यह अज्ञान निवृत्ति की ही अवस्था मोक्षावस्था है।[48] यह ब्रह्म की अवस्था है। ब्रह्मभाव ही मोक्ष है।[49] अथवा हम कह सकते हैं मोक्ष ही ब्रह्म है। श्रुति कहती है "जो ब्रह्म को जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।"[50] ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव एक है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष और परमसत् (ब्रह्म) एक ही है। अतः मोक्ष के बारे में जब वे वर्णन कर रहे होते हैं तब वस्तुतः वे ब्रह्म के ही बारे में बता रहे होते हैं। जैसे ब्रह्म मानव मन एवं भाषा से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है वैसे ही मोक्ष।

ब्रह्मसूत्र 1/1/4 के भाष्य में आचार्य शंकर ने मोक्ष का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया है। वे कहते हैं "यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से शून्य है, नित्य तृप्त है, निरवयव है, स्वयंज्योति स्वभाव है, यह धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों से तथा (सुख-दुःख रूपी) उनके कार्यों से अस्पृष्ट है, त्रिकालातीत ऐसा यह अशरीरत्व मोक्ष है।[51]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि शंकर के अनुसार मुक्ति और परमतत्त्व एक ही है–ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था। मोक्ष वस्तुतः परमार्थ सत् है। यह त्रिकालाबाध्य है। बन्धन अविद्याकृत होने से भ्रम मात्र है। किसी भी अवस्था में ब्रह्म की इस मुक्ति या स्वातन्त्र्य का अपलाप नहीं होता। कथित बन्धन और मुक्ति वस्तुतः व्यवहार में ही सत्य है क्योंकि व्यवहार में ही जीव और अविद्या है। परमार्थतः ब्रह्म मात्र है। मोक्ष को शंकराचार्य कूटस्थ नित्य कहकर इस बात का खण्डन करते हैं कि सांख्य के प्रकृति के समान यह परिणामी नित्य है। शंकर ब्रह्म में किसी तरह के परिणाम को अस्वीकार करते हैं। जिस तरह तमाम बुद्बुद और तरंगों से युक्त होने पर भी नदी नित्य है वैसे ही ब्रह्म परिणामी नित्य नहीं है। वह सर्वदा अविकृत रहता है। किसी तरह के विकार को शंकर अस्वीकार करते हैं। मोक्ष कूटस्थ नित्य है अतः बन्धन 'विवर्त' है, विकार नहीं। जैसे रज्जु-सर्प भ्रम में सर्प के गति आदि दोष से अधिष्ठान रज्जु तनिक भी प्रभावित नहीं होता, वैसे ही जगत् में होने वाले परिवर्तनों से अधिष्ठान ब्रह्म तनिक भी प्रभावित नहीं होता। मोक्ष आकाश के समान सर्वव्यापी और अनन्त है। शांकर मत में आत्मा विभु है। मोक्ष की आकाश से केवल सर्वव्यापकत्व को लेकर ही समानता है, ऐसा भामतीकार सावधान करते हैं,[52] क्योंकि जहाँ आकाश अनित्य है, मोक्ष नित्य है। मोक्ष सभी विकारों से रहित है। आत्मा की स्वस्वरूप में स्थिति से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वह कभी इस स्थिति से अलग भी था। मोक्ष की तृप्ति कोई नयी प्राप्त होने वाली तृप्ति नहीं है। मोक्ष को हम उस प्रकार नहीं प्राप्त करते जिस प्रकार किसी सांसारिक पदार्थ को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म नित्य और सर्वव्यापी है। मोक्ष केवल इस तथ्य का आविष्कार है कि मैं ऐसे नित्य और सर्वव्यापी ब्रह्म से अपृथक् हूँ। ऐसे आविष्कार के पूर्व भी मैं ब्रह्म ही था, अतः मुक्त ही था। अर्थात् मोक्ष अनादि काल से एक पूर्ण तथ्य है, इसीलिये इसे नित्य तृप्त कहा गया है। मोक्ष में किसी प्रकार का भेद या अवयव नहीं रहता। यह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान या वेद्यक-वेद्य-वेदना की त्रिपुटी से परे है, अतः इसका ज्ञान और आनन्द स्वसंवेद्य नहीं है। यह स्वयं शुद्ध चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैत निरयव और अखण्ड है। यह स्वयंज्योति या स्वप्रकाश है। यह स्वतः सिद्ध है। यह दिग्कालातीत है। यह अविद्या, कर्म, कर्मफल, देह इन्द्रिय और मन से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक सुख-दुःख से अतीत है। यह अशरीर आत्मा

है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है, देहाध्यास के कारण है, मिथ्याज्ञानपुरस्सर है। अतः अविद्यानिवृत्ति होने पर देहाध्यास भी निवृत्त हो जाता है तथा शरीर के रहने पर भी शरीर से सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये यह अशरीरत्व है। मोक्ष में अशरीरीभाव महत्वपूर्ण है। जीवन्मुक्ति में शरीर रहते हुए भी मुक्त अशरीरी होता है। मोक्ष अपना स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य है, स्वराज्य है, अभयपद है। यह परमनिःश्रेयस होते हुए भी परमतत्त्व है।

मोक्ष का साधन, शंकर के अनुसार, ज्ञान और केवल ज्ञान है। मोक्ष का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म से या तो किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है या उसके स्वरूप में विकृति उत्पन्न की जा सकती है। कर्म से हम किसी के स्वरूप को शुद्ध और संस्कार्य बना सकते हैं अथवा किसी नितान्त नये वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। शंकर कहते हैं कि इनमें से किसी भी विकल्प का प्रयोग हम मोक्ष के लिए नहीं कर सकते। मोक्ष उत्पाद्य नहीं है। यदि वह उत्पाद्य होता तो इसके लिये किसी प्रकार के कर्म, मानसिक-वाचिक अथवा शारीरिक की आवश्यकता पड़ती। अब इन कर्मों द्वारा किसी नित्य वस्तु की प्राप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि कर्म से जो उत्पन्न होता है, वह नाशवान् होता है। मोक्ष को कोई भी नाशवान् नहीं स्वीकार कर सकता।[53] अतः वह उत्पाद्य नहीं है। इसी तरह मोक्ष विकार भी नहीं है। यदि वह विकार होता तो दधि आदि के समान अनित्य होता।[54] मोक्ष कोई प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह तो सर्वदा प्राप्त है। वह तो स्वयं मनुष्य का स्वरूप है जो उसे नित्य उपलब्ध है। अपने इसी स्वरूप का ज्ञान तो मोक्ष है। मोक्ष कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है जो यज्ञ-यजनादि द्वारा शुद्धीकरण के परिणामस्वरूप प्राप्त किया जा सके। मनुष्य की आत्मा स्वभाव से ही नित्य विशुद्ध है, अतः गुणाधान या दोषापनयनरूपी संस्कार उस पर सम्भव नहीं है।[55] इस प्रकार शंकराचार्य स्थापित करतें हैं कि मोक्ष नित्य है। उसका कर्म ही नहीं वरन् देश, काल और कारणता से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष ब्रह्म से ऐक्यभाव है, और चूंकि ब्रह्म देश, काल और कारणता से ऊपर है, अतः मोक्ष भी इनसे ऊपर है।[56]

मोक्ष की फलरूपता शंकराचार्य को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। इसीलिये वे मोक्ष को ब्रह्मज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं मानते हैं।[57] ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव में कोई कार्यान्तर नहीं है। ब्रह्मज्ञान मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को नहीं उत्पन्न करता है। ब्रह्मज्ञान, अविद्या निवृत्ति और मोक्ष एक ही है तथा ये एक साथ होते हैं, इसमें कोई कार्यान्तर नहीं होता। 'एक साथ होते हैं' यह कथन भी उपचार मात्र है क्योंकि वस्तुतः वे एक ही हैं।[58] ब्रह्मविषयक

ज्ञान ब्रह्म को इदंतया अपना विषय नहीं बनाता। वह स्वप्रकाश ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्याकल्पित वेद्य-वेदक-वेदना की त्रिपुटी से परे स्वानुभूतिगम्य बताता है।[59] इस ज्ञान का फल मोक्षप्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्ति मात्र है।[60]

अज्ञान की अवस्था नानात्व की स्थिति है—यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।[61] सम्यक् दर्शन से इस नानात्व का लोप हो जाता है। जब मनुष्य को सम्यग्दर्शन से ब्रह्मज्ञान होता है तो नानात्व की निद्रा समाप्त हो जाती है।[62] द्वैतदृष्टि के समाप्त होते ही ज्ञाता-ज्ञेय, विषयी-विषय के द्वैत पर आधारित व्यवहार सम्भव नहीं हो पाता। एकमात्र अधिष्ठानभूत आत्मा की ही सत्ता रह जाती है। ज्ञानोपरान्त 'मैं ही यह सब कुछ' की स्थिति हो जाती है[63] क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि 'अहमेवेदं सर्वं' का विमर्श 'मुक्त पुरुष' में सम्भव नहीं है। वह तो सारे विमर्शों से परे है, निर्गुण निर्विशेष चैतन्य स्वरूप है, उससे भिन्न 'अन्य' की सत्ता का अपलाप करने के लिए जिज्ञासुओं को तत्त्वोपदेश की यह अद्वैती शैली है।

मुक्त व्यक्ति के लिये नानात्व का लोप हो जाता है। नानात्वयुक्त प्रपञ्च या जगत् के लोप से शांकर मत का तात्पर्य क्या है? मीमांसकों के प्रपञ्च सम्बन्ध के विलय के स्थान पर प्रपञ्चप्रविलय या प्रपञ्चोपशम का मत अद्वैत परम्परा में मान्य है। मोक्ष में प्रपञ्च या जगत् का नाश हो जाता है। लेकिन यदि मोक्ष प्राप्त होने पर जगत् का नाश हो जाता तो प्रथम मनुष्य के मोक्ष पाने के साथ ही जगत् का नाश हो गया रहता। शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र 3/2/21 में विस्तारपूर्वक बताते हैं कि किस प्रकार प्रपञ्चप्रविलय का तात्पर्य जगत् का आत्म में विलय है। प्रपञ्चोपशम या प्रपञ्चविलय का तात्पर्य वस्तुनिष्ठ जगत् का नमक के पानी में प्रविलय की तरह का नहीं है, अपितु नानात्व दृष्टि का प्रविलय है। मोक्ष प्राप्त करने पर जिस वस्तु का नाश होता है वह है ब्रह्म को नानात्वयुक्त प्रपञ्च समझने का ज्ञान। राधाकृष्णन कहते हैं "अनेकत्व की विद्यमानता अथवा विनाश से मोक्ष की अवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यदि द्वैतपरक विश्व हमें पथभ्रष्ट करना छोड़ दे तो मोक्ष की अवस्था प्राप्त हो सकती है। जीवन्मुक्त पुरुष के लिये यह प्रकट है कि द्वैतभावयुक्त जगत् जिसमें उसका अपना शरीर भी समाविष्ट है नष्ट नहीं होता, किन्तु इस विषय में उसका दृष्टिकोण सम्यक् रूप में आ जाता है। मोक्ष की अवस्था में द्वैत रूप जगत् का तिरोभाव नहीं होता, वरन् वह अन्य रूप में प्रकाशित होता है।"[64] अत: प्रपञ्चप्रविलय का अर्थ नानात्व-दृष्टि के नाश से लेना चाहिये। यह जगत् को नानात्व या अविद्या की दृष्टि से न देख, अद्वैत की दृष्टि से या ज्ञानपूर्वक देखना है। अविद्या-दृष्टि का विनाश ही नानात्व या प्रपञ्च का विनाश है क्योंकि

प्रपञ्च अन्ततः हमारी भेद दृष्टि ही तो है। यहीं हम पाते हैं कि शांकर वेदान्त की मूल्यपरक व्याख्या ही सर्वाधिक सुसंगत व्याख्या होगी। जगत् मिथ्यात्व, प्रपञ्चोपशम, माया, अविद्या, मोक्ष आदि शब्द मूल्यात्मक अर्थ रखते हैं और जब शंकर जगत् को मिथ्या कहते हैं तो उसका ज्ञानमीमांसीय या तत्त्वमीमांसीय अर्थ गौण होता है, मुख्य अर्थ उसका मूल्यपरक होता है। ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से शंकराचार्य वस्तुवादी हैं और 'ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रम्'[65] उनकी प्राथमिक मान्यता है। जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता का शंकर निषेध नहीं करते हैं और विज्ञानवादी बौद्धों की इस विषय में कड़ी आलोचना करते हैं।[66] जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता मानते हुए भी यदि शंकर जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त देते हैं तो ऐसा कह कर वे वेदान्त की मूल्यपरक व्याख्या का प्रयत्न कर रहे होते हैं। जगत् अस्तित्ववान् होते हुए भी सत् नहीं है क्योंकि वह स्वयं अपना मूल्य नहीं है, वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार नहीं है। इसी कारण वह मिथ्या है। इसके विपरीत आत्मा स्वयम्भू, स्वाधार एवं स्वप्रकाश है। उसमें अस्तित्व और मूल्य का कोई भेद नहीं है, अतः वह सत् है। मुमक्षु जगत् विषयक इस प्रामाणिक दृष्टि से जब जगत् और स्वयं को देखता है तो वह अपने स्वरूपसिद्धस्थिति का साक्षात्कार कर लेने से पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही उसका शाश्वत सत्य है। अविद्यावश वह इसे भूले बैठा था। शंकराचार्य मोक्ष की प्राप्ति को कण्ठचामीकर न्याय से स्पष्ट करते हैं।[67] जैसे खोया हुआ गले का हार वस्तुतः गले में ही हो और अज्ञानवश उसे अन्यत्र खोजा जा रहा हो, वैसे में किसी अन्य के (मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में गुरु के) कहने पर कि हार तो गले में ही है, जो यह बोध होता है कि जिसे व्यग्रतापूर्वक खोजा जा रहा था और जिसे खोया हुआ मान लिया गया था वह तो उसके पास सदैव वर्तमान था, ठीक वैसे ही जीव अज्ञानवश अपने स्वरूपभूत नित्यब्रह्मस्वरूप को भूल स्वयं का नाना उपाधियों से तादात्म्य कर अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हुए है। उसे जब अपने स्वरूपभूत ब्रह्मस्वभाव का साक्षात्कार होता है और मुक्ति होती है, तो वह किसी नवीन चीज की प्राप्ति न हो उसी की प्राप्ति है जो उसे सर्वदा प्राप्त था।

इसी तरह शंकर मुक्ति को स्पष्ट करने के लिये व्याध-राजकुमार के दृष्टान्त का उपयोग करते हैं।[68] एक राजकुमार अपने जन्म के बाद अपने पितृ आदि से बिछुड़कर जंगल में व्याधों के बीच पाला जाता है। कालान्तर में कोई उसे नृपकुमार होने के बारे में बताता है। नृपकुमार होना उसका कोई नवीन गुण नहीं है। वह हमेशा से वह ही है जैसे राधेय कौन्तेय ही है। हाँ, वह अपने नृपकुमारत्व को भूले हुए है जैसे राधापुत्र कर्ण कौन्तेय होते हुए भी अपने सत्य को अन्त में ही जान पाता है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि नृपकुमार व्याध से भिन्न

है या राधेय कभी कौन्तेय नहीं था। एवंविध जीव अनादि काल से अपने ब्रह्म स्वरूप को बिसरे हुए है। वह तो सर्वदा मुक्त है ब्रह्म होने से, पर अपने इस स्वरूप को वह भूले हुए है। यहाँ सिद्ध या मुक्त पुरुष तथा साधक या मुमुक्षु पुरुष के भेद को समझना आवश्यक है। मुक्त पुरुष में "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का विमर्शात्मक बोध भी नहीं रहता। यह तो 'मुक्तावस्था' को समझाने के लिये कहा जाता है कि उस अवस्था में सब कुछ ब्रह्म ही है, आत्मा ही सब कुछ है। ऐसा होने पर भी मुक्त को आत्म से 'इतर' कुछ भी शेष न रहने के कारण 'सब कुछ' का बोध नहीं होता। इसके विपरीत मुक्तिपूर्व स्थिति में साधक या मुमुक्षु 'मैं ब्रह्म हूँ' 'यह सब कुछ ब्रह्म है' एतद् विमर्शात्मक बोध से युक्त होता है। मनुष्य की यही प्रामाणिक स्थिति उसे 'मोक्ष' की ओर ले जाती है। मोक्ष की अवस्था स्वरूपसिद्ध स्वातन्त्र्य की अवस्था है,[69] यह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से परे परमचैतन्य की स्वस्वरूप में स्थिति है। ऐसा नहीं है कि यहाँ 'आत्म' का बोध नहीं होता, पर चूँकि यह 'आत्म' अहं से नितान्त असम्पृक्त रहता है, अतः इतर की अपेक्षा न होने से किसी प्रकार की वेद्यता या संवेद्यता यहाँ नहीं रहती। इसीलिये कहा गया है कि आनन्द होते हुए भी वह आनन्दिन् नहीं है। वहाँ आनन्द का संवेदन नहीं होता।[70]

क्या मोक्ष इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है? शंकर बड़े ही स्पष्ट रूप से स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं। बाद के अद्वैतियों सर्वज्ञात्म मुनि तथा प्रकाशानन्द में जीवन्मुक्त को स्वीकार करने के सम्बन्ध में झिझक दिखायी देती है। यही झिझक ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र में हम पहले ही देख सकते हैं। अद्वैत से भिन्न अन्य वेदान्त दर्शन तो जीवन्मुक्ति को कथमपि नहीं स्वीकार करते हैं। जीवन्मुक्त सशरीरी होता है जबकि मुक्ति तो नित्य अशरीरता है, जीवन्मुक्ति के विषय में यही विरोध विरोधियों ने दर्शाया है। शरीर अज्ञानकृत एवं तत्सूचक है, अतः जब तक शरीर विद्यमान है तब तक मोक्ष भला कैसे संभव होगा? ज्ञान होने पर अज्ञान और उसके परिणामों का किञ्चित् भी अवशेष शेष रहना स्वीकार नहीं किया जा सकता है, अतः मुक्ति तो विदेहमुक्ति ही होगी, ऐसा संक्षेपशारीरककार का मानना है। जीवन्मुक्त विषयक श्रुति एवं आचार्यवाक्यों को सर्वज्ञात्म अर्थवाद के रूप में लेते हैं।[71] परन्तु शंकराचार्य अनेकानेक स्थलों पर जीवन्मुक्त की चर्चा करते हैं तथा बन्धनग्रस्त अन्य जीवों की चर्चा करते हैं। सशरीरी होते हुए भी जीवन्मुक्त विदेही होता है। वस्तुतः यह शरीर नहीं है जो कि हमें बन्धन में डाले हुए है अपितु आत्मा पर शरीर का और शरीर पर आत्मा का जो अध्यास है, वही बन्धन का मूल कारण है। आत्मा 'त्रिविध शरीर' से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं है। वह तो नित्य अशरीरत्व है। अविद्या के कारण शरीरादि में अध्यास होता है। आत्मा

और शरीर का तादात्म्य मिथ्या है, भ्रान्ति है, अध्यास है। अधिष्ठानभूत आत्मा के साक्षात्कार से अविद्यानिवृत्ति होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व हो जाता है, मुक्ति हो जाती है और यही तो जीवन्मुक्ति है।[72] शंकराचार्य आगे[73] बृहदारण्यक उपनिषद् का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सर्प को अपनी केंचुली फेंकने पर उसमें कोई आसक्ति नहीं रह जाती, उसी प्रकार जीवन्मुक्त को अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि वह अशरीर अमृत ब्रह्म है। "नेत्र रहने पर भी वह मानो अनेत्र है, कर्ण रहने पर भी अकर्ण है, वाणी रहने पर भी मानों वह बिना वाणी के है, मन रहने पर भी वह अमन है, प्राण रहने पर भी वह अप्राण है।" शंकराचार्य बार-बार कहते हैं कि "अशरीरत्व शरीरपात पर ही होगा, जीवित रहने पर नहीं,यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरत्व तो केवल मिथ्याज्ञानजन्य है। आत्मा का शरीरत्व केवल मिथ्याज्ञानजन्य देहात्मभाव के अतिरिक्त और किसी प्रकार से नहीं माना जा सकता।"[74] यदि बन्धन अज्ञानजन्य है तो ज्ञान प्राप्त होते ही मोक्ष क्यों नहीं? मुक्ति के लिये शरीर त्याग तक रुके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञानियों के लिये "शरीर" "अशरीर" है। अतः शंकराचार्य जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों स्वीकार करते हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद भी जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के कारण कुछ समय तक बना रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार का चाक उसके हाथ उठा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर तक घूमता रहता है। हाँ, इस अवधि में नवीन कर्म संचय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर देहपात हो विदेहमुक्ति होती है। यह विमुक्त की ही मुक्ति है।[75] यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है।[76] जैसाकि सुरेश्वराचार्य एवं विद्यारण्य स्वामी स्पष्टतः कहते हैं कि इन दोनों को दो प्रकार की मुक्ति नहीं समझा जाना चाहिये क्योंकि मुक्ति तो एक होती है। शरीर होने और न होने का जो विभाग है वह तो अन्य अज्ञानियों की दृष्टि से है, स्वयं मुक्त की दृष्टि से नहीं।

जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में एक आपत्ति यह होती है कि शरीरादि के रहते और विभिन्न कर्मों को सम्पादित करते हुए भला कोई मुक्त कैसे हो सकता है? क्योंकि कर्म स्वभावतः बाँधते हैं। इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि केवल सकाम कर्म ही मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। देह और अन्तःकरण आदि के आत्मा पर अध्यास के मर्म को जानने वाले को देह और मन के व्यापार नहीं बाँधते क्योंकि वह उनको अपना नहीं समझता। यह कर्म नहीं अपितु उसको करने के पीछे छिपी भावना या काम है जो हमें जगत् में बाँधे रखती है। यह काम अविद्याजन्य है। ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से जिसने अपने अज्ञान का नाश कर लिया है उसे भला अज्ञान और उसके व्यापार कैसे दूषित करेंगे? जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ है। उसे कर्म नहीं बाँधते,

क्योंकि उसने कर्म के पीछे छिपे उसके दंश अर्थात् काम का अज्ञाननाश द्वारा बाध कर लिया है। शंकराचार्य भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के भाष्य की भूमिका में कहते हैं कि जो अपने 'आत्म' के सत्य का साक्षात्कार कर लेता है वह इस बात का साक्षात्कार कर लेता है कि 'मैं कुछ नहीं करता'। लेकिन तब 'कृष्ण के कर्म' का समाधान कैसे होगा? शंकराचार्य के तरफ से कह सकते हैं कि देहाध्यास और अहंकारपूर्वक किये गये कर्म ही कर्म हैं, जो कर्म ऐसे नहीं हैं वे फल से न बाँधने के कारण कर्म ही नहीं हैं।

पीछे हमने देखा कि जब व्यक्ति स्वस्वरूपभूत ब्रह्म के ज्ञान द्वारा अज्ञान का बाध करके और अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कर अज्ञान और उसके समस्त कार्य तथा समस्त कर्मों के बन्धन से रहित हो ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है तो वह जीवन्मुक्त होता है। ऐसे जीवन्मुक्त की दो अवस्था होती है। पहली समाधि की और दूसरी व्युत्थान की अवस्था। समाधि की अवस्था में उसे आत्मा से इतर किसी अन्य वस्तु का आभास नहीं होता। उस समय न वह कोई कर्म करता है और न कर्मफल का भोग ही करता है। किन्तु जब वह समाधि से व्युत्थित होकर लोकव्यवहार में आता है तब अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों और अपने अन्तःकरण से वही सब काम करता है जो सांसारिक बन्धनों में फँसा अज्ञानी मनुष्य करता है। वस्तुतः यह उसकी दैहिक तथ्यता है। क्योंकि आखिर उसका भी शरीर उन्हीं मांस, रक्त, मूत्र, पुरीष आदि का है जैसा कि अन्य बद्ध जीवों का। उसकी भी इन्द्रियाँ अन्धता, मन्दता, अपटुता आदि से सामान्य अज्ञानी मनुष्यों के समान ही दूषित रहती हैं, तथा भूख-प्यास आदि की उसे भी समान रूप से जैविक अनुभूति होती है। अपनी इस जैविक स्थितिप्रदत्तता तथा सांसारिकता के बावजूद मुक्त पुरुष इनकी अस्सारता को जानता है। वह इनसे भ्रान्त नहीं होता क्योंकि इनके मिथ्यात्व का उसे स्थायी भान हो चुका होता है। ऐसा जीवन्मुक्त उस पुरुष के तरह है जो इन्द्रजाल को इन्द्रजाल समझ कर देखता है, उसे परमार्थ रूप से ग्रहण नहीं करता है। ठीक यही स्थिति जीवन्मुक्त की है। वह जगत् को मिथ्या समझते हुए भी उसका अस्तित्व स्वीकार करता हुआ सा दिखता है। सभी कर्मों एवं व्यवहारों को मिथ्या समझते हुए उन्हें सम्पन्न करता है। सब कुछ करते हुए उसका यह निश्चय अक्षुण्ण रहता है कि यह सब मिथ्या है, निस्सार है, व्यर्थ है। यदि इनकी सत्यता है तो केवल ब्रह्मरूप में ही, तद्भिन्न रूप में यह सब कोरी कल्पना मात्र है। वह द्वैत का दर्शन भी अद्वैत के रूप में करता है। लोकसंग्रह की दृष्टि से नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को करता हुआ भी, आत्मा वस्तुतः अकर्ता है, इस दृढ़ निश्चय के कारण वह वस्तुतः निष्क्रिय रहता है। अतः उस अवस्था में किये जाने वाले कर्मों का उसे फलभोग नहीं करना पड़ता है। श्रुति चक्षुष्मान को अचक्षु तथा श्रोत्रवान्

को श्रोत्रहीन जब कहती है तब उसका तात्पर्य ऐसे जीवन्मुक्त का ही वर्णन करना होता है।[77]

जीवन्मुक्त लोकसंग्रह के निमित्त नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को अनासक्त भाव से करता है। यद्यपि वह समाज में रहता है तथा सामाजिक नीति-नियम, रीति-रिवाजों का पालन करता है, फिर भी वह किसी प्रकार के सामाजिक उत्तरदायित्व और नैतिकता से अनुशासित नहीं होता। वह सामान्य नैतिकता और सामाजिक नियमों से परे होता है। उसका कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। अतः सिद्धान्ततः वह यदि दुष्कर्म भी करे तो वह उसके पाप से सम्पृक्त नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि जीवन्मुक्त माँ-बाप की हत्या करने पर भी पापपङ्क में लिप्त नहीं होता और न ही तमाम पुण्यशाली कर्म उसके पुण्य को बढ़ाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवन्मुक्त यथेष्ट आचरण करता है। वह लोकसंग्रहार्थ शुभ कर्मों का ही सम्पादन करता है। जहाँ पहले व्यक्ति शुभ कर्मों का अनुशीलन चित्त की शुद्धता हेतु अथवा नैतिक नियमों के दबाववश करता था, ब्रह्मज्ञान के पश्चात् वह उसे स्वभाववश करता है। जीवन्मुक्त अतिनैतिक होता है। वह सामान्य नैतिकता से परे होता है। नैतिकता का नियामक होता है। वह मूल्यों का स्रष्टा होता है। उससे पृथक् रूप में किसी मूल्य की स्वयं में निरपेक्ष मूल्यता नहीं है। चूँकि जीवन्मुक्त पुरुष आत्मज्ञानी होता है, अतः निन्दनीय अशुभ कर्मों के प्रति उसकी स्वाभाविक अप्रवृत्ति होती है। जहाँ मान, दम्भ, हिंसा आदि से विरति तथा क्षमा, ऋजुता आदि गुण पहले प्रयत्न से अर्जनीय होते थे तथा ज्ञान के साधन रूप में अपेक्षित होते थे, जीवन्मुक्त के लिये ये सहज रूप में अनुवर्तनीय होते हैं।[78] जैसे प्रकाश सूर्य का स्वभाव होता है, सत्कर्म जीवन्मुक्त का स्वभाव होता है।

स्वयं शंकराचार्य के लोकोपकारक कर्मरत जीवन को इंगित करते हुए आधुनिक काल के कुछ नव्य-वेदान्तियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि जीवन्मुक्त पुरुष के भी कुछ मानवीय दायित्व हैं जिन्हें उसे पूर्ण करना है। ऐसे युग में जब समस्त समाज घृणा-द्वेष, अज्ञान, अशिक्षा में पड़ा हुआ है किसी एक व्यक्ति के परममुक्ति की कल्पना अनुचित है। जब तक सभी मुक्त नहीं हो जाते तब तक कोई भी मुक्त नहीं होता। इस तरह 'सर्वमुक्ति' की अवधारणा पर जोर देकर डॉ॰ राधाकृष्णन कहते हैं कि जीवन्मुक्त मुक्ति के बाद भी निष्क्रिय नहीं हो जाता, वह मानव मात्र की मुक्ति के लिये प्रयत्नशील होता है। विवेकानन्द भी 'सर्वात्मभाव' की व्याख्या करते हुए जीवन्मुक्त को मानव मात्र के उद्धार में रत पाते हैं। ये दार्शनिक बौद्ध दर्शन के 'बोधिसत्व' की अवधारणा से प्रभावित हो शंकर के जीवन्मुक्त

में भी जीवमात्र के अज्ञान, दु:ख, मृत्यु के प्रति करुणा तथा तन्निवारणार्थ प्रयत्नशील रहने का अनिवार्य गुण उसमें देखना चाहते हैं। जैसा कि मलकानी ने कहा है जीवन्मुक्त इस तरह के किसी भी सामाजिक बाध्यता से परे होता है।[79] वे कहते हैं कि इस बात से इंकार नहीं कि जीवन्मुक्त जिस समाज में रहता है उसकी वह महान् सेवा करता है, लेकिन यह स्पष्ट रहना चाहिये कि उसके ऊपर इसकी कोई बाध्यता या उत्तरदायित्व नहीं है। वह समाज-सेवा, नैतिकता, परोपकार आदि मूल्यों से ऊपर है। समाज सेवा आदि परम मूल्य नहीं है। परममूल्य तो मुक्ति या ब्रह्म स्वयं है। अत: जो स्वयं परममूल्य है, वह भला किसी कथित मूल्य से बाध्य कैसे होगा? जहाँ तक सर्वमुक्ति का प्रश्न है तो जीवन्मुक्त 'अहम्' और 'त्वम्' (अन्य) की चेतना का अतिक्रमण कर चुका होता है। जगत् के सारे भेदों से अतीत होने के कारण आत्म भिन्न 'अन्य' का उसमें कोई प्रत्यय नहीं होता।[80] अत: उसकी मुक्ति का अर्थ सब की मुक्ति है। क्योंकि जब तक 'अहं' है तभी तक अन्य है। अत: शंकर द्वारा वर्णित मोक्ष को पारमार्थिक अर्थ में ही लेना चाहिये। अद्वैत-वेदान्त के प्रचार से संसार से पलायनवादी प्रवृत्ति का विकास हुआ और फलत: लोगों में लौकिक अभ्युदय के प्रति विकर्षण तथा अति-आध्यात्मिकीकरण के कारण देश का और फलत: समाज का भौतिक पतन हुआ—इस ऐतिहासिक निष्कर्ष के कारण विवेकानन्द, अरविन्दो और राधाकृष्णन् ने वेदान्त को व्यवहारोन्मुख बनाने का प्रयास किया। शंकर के 'जगन्मिथ्यात्व' के सिद्धान्त के कारण देश की कितनी भौतिक अवनति हुई अथवा यह आलोचकों का मिथ्या आरोप है, हम इस प्रश्न का उत्तर इस ग्रन्थ में नहीं देना चाहेंगे। पर इतना अवश्य है कि इन दार्शनिकों ने वेदान्त की कालानुरूप व्याख्या का प्रयत्न किया है, न कि श्रुत्यनुकूल।

पुन: जीवन्मुक्त प्राणिमात्र के उद्धारक की भूमिका निभाने के उत्तरदायित्व से बँधा है, यह बात इसलिये भी नहीं की जा सकती, क्योंकि हम मुक्त के व्यवहार का नियमन नहीं कर सकते हैं। कहा जा सकता है कि वह सूर्य के प्रकाश की भाँति ऐसा कर्म स्वस्वभाववश सहज रूप से करेगा। परन्तु परमचैतन्य रूप मुक्त पुरुष के व्यवहार की अभिव्यक्ति अनेकों ढंग से हो सकती है। वह कोई भी कर्म प्रयोजनवश नहीं करता। वह जो भी कर्म करता है, स्वयं को उसका निमित्त मात्र मानता है। उसके द्वारा कृत कर्म वस्तुत: अहं विशिष्ट किसी व्यक्तिगत चेतना द्वारा किया गया कर्म न होकर सामूहिक चैतन्य या आत्मा की अभिव्यक्ति रूप मात्र है। इसकी अभिव्यक्ति अन्य ढंग से भी सम्भव है। इसीलिये स्वाराज्यसिद्धि में कहा गया है कि उसका व्यवहार अनेकों ढंग का हो सकता है।[81]

* *   * *   * *   * *   * *   * *

शंकराचार्य कृत भाष्यों या स्वतन्त्र रचनाओं में हम कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं पाते हैं कि यह समस्त नानात्वयुक्त प्रपञ्च रूप व्यवहार सर्वदा के लिए नष्ट होगा और एकमात्र अद्वितीय प्रज्ञानघनरूप चैतन्य मात्र रहेगा। दूसरे शब्दों में समस्त प्राणियों की संसार जाल से मुक्ति होगी और जडात्मिका जगत् के स्थान पर चैतन्य मात्र भासमान होगा।[82] ब्रह्म साक्षात्कार और तद्रूप में अवस्थान समस्त प्राणिजगत् एवं जडात्मिका संसार की अनिवार्य नियति है, इस रूप में जगत् एवं मानवता के भविष्य का निर्धारण करते हुए हम कहीं भी शंकराचार्य को नहीं पाते हैं और शंकर के सिद्धान्त के मूल को जानते हुए भी इस तरह के विचारों को उनमें ढूंढ़ने की चेष्टा करना हमारी गलती होगी। मनुष्य परमार्थतः शंकर के अनुसार नित्यमुक्त है। जीव-जगदादि प्रपञ्चात्मक व्यवहार की पारमार्थिक सत्ता कभी भी नहीं होती, अतः यह कहना कि अभी तो वे बन्धन में है-बाद में मुक्त हो जायेंगे, गलत होगा। भूत, भविष्य, वर्तमान का काल विभाजन वस्तुतः व्यवहार में है। फलतः व्यवहार का भविष्य में सर्वदा के लिए व्यवहार रहना शांकर मत में सम्भव है। मनुष्य जिस रूप में अभी बद्ध है उस रूप में सर्वदा के लिए बद्ध रह सकता है, यदि वह अपने अज्ञान के बन्धन को दूर नहीं करता है। अतः जब हम कहते हैं कि मोक्ष शंकर के अनुसार मनुष्य की नियति है तो हम किसी तरह के निर्धारणवाद की घोषणा नहीं कर रहे होते हैं। न ही हम ब्रह्मसाक्षात्कार को काई अनिवार्य सार्वजनिक तथ्य बना रहे होते हैं। मोक्ष मानवीय जीवन के लिये परम पुरुषार्थ है। वह परमनिःश्रेयस है। मनुष्य की नियति अपने स्वरूपभूत आत्म-स्वातन्त्र्य का साक्षात्कार करना है, ब्रह्मसाक्षात्कार कर अविद्यानाश द्वारा ब्रह्मनिष्ठ होना है। हर मनुष्य को स्वयं अपने अज्ञान का नाश करना होगा, अपने मूल स्वरूप को जानना होगा। मोक्ष कोई पुरस्कार नहीं जो सबको अनिवार्य रूप से मिलना है। मानव-मात्र अज्ञान के बन्धन में बँधा है। बिरले ही मनुष्य श्रेय और प्रेय में, विद्या और अविद्या में विभाजन कर पाते हैं, और जो ऐसा कर पाता है वही अपने अप्रामाणिक अस्तित्व से प्रामाणिक की ओर अग्रसर हो पाता है। मोक्ष हमारी नियति है, इस सत्य का साक्षात्कार, अपनी इस अनिवार्य सम्भावना का साक्षात्कार कुछ ही मनुष्यों को हो पाता है और जिनको इस बात का ज्ञान होता है उन्हें पता चलता है कि वे तो नित्य मुक्त थे, यह तो उनका अज्ञान था जो अपने को बद्ध समझ रखे थे। इस तरह शंकर के दर्शन में मोक्ष के मानवीय नियति रहते हुए भी, अपने इस नियति को हर व्यक्ति को स्वयं खोजना है। मोक्ष नित्य ध्रुव सत्य होते हुए भी व्यक्ति के लिये उसकी वैयक्तिक सम्भावना है। वेदान्त और गुरु तो साधना के पथ पर अग्रसर मुमुक्षु को संकेत मात्र कर सकते हैं। स्वयं अपने अस्तित्व के प्रति निरन्तर बोध रूप जो विषयिता है, वही प्रामाणिक अस्तित्व की तरफ हमें ले जा सकता है। इस दृष्टि से विषयिता एवं वैयक्तिकता का अस्तित्ववादी प्रस्थान शांकर दर्शन का भी मूल प्राण है।

शंकर के अनुसार मनुष्य स्वयं अपनी मुक्ति का मार्ग ढूढ़ता है और पाता है। मुक्ति ईश्वर प्रदत्त नहीं है जैसा कि ईसाई, यहूदी और वैष्णव धर्म का मानना है। मनुष्य आप अपनी नियति का निर्धारक है।[83] मुक्ति इस संसार से पलायन नहीं है। मनुष्य इसी संसार में मुक्ति पाता है। हाँ, यह जगत् का जड़ रूप में ज्ञान न हो, दिव्य ज्ञान है। मुक्ति में जगत् दैवी रूप में भासता है। अतः मुक्ति जगत् से पलायन नहीं अपितु जगत् की ब्रह्मरूपता का भास है। मोक्ष केवल आदर्श नहीं है अपितु यह नित्य प्राप्त होने से प्राप्तव्य भी है। मानवमात्र की मुक्ति की सम्भावना दिखा अद्वैत चिन्तन मनुष्य मात्र के लिये आशा की किरण दिखाता है। मुक्ति न तो इस जीवन के बाद प्राप्त होने वाली चीज है और न इस संसार से पलायन करने के बाद उपलब्ध होने वाली। इस अर्थ में अद्वैतवाद मानववाद का आधारमूलक सिद्धान्त है।

मनुष्य पूर्णत्व की तलाश में है। अपनी स्वाभाविक अपूर्णता के बोध से ग्रस्त हो वह निरन्तर स्वयं को पूर्ण करने की कोशिश में है। जिस पूर्णता या आनन्द की खोज में उसका सारा का सारा सांसारिक व्यापार होता है, वह पूर्णता या आनन्द स्वयं उसका वास्तविक स्वरूप है, उसे वह नित्य उपलब्ध है। अपनी अज्ञानतावश वह इसे अपने से बाहर ढूंढ़ रहा है और नित्योपलब्ध स्वरूपसिद्ध पूर्णता और आनन्द को भूलकर वह स्वयं को अपूर्ण और दुःखी, सीमित और अशक्त, एकाकी एवं व्यर्थ समझे हुए है। तो जो दुःख है, अतृप्ति है, अपूर्णता है वह स्वयं अपने स्वरूप-बोध के विस्मरण के कारण है। ऐसा नहीं है कि व्यावहारिक अपूर्णता, दुःख, भय और अज्ञान को अद्वैत झुठलाता है, अपितु यह तो इसके अनित्य और दुःखात्मक स्वभाव को और भी चित्रित करता है तथ इसे व्यावहारिक मनुष्य की नियति बताता है। हाँ, यह अपूर्णता वास्तविक नहीं है, हमारी अविद्या के कारण यह है। इस दृष्टि से मनुष्य स्वयं अपनी दुःस्थिति के लिये उत्तरदायी है। न केवल यह जीवन अपितु अनेकों बार का हमारा जन्म एवं मरण स्वयं हमारे अज्ञानजन्य कर्म के कारण है। शंकराचार्य मनुष्य को स्वरूपसिद्ध स्वातन्त्र्य का साक्षात्कार करने को कहते हैं। आत्मज्ञान द्वारा मनुष्य जिस परमपद को प्राप्त करता है, वहाँ सत्ता एवं ज्ञान का कोई द्वैत नहीं है।[84] वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार है। उससे इतर कुछ भी न होने से वहाँ भय का कोई निशान नहीं है, क्योंकि इतर ही भय का कारण होता है। वह भूमा है, असीमित, अनन्त है। इसीलिये आनन्दस्वरूप है। यह परम स्वातन्त्र्य की स्थिति है। यह मृत्यु से स्वतन्त्रता की स्थिति है। यह भय, अल्पता, सीमा एवं दुःख से स्वतन्त्रता की स्थिति है। यह इनसे स्वतन्त्रता की स्थिति इसलिये है कि यह भूमा की स्थिति है और जहाँ अल्पता है, सीमा है वहीं दुःख एवं भय है। इस अवस्था में कुछ भी अनुपलब्ध नहीं है, इसीलिये यह **आप्तकाम** की

स्थिति है, यह **अकाम** की स्थिति है क्योंकि यहाँ किसी चीज की कामना नहीं है अथवा हम कह सकते हैं कि यह **आत्मकाम** की स्थिति है।[85] मोक्ष स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य की स्थिति है। जैसा कि के॰सी॰भट्टाचार्य "द सब्जेक्ट एज फ्रीडम"[86] में कहते हैं कि स्वतन्त्रता या मुक्ति किसी का धर्म या लक्षण नहीं है अपितु आत्मा ही स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता स्वयं सत्ता की स्वतन्त्रता है, परमचेतना की स्वतन्त्रता है। अत: जब शंकर मोक्ष का वर्णन कर रहे होते हैं तो वह वस्तुत: ब्रह्म का वर्णन कर रहे होते हैं, क्योंकि मूलभूत स्वतन्त्रता तो स्वयं सत्ता की स्वतन्त्रता है।[87]

अपने स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य का साक्षात्कार मनुष्य की प्रामाणिक स्थिति है। यह मनुष्य की मुक्तावस्था है। यह स्वतन्त्रता सत्ता की, परमचेतना की स्वतन्त्रता है। सार्त्र में स्वतन्त्रता का प्रत्यय तथ्यता से इस तरह जुड़ा है कि बिना द्वितीय के प्रथम को समझना असम्भव है। इसीलिये स्वतन्त्रता वहाँ चयन की स्वतन्त्रता कही गयी है। पर चयन की स्वतन्त्रता का आधार स्वयं सत्ता या चेतना की स्वतन्त्रता है। वस्तुत: मूलभूत स्वतन्त्रता यही है जिसका कि अपलाप नहीं किया जा सकता है। नैतिक, सृजनात्मक और कलात्मक स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता के विभिन्न रूप हैं और मूल स्वतन्त्रता कहीं इनसे परे है। चयन आदि की स्वतन्त्रता सापेक्ष स्वतन्त्रता है। दो विकल्पों में एक का चयन अनिवार्य है। पर मौलिक स्वतन्त्रता अपनी सत्ता, बोध तथा आनन्त्य में अवस्थिति है। जो अनन्त है वही वस्तुत: स्वतन्त्र हो सकता है। जो सीमित है वह भला स्वतन्त्र कैसे? यदि कुछ भी आत्मा से इतर है तो स्वतन्त्रता बाधित होती है। अत: वह अद्वैत रूप है, समस्त सत्ता, ज्ञान एवं मूल्य का वही स्रोत एवं वितान है। समस्त जीव, जगत् इसी की अभिव्यक्ति है। मानव-संकल्प में इसी की अभिव्यक्ति और गहन रूप में होती है, क्योंकि सत्ता, ज्ञान एवं मूल्य तीनों की उपस्थिति वहाँ होती है। 'अहं' का अवच्छेद मूल स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति को नानात्व का रूप देता है। यदि 'अहं' का अवच्छेद न हो, सीमा न हो, तो स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर का लोप हो जायेगा। यह ठीक है कि ब्रह्म में, परमतत्त्व में या उसके स्वातन्त्र्य में कोई अन्दर-बाहर जैसी बात नहीं है। वह वैसा ही रहता है जैसा है। पर नाना 'अहं' की अवच्छेदकता उसमें एक तरह का भेद उत्पन्न करती है जिससे जगत्, जीव आदि नाना रूप प्रपञ्च का खेल सम्भव होता है। 'अहं' की अवच्छेदकता, अनादि है, अव्याख्येय है। इसीलिये इसे माया कहा गया है जिसके द्वारा ब्रह्म स्वयं जगदादि रूप में अभिव्यक्त होता है। मानव-चेतना अपने 'अहं' ने नाश द्वारा ही अपने मूल स्वातन्त्र्य में स्थित हो सकती है। शंकर के अनुसार स्वतन्त्रता तात्त्विक एवं देशकालातीत है। यह कूटस्थ, नित्य, व्यवहारातीत आत्म का स्वरूप है। यह तत्त्वमीमांसीय सत् है। सार्त्र के मत में 'स्वतन्त्रता' जागतिक स्वतन्त्रता है, कार्यों, व्यवहारों, चुनावों में अभिव्यक्त होने

वाली स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता यदि किसी स्व का अतिक्रमण है, वस्तु सत् का अतिक्रमण है, तो किसी 'जगत् में स्थित सत्' का ही अन्य 'जगत् में स्थित सत्' के लिये अतिक्रमण है। फलस्वरूप स्वतन्त्रता यहाँ पूर्णतः जगत् में स्थित व्यवहार का सत्य है। इसका अनुभवातीत आत्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। सार्त्र, हाइडेगर का दर्शन परिच्छिन्नता, अल्पता, सीमा का दर्शन है। ये मृत्यु को मानव-अस्तित्व की समाप्ति के रूप में देखते हैं और इस आनुभविक सत् से परे अत्यानुभविक क्षेत्र में अतिक्रमण को स्वीकार नहीं करते। पारमार्थिक या इन्द्रियातीत आत्मा की सत्ता न मानकर ये मृत्यु को मनुष्य की सीमा मान लेते हैं; मृत्यु से परे उसकी कोई अर्थवत्ता नहीं है। अतः सार्त्र में स्वतन्त्रता मात्र आनुभविक या व्यावहारिक जीवन के स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गये कार्य-योजनाओं, वरणों, चुनावों तक ही सीमित रह जाता है है जिसे अन्ततः मृत्यु के द्वार पर समाप्त हो जाना है। मृत्यु आदि द्वारा निरर्थक सिद्ध जीवन में अपने विभिन्न निर्णयों, कार्य-योजनाओं का स्वतन्त्रतापूर्वक वरण ही वहाँ स्वतन्त्रता या प्रामाणिक अस्तित्व है। इस तरह के प्रामाणिक अस्तित्व का स्वयं इसके अतिरिक्त कोई पुरस्कार नहीं है। इसीलिये स्वतन्त्रता वहाँ दुस्सह होती है तथा दुश्चिन्तापरक भी, पर इन्हें स्वीकार करना ही हमारी प्रमाणिकता है। इसके विपरीत शंकर के दर्शन में स्वतन्त्रता तात्त्विक एवं देशकालातीत है। स्वतन्त्रता का अर्थ यहाँ मात्र नैतिक संकल्पों में अभिव्यक्त होने वाली स्वतन्त्रता से न हो, मनुष्य के मूलभूत आत्म की स्वतन्त्रता से है। अतः यह मृत्यु द्वारा, अल्पता द्वारा, सीमा द्वारा, दुःख एवं शोक द्वारा परिच्छिन्न न हो, उनसे परे की स्थिति है। यह पूरे आनुभविक आत्म या अहं से अतिक्रमण की स्थिति है।[88] यह निर्गुण, निष्क्रिय, प्रपञ्चातीत परमसत्ता की स्थिति है जो किसी भी प्रकार की परिच्छिन्नता से मुक्त है। भूमा होने के कारण यह परम आनन्द की स्थिति है। शंकर जब अपने मूलभूत स्वातन्त्र्य के साक्षात्कार को मनुष्य की नियति बताते हैं तो उनका तात्पर्य सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की इसी स्थिति से होता है।

सन्दर्भ

1. अयमात्मा ब्रह्म। बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/5/19.
   अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10.
   तत्त्वमसि। छान्दोग्य उपनिषद् 6/8/7.
2. T.R.V. Murti, 'The Concept of Appearance' in Studies in Indian Thought, ed. Harold G. Coward, Motilal Banarasidass, Delhi, 1983, p. 88.

3. एवमयमनादिरन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप: कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक: सर्वलोकप्रत्यक्ष:।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का उपोद्घात।
4. तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकावैदिकाश्च प्रवृता:, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य के उपोद्घात में।
5. सारा का सारा बन्धन एवं मोक्ष 'मनुष्य' का है। आत्मा तो सर्वदा मुक्त है।
6. जीवेशविशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा अविद्यातच्चितोयोग: षडमस्माकमनादय:।
7. अस्यानर्थहेतो:प्रहाणाय, आत्मैकत्व विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य के उपोद्घात में।
8. न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मन: संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मन:।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2/3/29.
9. तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति .... बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते।
ब्र॰शां॰भा॰ 2/3/30.
10. यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति।
ब्र॰शां॰भा॰, 2/3/30.
11. अपि च मिथ्याज्ञानपुर:सरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्ध:।
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 2/3/30.
12. A.G.K Warrier, The Concept of Mukti in Advaita Vedanta, University of Madras, 1981, p. 394.
13. देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ते:।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य का उपोद्घात।
14. सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता।।
चित्सुखाचार्य, तत्त्वप्रदीपिका-1.7.
15. तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मन: कर्तृत्वं न स्वाभाविकम्।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/3/40.
16. त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म ....।
बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/6/1.

17. कर्मणा बध्यते जन्तुः।

18. "यद्यद्धि: कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्" इति स्मरणात्। .... तस्मात्काम एव संसारस्य मूलम्। .... तस्मात्सर्वमयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य-4/4/5.

19. पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकल: सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्य-ध्यस्यति।

    ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य उपोद्घात

20. स होवाच न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति। .... न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रियं भवति।

    बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/5.

21. A.G.K. Warrier, The Concept of Mukti in Advaita Vedanta, University of Madras-1981, p. 409.

22. त्रिकालाबाध्यं सत्।

23. यदि स्वभाव:, न मे मोक्षाशा, स्वभावस्यावर्जनीयत्वात्।

    शंकराचार्य, उपदेशसाहस्त्री 1/45.

24. तत्रैवं सति यत्र यदध्यास:, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न संबध्यते।

    शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य के उपोद्घात में।

25. जीवानां वास्तव स्वरूपं ब्रह्म।

26- In conclusion, we may add that rational hopes of liberation can be based only on the view that bondage, however factual, is not real, and therefore, may be overcome. A.G.K. Warrier, The Concept of Mukti in Advaita Vedanta, p. 414.

27. न निरोधो न चोत्पत्ति: न बद्धो न च साधक:।

    न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

    माण्डूक्यकारिका, 2/32.

28. शंकराचार्य कहते हैं कि 'मृत्यु' सम्बन्धी सत्य का ज्ञान हमें अपनी नियति तक पहुँचा सकता है, इसके ज्ञान के बिना परमपुरुषार्थ की सिद्धि असम्भव है–एतद्विज्ञानाधीनो हि पर: पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया।

    कठोपनिषद्भाष्य, 1/1/20.

29. अतोऽयमात्माजो नित्य: शाश्वतोऽपक्षयविवर्जित:।

    कठोपनिषद्, 1/2/18 पर शांकरभाष्य।

30. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

    नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।
गीता, 2/22.

31. पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे बहुदुस्तारे ....।।
चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्-8.

32. अङ्.गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं............।।
तत्रैव-6

33. It is ignorance of the true nature of the Self that breeds misery and selfishness, pain, agony and anguish. Sujata Miri, Suffering, Simla: IIAS, 1976, p. 94.

34. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।
ब्रहदारण्यक उपनिषद्, 1/5/3.

35. For Sankara Suffering, is not the Fate of Human existence. Sujata Miri, Suffering, p. 94.

35. यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः।
ईशावास्योपनिषत्-7 पर शांकर भाष्य।

36. नैसर्गिकत्वेऽपि नैमित्तिकत्वम्।

37. द्वितीयाद् वै भयं भवति-बृह०, 1/4/2.
यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति ----।
बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/14.

38. यस्मात् द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति। द्वितीयं च वस्त्वन्तरमविद्याप्रत्युपस्थापितमेव। नह्यदृश्यमानं द्वितीयं भयजन्मनो हेतुः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति मन्त्रवर्णात्। यच्चैकत्वदर्शनेन भयमपनुनोदापनोदितं तद्युक्तम्। कस्मात् द्वितीयाद्वस्त्वन्तराद्वै भयं भवति, तदेकत्वदर्शनेन द्वितीयदर्शनमपनीतमिति नास्ति यतः।
बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, 1/4/2.

39. स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिःप्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ----- न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

बृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5.

40. यो वै भूमा महन्निरतिशयं बह्विति पर्यायास्तत्सुखम्। ततोऽर्वाक्सातिशयत्वादल्पम्।

अतस्तस्मिन्नल्पे सुखं नास्ति। ----- नाल्पे सुखमस्ति।
शंकराचार्य, छा॰उ॰, 7/23 पर भाष्य।

41. तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य-2/8/4.

42. स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
योगवाशिष्ठ-1/1/3.

43. स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विज्ञानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द: स स्वराड्भवति।
छान्दोग्योपनिषत्, 7/25/2.

44. यो हि लोके निरतिशयप्रिय: स सर्वप्रयत्नेन लब्धव्यो भवति।
तथायमात्मा सर्वलौकिकप्रियेभ्य: प्रियतम:।
तस्मात्तल्लाभे महान्यत्न आस्थेय इत्यर्थ:।
शंकराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य, 1/4/8

45. द्रष्टव्य, आर॰पी॰ सिंह, द वेदान्त ऑफ शंकर, पृ॰380 (भारत पब्लिशिंग हाउस जयपुर, 1949)

46. मायैषा तस्यदेवस्य ययायं मोहित: स्वयम्।
माण्डूक्यकारिका, 2/19.

47. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।
बृह॰उ॰, 2/4/14

48. मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिर्वा।
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 1/4/7.

49. ब्रह्मभावश्च मोक्ष:।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/4.

50. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
मुण्डकोपनिषत्-3/2/9

51. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयज्ज्योति: स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.

52. ब्रह्मसूत्रभाष्य पर भामती टीका-1/1/4.

53. नित्यश्च मोक्ष: सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते।
ब्रह्मसूत्र 1/1/4 पर शंकरकृत भाष्य।

54. तथा विकार्यत्वे च, तयो: पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके।

देखें, वहीं।

55. नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात् दोषापनयनेन वा? न तावद् गुणाधानेन संभवति ....।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.

56. न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य।
शंकराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य-4/5/15

57. ब्रह्मविद्यानन्तरमेवमोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.

58. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन-आलोचना और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, 1990, पृ॰ 267-269.

59. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.

60. मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र, 1/1/4. के भाष्य में।

61. बृहदारण्यक उपनिषद्-2/4/14.

62. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।।
माण्डूक्यकारिका 1/6.

63. 'अहमेवेदं सर्वोऽस्मि'
बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/20.

64. एस॰ राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग (II), पृ॰ 582-583

65. केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्।
ब्र॰शां॰भा॰, 1/1/4
ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वात् ....।
शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, 4//5/15.

66. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/2/28-30.

67. आत्मा तु सततं प्राप्तो ह्यप्राप्तवदविद्यया।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा।।
आत्मबोध-43

68. बृहदारण्यकोपनिषद् पर शंकरकृत भाष्य-2/1/20.

69. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।
तैत्तिरीयोपनिषद् पर शांकर भाष्य, 1/11

70. देखिये-ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य का आनन्दमयाधिकरण (ब्रह्मसूत्र, 1/1/12-19)। द्रष्टव्य-बृहदारण्यक उपनिषद्-3/9/28 के 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' की व्याख्या में

शंकराचार्य। तथा इसी सम्बन्ध में देखें-गोविन्द चन्द्र पाण्डेय कृत शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस-नयी दिल्ली, 1992 पृ॰ 94-96.

71. जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम्।
तावन्मात्रेणार्थवत्वोपपत्ते: सद्यो मुक्ति: सम्यगेतस्य हेतो:।।
सर्वज्ञात्म मुनि, संक्षेपशारीरक-4/39

72. तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। ब्र॰शां॰भा॰-1/1/4.

73. देखें वहीं आगे-ब्र॰शां॰भा॰ 1/1/4.

74. शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवति इति चेत्-न; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मन: शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यत: सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.

75. विमुक्तश्च विमुच्यते।

76- Prof. P. Sankaranarayanan, Jivanmukti and its Individual and Social Dimensions, University of Madras, Madras, 1976, p. 19.

77. "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव"
उद्धरित शंकर द्वारा, ब्र॰शां॰भा॰, 1/1/4.
सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वत:।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च य: स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चय:।।
उपदेशसाहस्त्री—दृशिस्वरूपपरमार्थदर्शनप्रकरणम्-13

78. उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणा:। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिण:।।
सुरेश्वर, नैष्कर्म्यसिद्धि, 4/69.

79. G.R. Malkani, Metaphysics of Advaita Vedanta, The Indian Institute of Philosophy, Amalner, 1961, pp. 291-293.

80. द्रष्टव्य, वहीं, पृ॰ 261.

81 स्वाराज्यसिद्धि:, 4/22.

82 श्री अरविन्द जगत् एवं मनुष्य की अनिवार्य नियति परमतत्त्व के साक्षात्कार एवं तद्रूप में अवस्थान को मानते हैं। (देखें, उनकी पुस्तक लाइफ डिवाइन) राधाकृष्णन भी मानव-मात्र की मुक्ति को उसकी अनिवार्य नियति बताते हैं।

83. यदि यह सृष्टि ईश्वरकृत है तो मनुष्य स्वयं अपनी नियति का विधाता नहीं, वह स्वयं अपनी मुक्ति के लिये उत्तरदायी नहीं, वह अभिशप्त है अपने बन्धन एवं दु:खों के लिये। ईश्वर की सत्ता मानवीय स्वतन्त्रता एवं श्रेयस् में बाधक है। यदि उसे मुक्ति भी मिलती है तो ईश्वर के 'कृपा' से। परन्तु अद्वैत वेदान्त मनुष्य की इस दु:स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। यहाँ सृष्टि या बन्धन का

कारण ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य स्वयं है-उसका अज्ञान है। यह मनुष्य स्वयं अपनी नियति का नियामक और मुक्ति का अन्वेषक है। ईश्वर का अद्वैत मत में परमार्थतः कोई स्थान नहीं बनता। इस दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैत मत में यह मनुष्य है-जीव है-जो जगद् एवं जगद्कर्ता ईश्वर का कल्पक है, न कि यह ईश्वर है जिसने मनुष्य और उसके संसार की रचना की है।

84. जहाँ सार्त्र सत् एवं चित्, स्वनिष्ठ सत् एवं स्वनिमित्त सत् को भिन्न-भिन्न मानते हैं तथा ऐसी स्थिति को असम्भव मानते हैं जो सत् भी हो और चेतन भी, वहीं शंकर के अनुसार जो सत् है वही चेतन है।

85. R.K. Tripathi, Problems of Philosophy and Religion, Centre of Advanced Study in Philosophy, B.H.U., Varanasi, 1971, p. 114.

86. K.C. Bhattacharya, 'the Subject as Freedom' in Studies in Philosophy, ed. Gopinath Bhattacharya, Motilal Banarasidass, Delhi, 1983, pp. 450-454.

87. R.K. Tripathi, Problems of Philosophy and Religion, p. 112.

88. यदि 'स्व' का अतिक्रमण मनुष्य की सारभूत विशेषता है, यह समस्त विकास, प्रगति और इतिहास की गति का हेतु है तो मनुष्य के इस वर्तमानकालिक अहं का-उसके सीमित अल्पज्ञ, अशक्त अहमात्मा का-अतिक्रमण होना ही चाहिए। स्व-अतिक्रमण की तार्किक परिणति हमें व्यवहारातीत आत्म की ओर ले जाती है। यह स्थिति अद्वय, असंग, निर्विकार परमचैतन्य की स्थिति है।

❑ ❑ ❑

तृतीय अध्याय

सार्त्र के अनुसार सत्ता एवं मनुष्य का स्वरूप

सार्त्र के दर्शन का फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रस्थान

ज्याँ पाल सार्त्र बीसवीं सदी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों में एक हैं। उनकी गणना अस्तित्ववादी दार्शनिक के रूप में की जाती है। अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों के विपरीत वे अपने को स्पष्ट रूप से अस्तित्ववादी स्वीकार करते हैं। अपने अस्तित्ववाद को स्पष्ट करने के लिए सार्त्र फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति का प्रयोग करते हैं। हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजी का सार्त्र के दर्शन पर और साथ ही अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। वस्तुतः समकालीन दर्शन में अस्तित्ववाद और फेनॉमेनॉलॉजी को एक दार्शनिक परम्परा के रूप में लिया जाता है। यद्यपि हाइडेगर हुसर्ल के सिद्धान्तों से असहमति दिखलाते हैं तथा अपने फेनॉमेनॉलॉजीवादी होने का स्पष्ट खण्डन करते हैं एवं जास्पर्स फेनॉमेनॉलॉजी का मनोविकृतियों के विश्लेषण में सीमित प्रयोग करते हैं, फिर भी इन विचारकों में इस सम्बन्ध में मतभेद को पारिवारिक मतभेद की संज्ञा दी जा सकती है। मार्सल, सार्त्र एवं मोर्लियो पोन्ती स्पष्ट रूप से फेनॉमेनॉलॉजिकीय विधि का प्रयोग करते हैं तथा स्वयं को फेनॉमेनॉलॉजीवादी कहते हैं। सार्त्र में अस्तित्ववाद तथा फेनॉमेनॉलॉजी का विलय देखा जा सकता है। सार्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' का उपशीर्षक है 'ऐन एस्से इन फेनॉमेनॉलॉजिकल ऑन्टोलोजी'। अपने पुस्तक को 'फेनॉमेनॉलॉजिकीय सत्तामीमांसा पर एक निबन्ध' ऐसा उपशीर्षक देकर सार्त्र अपने दर्शन के फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्वरूप को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी की व्याख्या से पूर्व हुसर्ल के उस पर प्रभाव को स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

फेनॉमेनॉलॉजी का सम्यक् विकास हुसर्ल के हाथों हुआ, यद्यपि ब्रेन्टानो[1] के दर्शन में इसका बीजारोपण हो चुका था। फेनॉमेनॉलॉजी अनुभव के वर्णन तथा

व्याख्या को अपना प्रतिपाद्य विषय स्वीकार करता है। फेनॉमेनॉलॉजी वह दर्शन प्रणाली है जिसका उद्देश्य हमें दार्शनिकता के उस प्रारम्भ बिन्दु पर ले जाना है जो सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पक्षपात से रहित है तथा जो मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोण के दोषों से मुक्त है। इसीलिये हुसर्ल देकार्ट के दर्शन को महत्त्वपूर्ण मानता है। फेनॉमेनॉलॉजी चेतना में प्रस्तुत होने वाले प्रदत्तों का उनके उसी प्रदत्त रूप में अध्ययन करता है। हुसर्ल दार्शनिकों को 'वस्तुओं की ओर वापस चलें' का आह्वान करते हुए कहते हैं कि उनका फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन गोचर वस्तुओं (फेनॉमेनॉ) का उनके शुद्ध रूप में अध्ययन करने का विज्ञान है। फेनॉमेनॉलॉजी गोचरवस्तु (फेनॉमेनॉ) का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। फेनॉमेनॉलॉजी काण्ट की तरह फेनॉमेनॉ एवं नोमेनॉ, गोचर एवम् अगोचर, व्यवहार एवं परमार्थ का भेद स्वीकार नहीं करता। यह इस मान्यता को अस्वीकार करता है कि गोचर वस्तु आभास अथवा आवरण है जिसके पीछे कोई वास्तविक सत्ता विद्यमान है। इस दर्शन के अनुसार गोचर ही वास्तविक है, यह वास्तविक को आवृत न करके उसे प्रदर्शित करता है। सार्त्र गोचर एवं परमार्थ के द्वैत का जमकर खण्डन करते हैं।[2] फेनॉमेनॉलॉजी पारम्परिक दर्शन के असन्तोष से उपजी दार्शनिक विधा है। पारम्परिक दर्शन हुसर्ल के मत में अमूर्त दर्शन है तथा वह प्रदत्त वास्तविकता एवं अनुभव से बहुत दूर है।

हुसर्ल का उद्देश्य एक ऐसे दर्शन की नींव डालना था जो किसी भी प्रकार की पूर्व मान्यता को न स्वीकार करता हो, जो स्वयं एक सुदृढ़ विज्ञान बन सके तथा वैज्ञानिक चिन्तन का आधार बन सके। इसलिये उसका कहना है कि दार्शनिक चिन्तन में प्रवृत्त होने से पहले हमें निरपेक्ष साक्ष्यों की तलाश कर लेनी चाहिये तथा जिसे हम नहीं देखते उसके सम्बन्ध में हमें कुछ भी प्रतिपादन नहीं करना चाहिये, अनुमान नहीं करना चाहिये। इसी कारण हुसर्ल देकार्ट की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि देकार्ट वह प्रथम दार्शनिक था जो पूर्वमान्यता रहित दर्शन की आवश्यकता को महसूस करता है तथा इसके लिये सन्देह पद्धति को विकसित करता है। देकार्ट दर्शन को उसके आदिमविषयनिष्ठवाद से अनुभवातीत विषयीनिष्ठवाद की ओर ले चलता है।[3] वह पूर्वविश्वासों, धारणाओं, सिद्धान्तों से मुक्त होकर, आत्मचिन्तन में स्पष्ट एवं स्वतःसिद्ध सत्य अनुभवातीत आत्म के रूप में ढूंढ़ता है। हुसर्ल फेनॉमेनॉलॉजिकीय निलम्बन (इपाकी) की विधि द्वारा वस्तुजगत् की सत्ता सम्बन्धी अपने प्राकृतिक विश्वासों को कोष्ठीकृत कर देने को कहते हैं। इपाकी का अर्थ है ब्रेकेटिंग या निलम्बन। इसके द्वारा हम वास्तविकता अथवा अनुभव सम्बन्धी सभी सामान्य विश्वासों एवं सिद्धान्तों, जो हमारे दैनिक जीवन, व्यवहार तथा चिन्तन को प्रभावित और नियन्त्रित करते हैं, निलम्बित या कोष्ठीकृत

कर देते हैं। हम अपने अनुभव अथवा विचार्य से अपने लगाव या एकाकारता को निलम्बित कर अपने को उससे एक दूरी पर रख देते हैं। फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी प्राकृतिक दृष्टिकोण से विरक्त अथवा अलग होने की प्रक्रिया है। इपाकी की प्रक्रिया में हम अपने समस्त पूर्वविश्वासों सहित जगत् और उसके पदार्थों को कुछ समय के लिय निलम्बित अथवा स्थगित कर देते हैं। परिणामस्वरूप उन वस्तुओं का 'देखा जाना', 'प्रतीत होना', 'अनुभूत होना' शेष रह जाता है। फेनॉमेनॉलॉजी इसी 'देखे जाने' का निरीक्षण है। इपाकी की प्रक्रिया हमें, वस्तुजगत् में अनालोचित रूप से निमग्न और एकाकार हमें, इस अनालोचित एकाकारता से अलग करके उन अनुभवों, वस्तुओं तथा अवस्थाओं से एक दूरी पर स्थापित कर देती है, जिससे कि मैं अपना ध्यान अनुभव की क्रिया पर केन्द्रित कर सकूँ। इपाकी की क्रिया जगत् तथा उससे सम्बद्ध विश्वासों को तो कोष्ठीकृत कर देती है किन्तु मैं एक अनुभवकर्ता के रूप में अपने मनोवैज्ञानिकता के साथ अवशिष्ट रहता हूँ। यहीं स्थगन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया सामने आती है। स्थगन (रिडक्शन) की क्रिया चेतना को उसके मनोवैज्ञानिक साहचर्यों से असम्बन्धित कर मेरे आत्मा के वास्तविक एवं शुद्ध रूप का अनावरण करती है। स्थगन की विधि चेतना का विश्लेषण कर उसकी मूल सरंचना का अनावरण करती है जो किसी भी ज्ञान, प्रत्यक्ष, अनुभव अथवा विश्लेषण के मूल में आवश्यक शर्त के रूप में विद्यमान होती है। रिडक्शन द्वारा अनुभव में शुद्ध चेतना के अतिरिक्त जो कुछ अन्य होता है उसको निरस्त कर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप अनुभवातीत आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगता है। इपाकी और रिडक्शन द्वारा चेतना के समस्त अर्न्तवस्तु को निरस्त कर देने पर अनुभवातीत विषयिता रूप आत्मा मात्र रहता है जो समस्त सत्ता एवं अर्थ का आधार है। इस अनुभवातीत आत्मा के बाहर किसी सत्ता एवं अर्थ की कल्पना नितान्त असंगत है।[4] यह चेतना अथवा अनुभवातीत आत्मा समस्त विषयापेक्षी क्रियाओं का स्रोत है। यह समस्त सत्ता, सत्य, ज्ञान एवं अर्थ का आधार है। इस प्रकार हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजी की परिणति अनुभवातीत विज्ञानवाद में होती है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय निलम्बन और स्थगन असन्दिग्ध रूप से मेरे वास्तविक रूप को प्रदर्शित करता है और इसी स्वरूप के सन्दर्भ में ही किसी वस्तु का कोई अर्थ हो सकता है। यह अनुभवातीत आत्मा शुद्ध दृष्टि, साक्षी रूप है। यह शुद्ध द्रष्टा है। यहाँ हुसर्ल के आत्मा की भारतीय दर्शन के जीवात्मा एवं साक्षी रूप आत्मा से तुलना प्रासंगिक होगी। हुसर्ल का दर्शन भारतीय दर्शनों विशेष कर अद्वैत वेदान्त और कुछ अंशों में सांख्य से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद द्वारा प्रकाशित[5] 'फेनॉमेनॉलाजी एण्ड इण्डियन फिलासफी' में संग्रहित प्रो॰जे॰एन॰ मोहन्ती, शिवजीवन भट्टाचार्य, आर॰ बालासुब्रमन्यन तथा

अनिन्दिता नियोगी के लेख इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास हैं। प्रो० सभाजीत मिश्र ने अपनी पुस्तक 'एन्विश्ड फ्रीडम' में तथा नित्यानन्द मिश्र[6] ने अपने लेख में फेनॉमेनॉलॉजी और अद्वैत के साम्यों की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत किया है। हुसर्ल कहता है "फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन आत्मा को दो पक्षों में विभक्त कर देता है। अनुभवातीत द्रष्टा स्वयं को अपने ऊपर स्थापित करता है, अपने को देखता है तथा यह भी देखता है कि वह पहले वस्तु जगत् में निमग्न आत्मा था। अन्य शब्दों में....वह अनुभवातीत जीवन और सत्ता की खोज करता है जिससे समग्र विश्व की रचना हुई है।"[7] यह अनुभवातीत आत्मा शुद्ध द्रष्टा है। समस्त विश्वक्रिया का धारक एवं संचालक है। मुण्डक उपनिषद् में इन दो आत्माओं का भेद उन दो पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया गया है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, किन्तु एक वृक्ष के फलों का रसास्वादन करता है और दूसरा केवल देखता है।[8]

सार्त्र हुसर्ल के इस अनुभवातीत आत्मा का खण्डन करते हैं। दर्शन का विषय जगत् में स्थित मनुष्य या मानवीय सत् का वर्णन करना है। जगत् में निमग्न आत्म में वे मानव चेतना का स्वरूप देखते हैं। यही निमग्न आत्मा—जगत् में स्थित मनुष्य या चेतना, ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, दुःख और सुख का अनुभविता आत्मा-ही अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी के अध्ययन का विषय है, न कि शुद्ध अनुभवातीत आत्मा। हुसर्ल का अनुभवातीत आत्मा का सिद्धान्त और स्थगन का सिद्धान्त सार्त्र के लिये आलोचना का प्रमुख विषय है। सार्त्र के अनुसार यह फेनॉमेनॉलॉजी को विज्ञानवाद की तरफ ढकेलने का प्रयास है। अनुभवातीत आत्मा जिसका लक्षण अनुभवातीत संरचना है—विज्ञानवादी कल्पना का परिणाम है, यह स्थूल व्यक्तियों और वास्तविक जगत् का स्थानापन्न नहीं हो सकता। हुसर्ल का स्थगन सिद्धान्त, सार्त्र के अनुसार, उसके 'वस्तुओं की ओर वापस चले' के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। वस्तुओं के ज्ञान के लिये उनको कोष्ठीकृत करने की आवश्यकता नहीं है। हुसर्ल के दर्शन में स्थगित वस्तुगत वास्तविकता हमेशा के लिये कोष्ठीकृत ही रह जाती है तथा सारा फेनॉमेनॉलॉजिकीय अध्ययन शुद्ध चेतना का अध्ययन मात्र रह जाता है। सार्त्र 'द ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ द इगो'[9] में हुसर्ल के इन्हीं मतों का खण्डन करते हैं। सार्त्र भी फेनॉमेनॉलॉजी की तरह देकार्ट के दर्शन को—कोजिटो को—दार्शनिकता की प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। देकार्ट ने अपने चिन्तन का आरम्भ आत्मा की स्वयंप्रकाशता तथा स्वयंसिद्धता से किया है। फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद का मूल लक्ष्य मानवीय चेतना तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों की अवधारणा करना तथा उन आधारों अथवा 'अस्तित्वपरक संरचनाओं' की खोज करना है जो इन सम्बन्धों को सम्भव बनाते हैं। फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद दोनों दर्शन मानवीय चेतना के वर्णन से अपने तत्त्व चिन्तन का आरम्भ करते हैं।

किन्तु हुसर्ल मुख्य रूप से ज्ञान तथा विश्वास के वर्णन तक सीमित रहा, जबकि सार्त्र अपना ध्यान मानवीय कर्म एवं व्यवहार की समस्याओं पर केन्द्रित करते हैं। हुसर्ल ने चेतना के 'ज्ञाता' स्वरूप पर विशेष बल दिया, इसके विपरीत सार्त्र तथा हाइडेगर आदि ने चेतना को 'क्रियाशील', 'इच्छाशील' तथा 'निश्चय एवं संकल्प करने वाली' चेतना के रूप मे ग्रहण किया। हुसर्ल के लिये चेतना का अध्ययन एक ज्ञानमीमांसीय अध्ययन है, जबकि अस्तित्ववादियों के लिये चेतना का अध्ययन इस प्रश्न को समझने का एक माध्यम है कि व्यक्ति होने का क्या अर्थ है? हुसर्ल के अनुसार फेनॉमेनॉलॉजिकीय खोजों का मुख्य लक्ष्य एक 'सुदृढ़ विज्ञान' की स्थापना है। इसके विपरीत सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का मुख्य प्रश्न मनुष्य होने का अर्थ ढूंढ़ना है। यह 'ज्ञान' के प्रश्न को महत्त्व न देकर 'जीवन्त अनुभव' की व्याख्या करने का प्रयास करता है। 'मनुष्य होने के अर्थ' के अनावरण में जो केन्द्रीय समस्या उभर कर आती है वह मनुष्य तथा जगत् के सम्बन्ध की समस्या है जिसमें मनुष्य रहता है, कार्य करता है, अनुभव करता है। सार्त्र की रचनाओं में हम इसी मनुष्य तथा मानवीय चेतना एवं वस्तुजगत् से उसके सम्बन्ध का अस्तित्वपरक अध्ययन पाते है। 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है' इस प्रश्न का कोई एक वस्तुगत एवं सुनिश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है। ऐसा इसलिये नहीं कि मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है, बल्कि इसलिये कि मनुष्य अपनी सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध में जगत् भी एक प्रश्न है, एक खुली सम्भावना है। इन दोनों के बारे में हम जितना कहते हैं वे उससे अधिक होते हैं।[10] विचार अस्तित्व की सम्भावनाओं को अपने चिन्तन द्वारा परिसमाप्त नहीं कर सकता। अस्तित्व विचार से परे है, व्यक्तिगत अभियान का विषय है तथा इस अभियान में व्यक्ति अपनी मूल स्वतन्त्रता का बोध करता है। अस्तित्वगत समस्यायें विचार की समस्याओं न हो क्रिया के विषय हैं। क्रिया द्वारा ही मनुष्य इन समस्याओं का समाधान करता है। अपने होने का अर्थ ढूंढ़ने के द्वारा मनुष्य अपनी नियति और मंजिल ढूंढ़ना चाहता है। यह ढूंढ़ना विचार और अध्ययन का विषय न होकर जीने, अनुभव करने और व्यक्तिगत अभियान का विषय है। 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' कह कर सार्त्र किसी नियत मानवीय नियति को नकारते हैं। मनुष्य स्वयं अपना विनिर्माण करता है, अपनी प्रतिमा बनाता है, उसका अनुशीलन करता है और फिर स्वयं उसका प्रत्याख्यान करता है। उसकी कोई निर्धारित मंजिल या नियति नहीं है। वह एक खुली सम्भावना है। उसके सामने एक क्षितिज के बाद निरन्तर दूसरा क्षितिज विद्यमान रहता है। वह अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता है। पर कोई ऐसी स्थिति नहीं, जहाँ उसकी समस्त सम्भावनाओं की इति हो जाये। स्पष्ट है

कि सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का लक्ष्य शुद्ध चेतना का अध्ययन करना न हो, उसके उस रूप का अध्ययन करना है जो कि वस्तु जगत् में लीन एवं क्रियाशील होती है। **मानवीय वास्तविकता** जगत् में स्थित सत् है। चेतना स्वभावत: ही अपने से इतर वस्तु जगत् का संकेत करती है। सार्त्र के अनुसार चेतना का स्वरूप ही वस्तु जगत् में लीन एवं क्रियाशील स्वरूप का है। मूल फेनॉमेनॉलॉजिकीय मान्यता कि चेतना हमेशा किसी वस्तु की चेतना होती है, से सार्त्र यह अर्थ निकालते हैं कि यह अपने से इतर वस्तु जगत् की अपेक्षा रखती है।[11] सार्त्र के मत में चेतना विषय पर आश्रित है। इस विषय या वस्तु जगत् से अलग करके चेतना कभी रह ही नहीं सकती। अत: अस्तित्ववान् जगत् से अलग मात्र चेतना का अध्ययन फेनॉमेनॉलॉजी का विषय नहीं है, जैसाकि हुसर्ल का मानना है। बल्कि वस्तुजगत् से विभिन्न मूर्त रूपों में सम्बन्धित, मानवीय चेतना, जो कि स्वयं अपनी चेतना है-वस्तुओं की चेतना है-अन्य दूसरे मनुष्यों की चेतना है, का अध्ययन अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का विषय है।[12] हुसर्लीय फेनॉमेनॉलॉजी के तार्किक एवं अमूर्त लक्ष्य के विपरीत 'जगत् में स्थित मानव अस्तित्व' का फेनॉमेनॉलॉजिकीय निरूपण– फेनॉमेनॉलॉजिकीय सत्ता मीमांसा जैसा कि बीइंग एण्ड नथिंगनेस का उपशीर्षक दावा करता है–सार्त्र के अस्तित्ववाद का लक्ष्य है।[13]

सार्त्र पूरी तरह से फेनॉमेनॉलॉजीवादी हैं। फेनॉमेनॉलॉजी फेनॉमेनॉ (गोचर वस्तु या दृश्य जगत्) का उसके शुद्ध रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तविक फेनॉमेनॉलॉजी इस मान्यता को अस्वीकार करती है कि गोचर वस्तु तथा अगोचर, व्यवहार एवं परमार्थ में कोई भेद है। गोचर वस्तु आभास अथवा आवरण नहीं है जिसके पीछे कोई वास्तविक सत्ता विद्यमान है, जैसा कि काण्ट के दर्शन में पाया जाता है। यह वास्तविकता को आवृत न करके उसे प्रदर्शित करता है। गोचर ही वास्तविक है। सार्त्र वस्तुओं और उसके आभास या गोचर रूप का कोई भेद नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार आभास ही वस्तुयें हैं। आभास के पीछे कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। आभास वस्तु का आवरण नहीं हो उसका प्रकाशन है। वस्तु और वस्तु के आभास में कोई भेद नहीं है।[14] सार्त्र काण्ट द्वारा कृत आभास और वास्तविक के भेद की आलोचना करते हैं। आभास का आधार इससे भिन्न कोई अन्य सत् नहीं है। वह स्वयं सत् है। इस तरह सार्त्र वस्तु एवं आभास के द्वैत की अपने दर्शन में समाप्ति कर देते हैं। यद्यपि हुसर्ल भी काण्ट के आभास और वास्तविक के भेद की आलोचना करता है, पर सार्त्र के अनुसार स्वयं हुसर्ल के दर्शन में यह भेद प्रविष्ट हो जाता है। चेतना को रचनाशील रूप में ग्रहण कर तथा विषयी एवं विषय (नोएसिस एवं नोएमा) के ध्रुवों में विषयी को आधारभूत वास्तविकता के रूप में स्थापित कर हुसर्ल वस्तु और प्रतीति, वास्तविक और

वास्तविक की अनुभूति में भेद को स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि सार्त्र भी गोचर वस्तु (फेनॉमेनॉ) को सापेक्ष कहते हैं क्योंकि गोचर होने का अर्थ ही है किसी के लिये गोचर होना, प्रतीत होना, आभासित होना। लेकिन वे उसे निरपेक्ष भी बताते हैं क्योंकि उसका जो भी रूप है वही वास्तविकता है, इससे भिन्न कोई पारमार्थिक रूप नहीं है। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यद्यपि सार्त्र सत् एवं प्रतीति, वस्तु एवं आभास के द्वैत को नहीं स्वीकार करते लेकिन वे 'फेनॉमेनॉ की सत्ता' तथा 'सत्ता की फेनॉमेनॉ' में महत्त्वपूर्ण अन्तर करते हैं।[15] 'फेनॉमेनॉ की सत्ता' सत्ता की फेनॉमेनॉ नहीं है। गोचर की सत्ता गोचर से पूर्णतः एकाकार होते हुए भी गोचर की शर्तों के अधीन नहीं है। गोचर की शर्तें उसकी अभिव्यक्ति की शर्तें हैं। गोचर ज्ञान की शर्तों के अधीन है, वह ज्ञाता, विषयी या चेतन पर अश्रित है। पर गोचर की सत्ता गोचर के ज्ञान के अतिवर्ती है, उसके ज्ञान का आधार है।[16] वस्तु अपने आभासों में निहित होते हुए भी (क्योंकि उसके आभास से पृथक् पारमार्थिक वस्तु नहीं है) आभास में पूर्णतः समाहित नहीं होती। वह अपने इस सीमित प्रकाशन या आभास (वस्तु को प्रकाशित करने वाली आभासों की श्रृंखला सीमित न हो असीम है, तथा प्रत्येक आभास वस्तु को ही आभासित करता है) का अतिक्रमण भी करती है। सत्ता अपने प्रकाशनों या आभासों में निश्शेष रूप से नहीं चुक जाती। वह इनमें नितान्त सहजता एवं पारदर्शिता के साथ अभिव्यक्त होती हुई भी इनका अतिक्रमण करती है। इस तरह सार्त्र बर्कले आदि के इस विज्ञानवादी अवधारणा का खण्डन करते हैं कि सत्ता दृश्यता है।[17] यह आलोचना हुसर्ल पर भी लागू होती है क्योंकि वह नोएमा या विषय को अवास्तविक तथा विषयी द्वारा संरचित मान लेता है।[18] जबकि वास्तविकता यह है कि फेनॉमेनॉ सत्ता के प्रति अपील है। उसे एक सत्ता की अपेक्षा है जो ट्रान्सफेनॉमेनैलिटी है। सत्ता की फेनॉमेनॉ सत्ता की ट्रान्सफेनॉमेनैलिटी पर आधारित है। फेनॉमेनॉ की सत्ता उसके ज्ञान की अतिवर्ती है, उसका आधार है। सार्त्र के अनुसार वास्तविकता का न्यूनीकरण बौद्धिक सिद्धान्तों में नहीं किया जा सकता है। अस्तित्व का सार के रूप में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अस्तित्व का कोई कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है; उसे सम्प्रत्ययात्मक कोटियों में नहीं बाँधा जा सकता है। सत्ता समस्त संरचना और सिद्धान्त की पूर्ववर्ती है, वही संरचना और सिद्धान्त का आधार है। "सत्ता है, सत्ता अपने आप में है, सत्ता जो है वही है।[19] सत्ता का यही वास्तविक, स्थूल और नग्न रूप रोक्वेन्टिन के मन में नॉशिया उत्पन्न करता है। स्वयं चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि यह अपने से इतर अचेतन तथा परागोचर (ट्रान्सफेनोमेनल) सत्ता का निर्देश करती है। सार्त्र हुसर्ल के फेनॉमेनॉलाजी के इस आधारभूत सिद्धान्त को कि चेतना हमेशा किसी वस्तु की चेतना होती है, स्वीकार करते हैं। स्वयं चेतना के स्वरूप का फेनॉमेनॉलॉजिकल

अध्ययन ट्रान्सफेनोमेनल सत्ता का निर्देश करता है। सार्त्र हुसर्ल की इस बात के लिये आलोचना करता है कि वह विषय को विषयी से संरचित मान लेता है और अनुभवातीत सत्ता को जो कि शुद्ध विषयिता है समस्त सत्ता, ज्ञान और सत्य का आधार बना देता है। इस अनुभवातीत आत्म या चेतना से पृथक् किसी सत्ता की कल्पना एक विरोधाभास है। हुसर्ल के अनुसार अभिप्रेत विषय विषयापेक्षा के समक्ष पूर्व विद्यमान अथवा प्रदत्त नहीं होता, अपितु वह विषयापेक्षी क्रिया में ही आविर्भूत होता है। सार्त्र हुसर्ल के इस मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार चेतना की विषयापेक्षा इस बात को सूचित करती है कि चेतना से इतर कोई अतिवर्ती सत्ता है। चेतना की संरचना का मुख्य लक्षण उसकी अतिक्रामिता है। चेतना का स्वरूप प्रकाशित-प्रकाशन (रिवील्ड रेवेलेशन) है। दूसरे शब्दों में चेतना की विषयिता किसी अतिवर्ती सत्ता के सन्दर्भ में ही प्रकाशित होती है।[20] चेतना की सत्ता निरन्तर एक प्रश्नचिह्न है, क्योंकि वह अपने से इतर सत्ता को इंगित करती हुई स्थित होती है। चेतना की विषयापेक्षा का सीधा अर्थ है कि वह एक ऐसी सत्ता से जुड़ी हुई है जिसकी स्वयं में सत्ता है और जो उससे सम्पूर्णतः भिन्न है। वह अपने आप में ही अस्तित्ववान् है, उसे चेतना से समृद्ध नहीं होना है, वह अपने में ही सम्पूर्ण है। चेतना अनिवार्यतः किसी सत्तायुक्त पदार्थ की चेतना होती है। इसका अर्थ यह है कि सत्तायुक्त पदार्थ जो कि स्वनिष्ठ सत् है अपनी अभिव्यक्ति की पूर्ववर्ती है। उसकी सत्ता अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखती। अपनी सत्तामीमांसीय युक्ति द्वारा सार्त्र चेतना की संरचना से ही तदितर सत्ता की सिद्धि कर देते हैं जिस पर आश्रित हुई ही चेतना उत्पन्न होती है। "चेतना किसी चीज की चेतना होती है। इसका अर्थ है कि चेतना की विधातृ संरचना अतिक्रामिता है। अर्थात् चेतना ऐसे सत् पर आश्रित हुई उत्पन्न होती है जो वह नहीं है। यह वह (युक्ति है) जो सत्तामीमांसीय तर्क कहा जाता है।"[21] इस तरह सार्त्र चेतना से पृथक् ट्रान्सफेनोमेनल सत्ता को, स्वनिष्ठ सत् को स्वीकार करते हैं। "यह सत्ता है, सत्ता अपने आप में है, सत्ता जो है वही है।" सत्ता अपने से इतर किसी अन्य का संकेत नहीं करती, जबकि चेतना निरन्तर अपने से इतर का संकेत करती हुई स्थित होती है। सत्ता का कोई 'इतर' या अन्य हो ही नहीं सकता। वह अनुत्पन्न है। वह मात्र है। चेतना से पृथक् और स्वतन्त्र स्वनिष्ठ सत् की यह सत्ता स्थगन की वस्तु नहीं है। इसका कोष्ठीकरण नहीं किया जा सकता। सार्त्र का 'नॉशिया' हुसर्ल के इसी इपाकी का खण्डन है। नॉशिया में सार्त्र कहते हैं-"अस्तित्व दूर से विचार करने की वस्तु नहीं है, वह अकस्मात् आपके ऊपर आक्रमण करता है, आप पर कूद पड़ता है, एक विशालकाय निश्चल पशु की भाँति वह आपके मन पर बोझ डालता है-अन्यथा इसके अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता।"[22] नॉशिया का नायक रोक्वेन्टिन अस्तित्व की वास्तविकता का

अपने चारों ओर अनुभव करता है। वह अपने को वस्तुओं के अस्तित्व से घिरा पाता है, जो बिना किसी अपेक्षा के उसकी भावनाओं तथा विचारों से सर्वथा उदासीन, मात्र विद्यमान होती हैं। "वस्तुओं के मध्य घिरा हुआ रोक्वेन्टिन उनसे छुटकारा पाना चाहता है, किन्तु सत्ता सर्वत्र उसका पीछा करती है। वह उनका कारण ढूँढ़ना चाहता है किन्तु उनके होने का कोई कारण नहीं दिखायी देता। इससे उसे 'चिढ़' और 'ऊब' होती है, किन्तु इस स्थिति से उबरने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। सत्ता का उबाने वाला रूप सार्त्र के निराशावाद अथवा सन्देहवाद का सूचक नहीं है। (प्राय: नॉशिया को इसी अर्थ में लेकर अस्तित्ववाद का अनर्थ किया गया है) सार्त्र का नॉशिया सत्ता की अपरिहार्यता तथा प्राथमिकता का द्योतक है। नॉशिया शारीरिक बीमारी नहीं है। यह मनुष्य की तत्त्वमीमांसीय बेचैनी है। उपन्यास के नायक की सारी छटपटाहट शायद इसी नाते है कि वह अस्तित्व या सत्ता की कोई प्रत्ययात्मक व्याख्या नहीं कर पाता और न ही उससे छुटकारा पा सकता है।"[23] सार्त्र हुसर्ल के स्थगन सिद्धान्त और अनुभवातीत आत्मा के सिद्धान्त का विरोध करते हैं। सार्त्र ने यह स्वीकार किया कि हुसर्ल का 'वस्तुओं की ओर वापस लौटो' का नारा दर्शन को वास्तविक जगत् से सम्पर्क में लाने का गम्भीर प्रयास था, किन्तु एक बार वस्तु जगत् को कोष्ठीकृत करके वह पुन: उसकी सत्ता उसे वापस नहीं दिला पाता। सार्त्र के अनुसार जगत् देकार्टीय सन्देह अथवा फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी का विषय नहीं है। हुसर्ल ने जगत् का स्थगन उसे चेतना की संरचना के रूप में स्थापित करने के लिये किया। पर सार्त्र के अनुसार जगत् का स्थगन उसके मिथ्याकरण की प्रक्रिया है, यह स्वयं हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजिकीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।[24] हुसर्ल ने विषयी एवं विषय (नोएसिस तथा नोएमा) के ध्रुवों को स्वीकार कर विषयी को आधारभूत वास्तविकता के रूप में स्थापित किया। हुसर्ल की इपाकी **गोचर की सत्ता** को **सत्ता के गोचर** में विघटित कर देने का प्रयास है।[25] पर गोचर की सत्ता मात्र गोचर में ही नहीं चुकती। अस्तित्व को उसके ज्ञान में नहीं विघटित किया जा सकता। वस्तुओं की सत्ता स्वयंसिद्ध है। इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह हम पर अपने को बरबस आरोपित करती हुई स्वयं को इंगित करती है। अस्तु, जगत् की चेतना से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है। वस्तु के अभाव में चेतना का भी अभाव होता है। चेतना वस्तु जगत् पर आश्रित ही उत्पन्न होती है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी असम्भव है। चेतना का स्वयं में अध्ययन असम्भव है। यह अनिवार्यत: किसी वस्तु की चेतना है। हुसर्ल के लिये वस्तु जगत् का अध्ययन चेतना या अनुभवातीत विषयिता मात्र का अध्ययन रह जाता है। सार्त्र के अनुसार सत्ता या स्वनिष्ठ सत् इपाकी का विषय नहीं है। अत: जो चेतना सार्त्र के लिये अध्ययन का विषय है वह वस्तु जगत् में लीन चेतना है।

चेतना का प्राक्विमर्शी स्वरूप

चेतना का स्वरूप प्राथमिक रूप से क्रियाशील चेतना का है, न कि ज्ञाता रूप चेतना का। चेतना स्वरूपतः प्राग्विमर्शी और निर्वैयक्तिक है। यह वस्तु जगत् में लीन चेतना है। सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। 'द ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ द इगो' में सार्त्र चेतना के प्राग्विमर्शी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इस बात से इंकार करते हैं कि चेतना के पीछे कोई स्थायी आत्मा है। सार्त्र के अनुसार हुसर्ल चेतना के भीतर आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है। यह आत्मा नित्य, अपरिवर्तनीय है तथा चेतना की विषयापेक्षाओं का संचालक है। यह आत्मा एक है तथा चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में एकता स्थापित करता है। यह अनुभवातीत आत्मा समस्त विषयापेक्षी क्रियाओं का स्रोत है। अनुभवातीत आत्मा जो कि शुद्ध विषयिता है समस्त सत्ता, सत्य एवं ज्ञान का आधार है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन इस अनुभवातीत स्वरूप को प्रकाशित करता है जिसके सन्दर्भ में ही किसी वस्तु का अर्थ हो सकता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि हुसर्ल के अनुभवातीत आत्म सम्बन्धी जिस मत का सार्त्र खण्डन करता है वह हुसर्ल के परवर्ती रचनाओं 'आइडियाज' तथा 'कार्टेजियन मेडिटेशन्स' में उल्लिखित है। सार्त्र के अनुसार विषयापेक्षी क्रियाओं अथवा लक्ष्योन्मुखी चेतना के पीछ कोई आत्मा नहीं होती। विभिन्न विषयापेक्षी क्रियाओं का समूह ही आत्मा है। आत्मा या अहम् अनुचिन्तन का परिणाम है। अनुचिन्तन से पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। चेतना की मूल संरचना प्राक्विमर्शी (प्री-रिफ्लेक्टिव) अथवा अस्थितिपरक (नान-पोजीशनल) है। आत्मा या अहं का अविर्भाव चेतना पर अनुचिन्तन का परिणाम है। यह पूर्व विद्यमान वास्तविकता नहीं है। जब मैं किसी गाड़ी के पीछे भागता हूँ, किसी चित्र के देखने में तल्लीन होता हूँ तो उस अवस्था में 'मैं', अर्थात् 'आत्मा' का अस्तित्व नहीं होता। उस समय 'गाड़ी पकड़ने की चेतना' होती है, चेतना की अस्थितिपरक चेतना होती है। उस समय मैं वस्तुजगत् में निमग्न होता हूँ और कहीं से भी 'मैं' का बोध नहीं रहता।[26] चेतना की अनुचिन्तनात्मक अवस्था में कोई 'मैं' नहीं होता। यह अवस्था वस्तुओं में विलीनता की अवस्था होती है। इसमें केवल वस्तुओं की चेतना होती है। इस अवस्था में चेतना का प्रवाह वस्तुओं की ओर होता है। आत्मायुक्त चेतना द्वितीय स्तरीय चेतना है। चेतना की मूल संरचना में आत्मतत्त्व जैसी कोई सत्ता नहीं है। यदि चेतना में किसी अहं या आत्मा को स्वीकार किया जाए तो यह चेतना को विभक्त कर देगी। यह चेतना में एक विदेशीय तत्त्व को स्वीकार करना होगा। अनुभवातीत आत्मा या अहं चेतना की मृत्यु है।[27] सार्त्र के शब्दों में "चेतना में आत्मा न तो भौतिक रूप में और न आकार रूप में विद्यमान होता है, वह बाहर स्थित है, वह जगत्

में होता है। वह अन्य आत्माओं की भाँति जगत् की सत्ता है।"[28] इस प्रकार सार्त्र अनुभवातीत आत्मा के प्रत्यय का खण्डन कर उसे चेतना का आश्रय न मान वस्तु जगत् की सत्ता मान लेते हैं। आत्मा अथवा अहं या मैं ज्ञान का विषयी न हो विषय है। प्राग्विमर्शी चेतना ही प्राथमिक चेतना है जिसमे 'मैं' या 'आत्मा' का अभाव है, विमर्शी चेतना जिसमें आत्मा या मैं का आविर्भाव होता है गौण चेतना है। देकार्ट के 'मैं सोचता हूँ, अत: मैं हूँ' में 'मैं हूँ' कहने वाली चेतना 'सोचने वाली' चेतना नहीं है।[29] सन्देह करने वाला आत्मा अननुचिन्तित आत्म या चेतना है। आत्मा के रूप में उभरने वाली चेतना इसी अननुचिन्तित चेतना पर किये गये अनुचिन्तन का परिणाम है। चेतना **किसी विषय की चेतना** के साथ ही **स्वयं इस विषय की चेतना की भी चेतना** होती है। इस तरह चेतना स्वरूपत: आत्म चेतना होती है। आत्मचेतनात्मक स्वरूप होते हुए भी इसमें अहं या आत्म नहीं रहता। यह स्वयं को अविमर्शात्मक विधि से जानती है। जब मैं सामने पुस्तक देख रहा होता हूँ तो अविमर्शात्मक विधि से अपने देखने के प्रति भी चेतन रहता हूँ। परन्तु इस चेतनता में 'मैं ऐसा जान रहा हूँ' का बोध नहीं होता। चेतना की चेतना रहने पर भी इसमें 'मैं' का अस्तित्व नहीं रहता। किन्तु जब मैं अपनी चेतना पर विचार करता हूँ, अपने चेतन गतिविधियों पर विचार करता हूँ तो अनुचिन्तनात्मक आत्मा का आविर्भाव होता है, 'मैं' का उदय होता है। देकार्तीय आत्मा यही अनुचिन्तनात्मक आत्म है, जो कि द्वितीय स्तरीय चेतना है जबकि मूल चेतना निर्वैयक्तिक, अहं या आत्म से रहित, प्राग्विमर्शी एवं अस्थितिपरक है। यह स्वभावत: स्वप्रकाश है, यद्यपि इसमें अहं बोध नहीं है। अनुभवातीत आत्म के खण्डन द्वारा सार्त्रीय अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी में स्वयं वस्तुओं का अध्ययन करना सम्भव होता है क्योंकि हम देखते हैं कि अनुभवातीत आत्म की सत्ता स्वीकार कर हुसर्ल वस्तुओं की सत्ता एवं ज्ञान को अनुभवातीत आत्म के अधीन कर देते हैं।

सार्त्र चेतना के 'पीछे' और न तो चेतना 'में' किसी अहं या आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं। चेतना निस्स्वभाव है। चेतना में कोई तत्त्व या धर्म नहीं है। चेतना एक दिशा है। समस्त विषय चेतना से बाहर हैं। चेतना रिक्तता है। यह विषयों की ओर बहने वाली हवा है। अत: बाह्य विषयों या वस्तु जगत् का अध्ययन करना सम्भव हो पाता है। चेतना के विषय की अपनी स्वतन्त्रता बनी रहती है और उनका अध्ययन सम्भव हो पाता है। अनुभवातीत आत्मा के अस्वीकार से हुसर्ल का स्थगन सिद्धान्त-उसका इपाकी-असम्भव हो जाता है, क्योंकि विषयों की सत्ता अनुभवातीत आत्म द्वारा संरचित नहीं होने की स्थिति में स्वयं में है। चेतना हमेशा अपने से इतर वस्तुओं की सत्ता को प्रकाशित करती है। विषयों या वस्तु जगत् से पृथक्, उनको स्थगित करके अपचयित चेतना असम्भव है। चेतना वस्तु जगत से अलग,

अकेले कभी रह ही नहीं सकती।[30] अतः चेतना का विमर्शात्मक अध्ययन या फेनॉमेनॉलॉजी जगत् के साथ मूर्त रूप से सम्बन्धित मानवीय सत् का अध्ययन है। जगत् में अवस्थित मानवीय अस्तित्व का फेनॉमेनॉलॉजिकीय विवरण ही फेनॉमेनॉलॉजिकीय सत्तामीमांसा है।

सत्ता का दो रूप : स्वनिमित्त सत् एवं स्वनिष्ठ सत्

यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि सार्त्र सत्तामीमांसा और तत्त्वमीमांसा में महत्वपूर्ण भेद करते हैं। सत्तामीमांसा (आंटोलोजी) सत् का स्वरूप कैसा है–इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है। जबकि तत्त्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) सत् क्यों हैं इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है। तत्त्वमीमांसा में सत् की उत्पत्ति और हेतु पर विचार किया जाता है जबकि सत् के स्वरूप एवं उसकी अभिव्यक्ति का विवरण सत्तामीमांसा में दिया जाता है। सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन मुख्यतः सत्तामीमांसीय है। इसका प्रश्न 'कैसे' का प्रश्न है, अर्थात् मानवीय वास्तविकता कैसे सम्भव है, कैसे वह वस्तुजगत् में साझीदार है, उसका वस्तु जगत् से सम्बन्ध का स्वरूप कैसा है? ऊपर हमने देखा कि 'गोचर' के विश्लेषण से सार्त्र जहाँ तक एक तरफ प्राग्विमर्शी चेतना की सत्ता पाते हैं वहीं दूसरी ओर परागोचर सत्ता जो कि स्वनिष्ठ सत् है, को पाते है। सार्त्रीय सत्तामीमांसा सत्ता को जिन दो रूपों में पाती है उनमें एक चेतना है जो कि स्वनिमित्त सत् (पोर-सोई) है और दूसरा स्वनिष्ठ सत् (एन-सोइ) है। सारा का सारा बीइंग एण्ड नथिंगनेस इन दोनों सत्ताओं के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये लिखा गया है।[31] सार्त्र के अनुसार स्वनिमित्त सत् या चेतना अथवा मानवीय सत् एक ही है। सार्त्र के मनुष्य या चेतना सम्बन्धी मत को फिर से विस्तार में व्याख्यायित करने से पूर्व स्वनिष्ठ सत् या अचेतन सत् की संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक होगा। सार्त्र के अनुसार स्वनिमित्त सत् और स्वनिष्ठ सत् दोनों विपरीत लक्षण वाली सत्तायें हैं। स्वनिष्ठ सत् या अपने आप में सत्ता चेतना के विपरीत जड़ता है। यह अपनी अभिव्यक्ति की पूर्ववर्ती है। इसकी सत्ता अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखती। यह किसी सन्दर्भ की अपेक्षा नहीं रखती। यह सदा अनुत्पन्न है। सार्त्र के मत में सत्ता का हेतु ईश्वर नहीं है। बल्कि यह अहेतुक है। इस सत्ता का कोई आधार नहीं है। स्वनिष्ठ सत् के विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि वह है। इसका कोई कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। इसका विधि और निषेध नहीं किया जा सकता। यह सिर्फ है, इसके पीछे न कोई तुक है, न प्रयोजन और न कोई तर्क। इसीलिये इसे व्यर्थ और बेतुका कहा जाता है। यह असंगत है, आगन्तुक है। स्वनिष्ठ सत् अपारदर्शी सत्ता है। यह अभेद्य है गहन है, अपारगम्य है। इसमें भीतर और बाहर का कोई

भेद नहीं है।[32] यह ठोस है, इसमें कोई दरार नहीं है। यह पूर्ण संश्लेषण है-स्वयं से एकाकार है। यह सत्ता अपने से इतर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित करती। यह पूर्ण भावात्मकता है। यह सतत् अपनी सत्ता में विद्यमान होती है। यह जो है सो है। स्वनिष्ठ सत् परिवर्तन का विषय नहीं है। यह सम्भावना रूप नहीं है। उसकी सारी सम्भावनायें उसी की सत्ता में समाप्त होती है। इसमें न किसी प्रकार की सर्जनात्मकता निहित है और न विकास की सम्भावना। उसकी सत्ता पूर्ण ठोस और सघन है। वह पूर्ण प्रदत्त है। सार्त्र कहते हैं "अनुत्पन्न, अहेतुक और असंगत, अन्य के साथ नितान्त असम्बन्धित यह स्वनिष्ठ सत् शाश्वत् के लिये अतिरेक है, आकस्मिक है।"[33] इस तरह स्वनिष्ठ सत् का जो धर्म प्रकट होता है, वह निम्न है–

1. सत्ता है।
2. सत्ता स्वयं में है।
3. सत्ता जो है वही है।

** ** ** ** ** **

जैसा कि हम देख चुके हैं सार्त्र हाइडेगर और पोन्ती की तरह हुसर्ल की चेतना के विषयापेक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे हुसर्ल के अतीन्द्रिय आत्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं एवं इस बात को भी अस्वीकार करते हैं कि विषय जगत् इस आत्म द्वारा संरचित होता है। चेतना जिसे कि सार्त्र स्वनिमित्त सत् कहते हैं, अपने स्वरूप में प्राग्विमर्शी है। यह न तो विषय है और न ही विषय की तरह ज्ञेय है। चेतना स्वरूपतः आत्म-चेतना है लेकिन आत्म-चेतना का अर्थ यह नहीं है कि यह आत्मा की चेतना है, कि इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत है, विषय-विषयी का द्वैत है। प्राग्विमर्शी चेतना ज्ञाता या विषयी रूप न हो विषय-विषयी के द्वैत से ऊपर है। चेतना विषय की चेतना में आत्म चेतना से युक्त होती है। वस्तुतः प्राग्विमर्शी चेतना ज्ञाता रूप न हो कर्ता और भोक्ता रूप चेतना है। ऐसी स्थिति में इसे जगत् (वस्तु जगत्) से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में देखा नहीं जा सकता, क्योंकि प्राग्विमर्शी चेतना जगद्भावापन्न चेतना है-जगद् में निमग्न और क्रियारत चेतना है। जगत् में, जागतिक विषय में निमग्न होती हुई चेतना जागतिक विषय नहीं है।

'द ट्रैजिक फिनाले' में विल्फ्रेड डेसान सार्त्र के प्राग्विमर्शी चेतना के विरुद्ध आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि सार्त्र भले ही स्वीकार न करे, परन्तु इस चेतना के पीछे आत्म या अहं अवश्य है।[34] डेसान प्रश्न उठाते हैं कि वह चेतना जो चेतना के प्राग्विमर्शी स्वरूप को दर्शाती है वह आत्मयुक्त चेतना ही तो है। पुनः सार्त्र

चेतना के विषयापेक्षा के सिद्धान्त द्वारा अहं या आत्म का खण्डन करते हैं, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि यह मैं हूँ जो संसार को जानता हूँ, यह मैं हूँ जो जगत् की अभिलाषा करता हूँ, यह मैं हूँ जो जगत् का चयन करता हूँ, जो निषेध करता हूँ।[35] पुनः सार्त्र द्वारा किया गया स्वनिमित्त सत् (चेतना) और इतर (अदर) का विभाजन वस्तुतः यही सिद्ध करता है कि मैं हूँ।[36] डेसान के मत में इस तरह सार्त्र निर्वैयक्तिक और रिक्त चेतना को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। चेतना की अभाव रूप में व्याख्या कर, दुरास्था को आत्म-प्रवंचना रूप में दिखाकर सार्त्र यही सिद्ध करते हैं कि एक आत्म या अहमात्मा है जो अवस्तुत्त्व की जनक है, जो अपने अथाह स्वतन्त्रता से घबड़ाकर दुरास्था का सहारा लेती है। डेसान कहते हैं कि सार्त्र द्वारा सात सौ पृष्ठों में किया गया फेनॉमेनॉलॉजिकीय विवरण वस्तुतः उनके अपने स्थायी, अविरत विमर्श का ही परिणाम है–यह इसीलिये सम्भव हो सका कि वह अपने प्राग्विमर्शी चेतना को अनुचिन्तन में यह देख सके कि वह अहं से शून्य है। वस्तुतः इन सबके पीछे अहमात्मा हमेशा विद्यमान रही।[37]

लेकिन क्या ये आक्षेप वस्तुतः सार्त्र पर लगाये जा सकते हैं? सच तो यह है कि सार्त्र को इन सभी आक्षेपों का पूर्वाभास था। इसीलिये वे कहते हैं कि जब हम सिगरेट केस के सिगरेट गिन रहे होते हैं तो हम सिगरेट गिन रहे हैं, इस बात का ज्ञान नहीं रहने पर भी हमें गिनने की चेतना नहीं रहती, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि हमसे यदि कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं तो हमारा तुरन्त उत्तर होता है कि मैं सिगरेट गिन रहा हूँ। इस तरह विषय की चेतना के साथ ही, इस चेतना की भी चेतना उपस्थित रहती है। चेतना की मूल स्थिति यही है। यह स्वप्रकाशक है।

यहाँ सार्त्र के प्राग्विमर्शी चेतना की तुलना शांकर वेदान्त के आत्मा की अवधारणा से करना प्रासंगिक होगा।[38] शांकर मत में भी आत्मा निर्वैयक्तिक है तथा अहम् द्वितीय स्तरीय आत्म है, विषय है। मूल चेतना ज्ञाता ज्ञेय के द्वैत से पृथक् है। सार्त्र के समान शंकर में भी चेतना द्रव्य रूप नहीं है और न तो वह किसी **आत्म** का गुण है। यह न तो ज्ञान का विषय है और न विषयी है। यह विषय-विषयी द्वैत से ऊपर है। सार्त्रीय चेतना के समान शांकर मत में भी चेतना स्वयंप्रकाश है–विषय के प्रकाश के साथ ही यह स्वयं को भी प्रकाशित करती है। वस्तुतः जब हम किसी कार्य में निमग्न रहते हैं तो हर समय हमें अपनी उस निमग्नता का इस रूप में बोध नहीं होता रहता कि मैं यह कार्य कर रहा हूँ। उदाहरणार्थ जब हम लिखते रहते हैं तो हमें केवल विषय का ज्ञान रहता है, कि मैं लिख रहा हूँ इसका ज्ञान नहीं रहता। तब प्रश्न उठेगा कि हमारे कार्य व्यापार की एक

चेतना के व्यापार के रूप में अन्विति की कैसे व्याख्या होगी? इस प्रश्न का उत्तर अद्वैत मत में साक्षी द्वारा दिया गया है। साक्षी नेपथ्य से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को प्रकाशित करता रहता है। सुख, स्मृति तथा सुषुप्ति के बाद के अनुभव नैरन्तर्य की व्याख्या अद्वैती साक्षी द्वारा करते हैं। यह साक्षी ज्ञाता या विषयी रूप नहीं है। हुसर्ल के मत में यह कार्य अनुभवातीत आत्म द्वारा सम्भव हो पाता है जबकि सार्त्र प्राग्विमर्शी चेतना को मूल चेतना बताते हैं। अहं के निरास में तथा चेतना के स्वप्रकाश रूप में जहाँ सार्त्र शंकर के अधिक नजदीक हैं, वहीं विषय जगत् को अनुभवातीत आत्म संरचित कहने में हुसर्ल और शंकर की तुलना अधिक प्रासंगिक होगी।

यहाँ इतना स्पष्ट रहे कि जब सार्त्र चेतना को प्राग्विमर्शी कहते हैं और अहम् या मैं का खण्डन करते हैं तो इसका तात्पर्य चेतना की निस्स्वभावता से है, उसके अभाव रूप को दर्शाने के लिये है। डेसान की समस्या यह है कि वह चेतना को गुण रूप में लेकर उसके आश्रय रूप में अहं या आत्म को अनिवार्य समझ बैठता है, जबकि सार्त्र प्राग्विमर्शी चेतना को स्वभावतः स्वचेतन मानकर उसके आश्रय रूप में किसी **द्रव्य रूप आत्म** का खण्डन करते हैं। आत्मा द्रव्य नहीं है। चेतना को आत्म (द्रव्य) शून्य बताकर सार्त्र उसे अवस्तु रूप में–निषेध रूप–में बताते हैं। चेतना की अवस्तुत्व रूप में अवधारणा सार्त्र के दर्शन की मूल प्रस्थापना है, जिसकी वे द ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ द इगो, द साइकोलोजी ऑफ इमेजिनेशन्स तथा बीइंग एण्ड नथिंगनेस में विस्तार से व्याख्या करते हैं। मानवीय यथार्थता तथा स्वतन्त्रता का सारा दर्शन चेतना के इसी अवस्तुत्व के सिद्धान्त पर आधारित है।

चेतना में अन्तराल

चेतना जो कि स्वनिमित्त सत् है, उसकी सारभूत विशेषता यह है कि वह एक कमी है, अभाव है। यह इस अभाव को भरना चाहती है। सार्त्र के अनुसार चेतना एक रिक्तता है। यह वस्तुतः **एक तरह के अन्तराल** रूप में स्थित है। जैसा कि हम देख चुके हैं चेतना विषयापेक्षी होती है अर्थात् इसका एक विषय होता है और विषय की चेतना के साथ ही इस विषय-चेतना की भी चेतना होना, चेतना का मूल स्वरूप है। फलस्वरूप चेतना अपने विषय से एक तरह का अन्तराल या दूरी बनाये रहती है। यह स्वयं में और जिस विषय की यह चेतना है उसमें एक विवेक (भेद) लिये रहती है। (चेतना और विषय की यह दूरी 'ज्ञान' के लिये अनिवार्य है, क्योंकि विषय से भेद–'मैं विषय नहीं हूँ'–ज्ञान की अनिवार्य शर्त है।)[39] इस तरह का भेद बनाना एक अन्तराल या दूरी उत्पन्न करता है जो 'विषय' और 'उसके विचार' में होता है। 'विचार' और उसके 'विषय' के बीच

की यह अन्तराल (दूरी) एक तरह से देखा जाए तो चेतना की उस शक्ति के कारण सम्भव होता है जो उसके पास स्वीकारने, निषेध करने, कल्पना करने, प्रश्न करने, भय आदि विभिन्न संवेगों में अभिव्यक्त होने के रूप में है। और चेतना की स्वतन्त्रता भी तो यही है–किसी विषय को अथवा जगत् को स्वीकारना या न स्वीकारना, जो है उससे भिन्न की कल्पना करना, अपेक्षा रखना। इस तरह से चेतना की स्वतन्त्रता विषय और उसके विचार के अलगाव का कारण है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता और रिक्तता चेतना के स्वरूप में ही निहित है।

चेतना की 'कमी' या 'अभाव' की व्याख्या सार्त्र सम्भव (पॉसिबल) की व्याख्या द्वारा करता है। चेतना एक कमी है अपने सम्भावना की पूर्णता की। जहाँ किसी वस्तु की सम्भावनायें उसमें वस्तुतः विद्यमान होती हैं, सिद्ध होती हैं, वहीं चेतना निरन्तर अपनी सम्भांवनाओं को सिद्ध करने मे रत रहती है।[40] पर ये सम्भावनायें कभी सिद्ध नहीं हो पाती।[41] वस्तुतः देखा जाए तो यदि चेतन प्राणी न हो तो सम्भावना कुछ भी अर्थ नहीं रखती, एक सम्भावित पूर्णता का विन्यास चेतना की ही विशिष्टता होती है जिसके सन्दर्भ में अभाव या कमी का ज्ञान होता है। इस दृष्टि से दखा जाए तो चेतना स्वयं अपनी 'पूर्णता' की सम्भावना को प्रक्षिप्त करती है और उससे दूर रहती है। अपनी पूर्णता की रिक्तता का असन्तोष चेतना की मूल स्थिति है जिसे वह भरने की निरर्थक कोशिश करती है।

निषेध

जैसा कि हम देख चुके हैं अचेतन सत्ता स्वनिष्ठ सत् एक पूर्णता है, वह अपने साथ एकाकार है जबकि दूसरी ओर चेतना में इन गुणों का अभाव है। चेतन सत्ता को उस रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता जिस रूप में विषयों को परिभाषित किया जा सकता है। चेतना की यह अपरिभाष्यता ही अवस्तुत्व है। चेतना का आविर्भाव अवस्तुत्व रूप में होता है। चेतना की अवस्तुत्व रूप में स्थापना सार्त्र ''निषेध'' के विश्लेषण से भी करते हैं। निषेध चेतना की आन्तरिक संरचना में निहित रहता है और यह निषेध चेतना को अवस्तुत्व रूप में प्रस्थापित करता है।

सार्त्र निषेध सम्बन्धी चर्चा का आरम्भ प्रश्न पूछना, प्रत्याशा करना, विनाश आदि मानवीय क्रियाकलापों के विमर्श से करते हैं। हम प्रश्न पूछते हैं, यह तभी सम्भव होता है जब हम निषेधपरक उत्तर के लिये तैयार हों। स्वीकारात्मक उत्तर की भी स्थिति में कम से कम अन्य सम्भावित उत्तरों का निषेध तो रहता ही है। इसी तरह 'जो नहीं है उसका बोध' विध्वंश (डिस्ट्रक्शन) की प्रागपेक्षा होती

है। इसी तरह हमारी प्रत्याशायें भी निषेध समर्थ होती हैं। यह निषेध सार्त्र के अनुसार निर्णय का गुण न हो निर्णय पूर्व अवस्था है। सार्त्र इस भ्रान्त धारणा का खण्डन करते हैं कि अवस्तुत्व निषेधात्मक निर्णयों की सम्प्रत्ययात्मक एकता है। यह निर्णय पूर्व अवस्था है, यह बात तब और सिद्ध होती है जब हम इस पर ध्यान देते हैं कि हम संकेतों से, निगाहों से तथा भाव-भंगिमाओं द्वारा भी प्रश्नचिह्न खड़ा कर सकते हैं। अतःनिषेध करना निर्णय देने की अनुचिन्तन की प्रक्रिया न हो, अनुचिन्तन पूर्वी चेतना का गुण है। इस तरह निषेधात्मक निर्णय अभाव या निषेध नहीं उत्पन्न करता है अपितु अभाव या अवस्तुत्व (नथिंगनेस) पर वह स्वयं अपनी सत्ता के लिये निर्भर है।[42]

अवस्तुत्व के सम्बन्ध में सार्त्र मुख्य रूप से दो बातें प्रतिपादित करते हैं[43]। प्रथम यह कि अवस्तुत्व निर्णय का गुण नहीं अपितु हमारे अनुभव का विषय है और दूसरा यह कि अवस्तुत्व चेतना की निषेध क्रिया (ऐक्ट ऑफ निहिलेशन) का परिणाम है। उस निषेध क्रिया का परिणाम है जो मनुष्य को अन्य सत्ताओं से पृथक् करती है, जो उसकी स्वतन्त्रता का स्वरूप धर्म है। सार्त्र के अनुसार हम केवल वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष नहीं करते बल्कि अवस्तुत्व का भी हमें प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् हम 'भाव' के साथ 'अभाव' को भी देखते हैं। सार्त्र इस बात को पियरे के उदाहरण द्वारा विस्तार से सिद्ध करते हैं।[44] उनका कहना है कि मान लीजिये मैं अपने मित्र पियरे की तलाश कॉफी हाउस में कर रहा हूँ और वह वहाँ नहीं है। ऐसी दशा में सारा काफी हाउस निषेध की पृष्ठभूमि बन जाता है। मुझे एक शक्ल की तलाश है, किन्तु काफी हाउस के उपस्थित पदार्थों और मेरी दृष्टि के बीच से वह शक्ल (पियरे की) निरन्तर फिसलती जा रही है। वह अवस्तु के रूप में मेरे समक्ष अपने को प्रदर्शित कर रही है तथा उसका अवस्तुत्व मेरे इस निर्णय का आधार बनता है कि 'पियरे यहाँ नहीं है'। मैं पियरे को वहाँ पाने की आशा कर रहा था तथा मेरी यह आशा काफी हाउस के सन्दर्भ में पियरे की अनुपस्थिति (अभाव) को एक वास्तविक घटना के रूप में प्रस्तुत कर रही है। अनुपस्थित पियरे काफी हाउस को हान्ट कर रहा है।[45] इसके विपरीत यदि मैं कहूँ कि बेलिंगटन काफी हाउस में नहीं है तो यह निषेध की कोटि का एक अमूर्त प्रयोग मात्र है क्योंकि काफी हाउस में मैने बेलिंगटन के हाने की कभी आशा नहीं की थी। यहाँ 'नहीं है' मात्र एक वैचारिक कोटि है, उसका काफी हाउस के परिप्रेक्ष्य में कोई अर्थ नहीं है, जबकि जब मैं मित्र की प्रतीक्षा कर रहा होता हूँ तो कमरे की दिवालों, दरवाजों को तो देखता ही रहता हूँ उससे भी अधिक किसी खट्खट् की आवाज का न होना, पदचाप न होना इनकी अनुभूति अधिक करता रहता हूँ।[46]

इन सब उदाहरणों द्वारा सार्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निषेध सत्ता की अस्वीकृति है। इसके द्वारा एक सत्ता की स्थापना होती है और पुनः जिसे अवस्तुत्व के क्षेत्र में फेंक दिया जाता है। निषेध के वैचारिक कोटि होने की स्थिति में यह भूमिका इससे सम्भव नहीं होती। निषेध का अर्थ सत्ता की विच्छिन्नता है और यह विच्छिन्नता वैचारिक कोटि के निर्णयों के विधि या निषेध से उत्पन्न नहीं होती। इस तरह निषेध के प्रश्न के साथ हम चेतना की सीमा में प्रवेश करते हैं। निषेध करना चेतना का गुण है किन्तु चेतना भी इसे निषेध की चेतना के रूप में ही उत्पन्न करती है। अर्थात् निषेध चेतना में विद्यमान कोई कोटि नहीं है। इसका आविर्भाव निषेध की चेतना के रूप में ही होता है। न कहने की आवश्यक शर्त है कि अवस्तुत्व या असत्ता हमारे बाहर, हममें, सर्वत्र निरन्तर विद्यमान हो।[47]

अवस्तुत्व या निषेध के सम्बन्ध में सार्त्र के विचार हीगल और हाइडेगर के सिद्धान्तों की समीक्षा पर आधारित हैं।[48] हीगल के विपरीत वे अवस्तुत्व को वस्तु या सत् का समकालीन नहीं मानते। असत्ता सार्त्र के अनुसार सत्ता की परवर्ती है। उसका आविर्भाव सत्ता की सतह पर ही होता है। 'अवस्तुत्व' की सत्ता उधार ली हुई सत्ता है। हीगल के अनुसार शुद्ध सत्ता के तिरोभाव से शुद्ध अवस्तुत्व या असत्ता का आविर्भाव होता है, किन्तु सार्त्र के अनुसार शुद्ध सत्ता के तिरोहित होने से असत्ता भी तिरोहित हो जायेगी। वस्तुतः सत्ता असत्ता की पूर्ववर्ती है, उसकी आधारभूमि है। सत्ता की सत्ता **असत्ता** की अपेक्षा नहीं रखती जबकि **असत्ता** सत्ता के अन्तस्तल में ही जन्म लेती है। हाइडेगर ने बीइंग एण्ड टाइम में विस्तार से अवस्तुत्व की चर्चा की है और मनुष्य के जगदतिक्रमता को अवस्तुत्व द्वारा सम्भव बताया है। अवस्तुत्व में मानव-वास्तविकता का आविर्भाव होता है। सार्त्र पर इस धारणा का काफी प्रभाव पड़ा। पर सार्त्र के अनुसार हाइडेगर **असत्ता** को मानो भावात्मक रूप में वर्णित करने लगते हैं, वे उसे एक तरह की सत्ता प्रदान कर देते हैं। वे अवस्तुत्व की स्थिति में सत्ता को पूर्णतया निलम्बित मान लेते हैं—फलतः अवस्तुत्व के जागतिक अनुभवों, स्थूल निषेधों की व्याख्या नहीं हो पाती। यहाँ सार्त्र निषेध को चेतना की आन्तरिक संरचना के रूप में देखते हैं तथा सत्ता की आधारभूमि पर ही असत्ता की प्रतिष्ठा हो सकती है, ऐसा उनका कहना है। निषेध न तो सत्ता के पहले है, न बाद में और न बाहर। वह सत्ता के भीतर ही कुण्डली मारकर बैठी होती है।[49]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवस्तुत्व अमूर्त अवधारणा नहीं जैसा कि हीगल मानते हैं और न ही पराजागतिक है जैसा कि हाइडेगर मानते हैं, यह मानवीय अनुभव का विषय है। अवस्तुत्व चेतना की क्रिया है। स्वयं में सत् अवस्तुत्व को उत्पन्न

नहीं कर सकती। यह उसके स्वभाव के विपरीत है। शुद्ध सत्ता जो कि मात्र है, के साथ किसी क्रिया या वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अवस्तुत्व स्वयं अपने को उत्पन्न नहीं कर सकती। वह निषिद्ध होती है। **अवस्तुत्व है नहीं अपितु बनायी जाती है।** अतएव अवस्तुत्व का आविर्भाव ऐसी सत्ता से होता है जो अपनी सत्ता में निरन्तर अवस्तुत्व को धारण किये होती है। यह सत्ता चेतना है। चेतना ऐसी सत्ता है जो अवस्तुत्व का स्रोत होने के साथ अपना भी अवस्तुत्व स्थापित करती है। वस्तुतः यह चेतना अथवा मानवीय वास्तविकता का ही गुण है कि वह वस्तुओं से अपने को अलग कर सकती है। (चेतना मूलतः जगत् से अलगाव की चेतना है। चेतना और जगत् के बीच एक सरंचनात्मक दरार है, निषेध है, दूरी है और चेतना इस दरार, निषेध या दूरी की चेतना है।) चेतना वास्तविक जगत् से बँधी नहीं होती। मनुष्य की आशायें, सम्भावनायें, प्रतीक्षायें, इच्छायें इस बात को पुष्टि करती हैं कि वह वास्तविक जगत् से अलग होकर सम्भाव्य जगत् की कल्पना कर सकता है। यदि मनुष्य जगत् में मात्र निष्क्रिय द्रष्टा होता तो वह वास्तविकता से बँधा और नियन्त्रित रहता तथा सम्भाव्य की, आदर्श की, योजना की कोई कल्पना नहीं कर पाता। मनुष्य की यह सृजनात्मकता उसके द्वारा वास्तविक जगत् के निषेध से सम्भव होती है। इस तरह सार्त्र का अवस्तुत्व का सिद्धान्त मानवीय स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त है। चेतना, आत्मा या मनुष्य कोई वस्तु नहीं। मनुष्य के कारण ही जगत् में अवस्तुत्व का आविर्भाव होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट क्षमता उसकी मूल स्वतन्त्रता से प्रादुर्भूत होती है। अपनी इसी क्षमता के नाते मनुष्य सत्ता के प्रति तथा स्वयं के प्रति प्रश्न पूछ सकता है।[50]

मनुष्य, चेतना और स्वतन्त्रता

सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वनिमित्त सत् है। मानवीय सत् स्वयं के लिये सत्ता है अर्थात् मनुष्य के लिये सत्ता पर्येष्य है। उसकी सत्ता से एक दूरी है और वह वह नहीं है जो वह है। इसके विपरीत स्वनिष्ठ सत् जड़ जगत् है। यह वह है जो है, यह स्वयं से तदाकार है। स्वनिष्ठ सत् ठोस, अपारदर्शी एवं पूर्ण सत्ता है। इसके विपरीत मनुष्य को उसके अवस्तुत्व और रिक्तता से परिभाषित किया जाता है। सार्त्र के दर्शन में स्वनिमित्त सत्, चेतना, रिक्तता, स्वतन्त्रता या मनुष्य समान अर्थ में अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। अतः चेतना के स्वरूप विमर्श को मनुष्य स्वरूप विमर्श के रूप में लेना चाहिये। सार्त्रीय फेनॉमेनॉलॉजी का केन्द्र मनुष्य ही है। चेतना की अवस्तुत्व रूप में स्थापना द्वारा सार्त्र चेतना की स्वतन्त्रता को स्पष्ट करते हैं। जगत् से या 'स्वयं में सत्' से–कारणिक श्रृंखला से–अपने को अलग करने की विशिष्टता चेतना के स्वतन्त्र स्वभाव द्वारा सम्भव होता है। सार्त्र के अनुसार

स्वतन्त्रता मानव का विभिन्न लक्षणों या सारतत्त्वों में से कोई लक्षण या सारतत्त्व नहीं है। बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक ही मनुष्य अपना सार निर्धारित करता है। इस तरह स्वतन्त्रता मानवीय यर्थार्थता की सारभूत विशेषता न हो, मानवीय यथार्थता ही स्वतन्त्रता है। मानवीय स्वतन्त्रता उसके सार की पूर्वगामी है। मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता में विवेक करना असम्भव है। "मनुष्य पहले अस्तित्ववान् होता है और फिर स्वतन्त्र ऐसी बात नहीं। मनुष्य की सत्ता और उसकी स्वतन्त्रता में कोई अन्तर नहीं है।"[51] इस अर्थ में मानवीय स्वतन्त्रता निरपेक्ष है। शंकर के अनुसार भी चेतना और स्वतन्त्रता में भेद नहीं है। आत्मा या मनुष्य स्वतन्त्र है, मुक्त है।[52] मानवीय आत्मा वस्तुत: मुक्त एवं स्वतन्त्र है, भ्रमवश वह अपने को बन्धन में देखता है। मुक्ति किसी नयी चीज की प्राप्ति नहीं अपितु अपनी वास्तविकता का साक्षात्कार है।

सार्त्र मानव स्वतन्त्रता को पूर्ण निरपेक्ष बताते हैं। यह न तो किसी तरह से निर्धारित है और न किसी के द्वारा दी हुई। मनुष्य की इस स्वतन्त्रता को कोई भी प्रभावित नहीं कर सकता। मानवीय सत् अपनी संरचना में ही स्वतन्त्रता को गर्भित किये हुए है। मानवीय वास्तविकता को तदितर सत्ता से पृथक् करने वाली शून्यता है। स्वनिमित्त सत् और स्वनिष्ठ सत् में एक अन्तराल है, दूरी है। यह अन्तराल या दूरी स्वयं चेतना है जो कि शून्यता है। विभिन्न चेतन व्यापारों में यह शून्यता प्रदर्शित होती है। चेतना जो कि निषेध करती है वह निषेध की चेतना रूप में अस्तित्ववान् है। कहने का तात्पर्य है कि चेतना में निषेध 'अन्य' से उत्पन्न न हो स्वयं निषेधन ही चेतना है। इस तरह देखा जाय तो निषेधीकरण और स्वतन्त्रता एक हैं। चेतना के इसी अवस्तुत्व और स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिये सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्मा का खण्डन करके चेतना के प्राग्विमर्शी स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। वे अनुभवातीत आत्मा को चेतना की मृत्यु बतलाते हैं।[53] अनुभवातीत आत्मा को स्वीकार करना चेतना के स्थायित्व को स्वीकार करना होगा, फलस्वरूप चेतना मुक्त और निस्स्वभाव नहीं रह जायेगी। आत्मायुक्त चेतना अपनी क्रियाओं तथा अनुभवों के लिये आत्मा का अवलम्ब ले सकती है, किन्तु ऐसे किसी स्थायी तत्त्व से विहीन चेतना पूर्णतया स्वतन्त्र है। निषेध करना, कल्पना करना, प्रश्न पूछना, प्रत्याशा, संवेग, प्रत्यक्ष आदि के विश्लेषण द्वारा सार्त्र यह सिद्ध करते हैं कि प्रदत्त से अतिक्रमण करने की विशिष्टता या स्वतन्त्रता चेतना की मूल विशेषता है जिसके कारण ही उपरोक्त मानवीय व्यापार सम्भव होते हैं।[54]

सार्त्र के दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य मानव स्वतन्त्रता है। विषयी का चेतना रूप से बार-बार प्रतिपादन तथा चेतना की निषेध एवं अतिक्रमण रूप में व्याख्या पूर्ण

एवं निरपेक्ष स्वतन्त्रता की ही ओर इशारा करती है। चेतना की प्रश्न करने, कल्पना करने, निषेध करने की प्रक्रिया इस बात को सिद्ध करती है कि मनुष्य स्वयं को जगत् की नियमबद्धता एवं कार्य-कारण श्रृंखला से अलग कर सकता है। और सच पूछा जाए तो स्वनिमित्त सत् एवं स्वयं में सत् के बीच यही मौलिक अन्तर है। स्वयं में सत् अपने से एकाकार सत् है, इसमें स्वयं से अलग होने की सम्भावना नहीं है। इसके विपरीत चेतना निषेध करने की, अस्वीकार करने की सम्भावना से अनवरत युक्त है। यह स्वयं से तादात्म्य की अनवरत खोज है, पर इसमें यह सफल नहीं हो पाती। यदि चेतना स्वतन्त्र न हो तो स्वरूपान्वेषण की सातत्यता सम्भव न हो। सार्त्र प्रश्न पूछने, कल्पना करने का अनिवार्य शर्त चेतना द्वारा प्रदत्त विश्व की कारण श्रृंखला से अपने को अलग करने अथवा उसका निषेध करने की उसकी शक्ति में बताते हैं।[55] स्वयं में सत् (वस्तु जगत्) से यह अलगाव, वस्तु जगत् का यह निषेध ही तो स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता स्वनिमित्त सत् द्वारा स्वनिष्ठ सत् के निषेध की प्रक्रिया में उद्घाटित होती है। अपनी स्वतन्त्रता के कारण ही मानवीय वास्तविकता अपनी सम्भावनाओं की ओर गतिमान है। यह स्वतन्त्रता ही है जिसके कारण मनुष्य के बारे में कहा जाता है कि **वह वह नहीं है जो है तथा वह वह है जो नहीं है**। इस स्वतन्त्रता के ही कारण मनुष्य का स्वरूप प्रदत्त या पूर्वनिर्धारित न हो निरन्तर अपने अस्तित्व का अतिक्रमण करने वाला है।

मानव-स्वतन्त्रता का कोई स्वरूप या सार नहीं है। सार या स्वरूप प्रदत्त होता है। मनुष्य में सार की स्वीकृति उसे परिभाष्य बना देगी। जिस तरह एक मेज का सार उसके निर्माणकर्ता के दिमाग में है और उस सार के द्वारा वह मेज को परिभाष्य बना देता है, वैसी स्थिति मानव के साथ नहीं है। मनुष्य निरन्तर निर्माणाधीन है। उसका कोई पूर्वनिर्धारित सार नहीं है। वह अपरिभाष्य है। सार्त्र कहते हैं "मनुष्य पहले अस्तित्ववान् होता है और स्वयं से सामना करता है, जगत् में तरंगित होता है और तब बाद में अपनी परिभाषा करता है।"[56] इस तरह स्वतन्त्रता समस्त अस्तित्ववादी दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। सार्त्र का प्रसिद्ध कथन 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है' इसी बात को स्पष्ट करता है।[57] चाहे विज्ञानवादी दर्शन हो या भौतिकवादी, दोनों ने मनुष्य की व्याख्या एक सिस्टम के अंग के रूप में की है तथा उसके 'स्वतन्त्रता' की अवहेलना की है। सार्त्र मनुष्य को अवस्तुत्व रूप बताकर उसके किसी स्वरूप या स्वभाव का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि मानव-स्वभाव जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस तरह निस्स्वभावता मानव की प्रमुख विशेषता है। मानव की सत्ता, उसकी स्वतन्त्रता तथा चेतना में कोई भेद नहीं है। यह बात हमें भारतीय दार्शनिकों का स्मरण कराती है। अद्वैत मत में भी जो चित् है वह मुक्त है। मानव स्वतन्त्रता का विरोधी कोई भी मत सार्त्र को स्वीकार नहीं

है। इसीलिये वे नियतिवाद, यान्त्रिकतावाद, विज्ञानवाद, व्यवहारवाद, फ्रायडवाद का खण्डन कर मानवीय स्वतन्त्रता को मानवीय व्यवहार का पूर्वगामी शर्त बताते हैं। वे संकल्प, संवेग, कारण, उद्देश्य, अभिप्रेरक, लक्ष्य आदि प्रत्ययों की व्याख्या कर किसी भी तरह के नियतिवाद को अस्वीकार कर मानवीय स्वतन्त्रता का प्रतिस्थापन करते हैं। सार्त्र के अनुसार मानवीय स्वातन्त्र्य पूर्ण स्वातन्त्र्य है, निरपेक्ष स्वातन्त्र्य है। वासनायें तथा प्रवृत्तियाँ मनुष्य को नियमित नहीं करती अपितु मनुष्य इन प्रवृत्तियों-वासनाओं के लिये स्वतन्त्र है। इसी तरह अभिप्रेरकों से वह स्वतन्त्र है। मनुष्य पूर्व निर्धारित नियमों, मूल्यों से स्वतन्त्र है। वह स्वयं मूल्यों का स्रष्टा है। मनुष्य का चयन ही मूल्यों को मूल्यवत्ता प्रदान करता है। उसके चुनाव से पूर्व उसकी कोई मूल्यवत्ता नहीं है।

सार्त्र की पूर्ण और निरपेक्ष स्वतन्त्रता के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जीवन की कई क्रूर वास्तविकतायें ऐसी हैं जो हमारी स्वतन्त्रता की बाधक हैं। सबसे बड़ी बाधा स्वयं इस बात मे है कि हम अपने जन्म के लिये उत्तरदायी नहीं है। जीवन की व्यर्थ दौड़ में हमें जबरदस्ती शामिल कर दिया गया है। सार्त्र का एक चरित्र[58] लूसन कहता है कि मैंने तो अपने जन्म के लिये नहीं कहा था। यही नहीं, हमें अपने बन्धु-बान्धव माता-पिता, जन्मस्थान, परिवेश चुनने का अधिकार नहीं है। मृत्यु ऐसी चीज है जहाँ हमारी स्वतन्त्रता असहाय हो जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि मानवीय स्वतन्त्रता की कोई सीमा नहीं, उसमें कोई बाधा नहीं, ऐसी बात नहीं है। सार्त्र यह स्वीकार करते हैं कि ऐसी अनेक बातें हैं जिनसे मनुष्य की स्वतन्त्रता परिसीमित होती है। इन बातों को सार्त्र तथ्यता (फैक्टिसिटी) कहते हैं। इनके लिये मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, वे कदाचित् उसकी स्वतन्त्रता के सम्मुख बाधा रूप में आते हैं। सार्त्र ने पाँच बातों को तथ्यता के अन्तर्गत परिगणित किया है–

1. मेरा स्थान
2. मेरा अतीत
3. मेरा परिवेश
4. मेरे सहयोगी बन्धु
5. मेरी मृत्यु

तो हम देखते हैं कि मानव-स्वातन्त्र्य 'निर्बाध' नहीं है। पर ये 'बाधायें' ही तो स्वतन्त्रता को अर्थ देती हैं। वस्तुत: स्वतन्त्रता के बाधक तत्त्व मनुष्य की स्वतन्त्रता को ही सिद्ध करते हैं। सार्त्र पूछते हैं कि बाधायें किसके लिये? बाधायें तो किसी

मनुष्य के लिये ही हैं। बाधा इसलिए बाधा है कि हमने ऐसा कुछ करने का निर्णय कर लिया है जिसे हम नहीं कर सकते। बाधा की सार्थकता चुनाव के सन्दर्भ में है। वह चुनाव के पहले नहीं है, उसका आविर्भाव चुनाव के बाद ही होता है। उदाहरण के रूप में मार्ग का पर्वत हमारे लिये बाधा है क्योंकि हमने उस पर चढ़ने का निर्णय लिया है। पर्वत के रूप में बाधा हमारे लिये यह निर्णय करने का अवसर उपस्थित करती है कि हम आगे बढ़ने से रुक जायें या नये मार्गों की तलाश करें। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता ही **बाधाओं** का उपस्थापन करती है।[59] ये बाधायें मानवीय स्थिति की सूचक हैं। हम सदा किसी न किसी स्थिति में होते हैं और हमारा चुनाव उस स्थिति के द्वारा परिसीमित होता है, किन्तु उसके भीतर हम अपने चुनाव में स्वतन्त्र होते हैं। इस तरह स्वतन्त्रता किसी 'स्थिति' के भीतर होती है, पर उस 'स्थिति' के भीतर वह निरपेक्ष होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ बाधाओं और स्थितियों के सन्दर्भ में ही है। स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं, यदि बाधायें न हो। स्वतन्त्रता का स्वरूप विरोधाभासी है।[60] यह स्वतन्त्रता किसी **स्थिति** में ही है और **स्थिति** स्वतन्त्रता के कारण ही है। बाधायें या विघ्न मानव के सामने आती हैं, उन्हें मानव ने उत्पन्न तो नहीं किया पर वे मानव के स्वतन्त्र वरण द्वारा ही आविर्भूत होती हैं। उदाहरणस्वरूप पृथ्वी पर अवस्थिति एक बाधा हो सकती है, पर यह हमारे किसी कार्य योजना के सन्दर्भ में ही ऐसा हो सकती है जैसे कि चन्द्रमा पर चढ़ने की मेरी इच्छा के सन्दर्भ में। इस कार्य योजना के अभाव में मेरी अवस्थिति (स्थान) किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं करती। स्थान स्वयं में तटस्थ है–न सहायक है और न बाधक–किसी परियोजना के सन्दर्भ में ही वह ऐसा है। इस तरह तथ्यता मानवीय स्वतन्त्रता का नाश नहीं करती और न मानवीय स्वतन्त्रता तथ्यता की अवहेलना कर सकती है। हाँ, तथ्यता मानवीय स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में ही प्रतीत होती है।

स्वतन्त्रता का अर्थ जो चाहें वह करने और पाने की स्वतन्त्रता नहीं है। यह स्वतन्त्रता की भ्रान्त धारणा है। स्वतन्त्रता का अर्थ चयन की स्वतन्त्रता से है, कार्य करने की स्वतन्त्रता से है, फल की प्राप्ति से नहीं है। चयन की स्वतन्त्रता उपलब्धि की स्वतन्त्रता नहीं है। उपलब्धि भौतिक परिस्थिति द्वारा परिसीमित होती है। स्वतन्त्रता का अर्थ चयन की स्वतन्त्रता है। यह इस बात कि स्वतन्त्रता है कि किसी परिस्थिति के प्रति मैं कैसा दृष्टिकोण रखता हूँ? यद्यपि मनुष्य स्वतन्त्र है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि मानवीय वास्तविकता अपना आधार स्वयं है। निस्सन्देह मनुष्य स्वतन्त्र है, पर उसने अपनी स्वतन्त्रता का चयन नहीं किया है। यह स्वतन्त्रता तो प्रदत्त है। मनुष्य स्वयं को ऐसी परिस्थिति में पाता है जिसमे वह अकेला है

तथा जहाँ मानो सब कुछ का अर्थ उसी पर निर्भर है। वह अपने को स्वतन्त्र रूप में प्रक्षिप्त पाता है। इसीलिये सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है।[61] वह अपनी स्वतन्त्रता को नकार नहीं सकता क्योंकि मानवीय यथार्थता की नियति ही यह है। यदि वह इसे अस्वीकार कर अस्वतन्त्रता का वरण करता है तो भी यह वरण तो उसकी स्वतन्त्रता ही है।

अस्तु, सार्त्र के अनुसार मानवीय वास्तविकता और स्वतन्त्रता एक ही है। मनुष्य पहले अस्तित्ववान् होता है और फिर स्वतन्त्र, ऐसी बात नहीं। इस तरह सार्त्र सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की बात करता है। यह सम्पूर्ण या निरपेक्ष स्वतन्त्रता जो कि मानव का स्वरूप है, वह शांकर दर्शन के समान ही है। परन्तु सार्त्र की यह स्वतन्त्रता जीवन की यथार्थता से प्रभावित होती है, सीमित होती है। अतीत, मृत्यु, जीवनसाथी, वातावरण और स्थान ये कुछ अनिवार्य आगन्तुकतायें हैं, क्रूर यथार्थता हैं, जो मानवीय स्वतन्त्रता की निरपेक्षता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। शंकर प्रभृति भारतीय दार्शनिकों के लिए यह कोई समस्या नहीं बनती क्योंकि वे मनुष्य की तात्विक और व्यावहारिक स्थिति में अन्तर बताकर इस विरोध का हल ढूढ़ लेगें। मनुष्य की तात्त्विक स्थिति का जीवन की इन ऐतिहासिक अनिवार्यताओं से कोई सम्बन्ध नही है, वह इनसे नितान्त असंस्पृष्ट रहता है। क्या सार्त्र में इस तरह की तात्त्विक और व्यावहारिक स्थिति की मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में, मानवीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अभिकल्पना की जा सकती है? प्रतिमा बोस[62] ने इस तरह का विभाजन किया है। सभाजीत मिश्र[63] उनके इस विभाजन को तर्कसंगत मानते हुए भी स्वयं सार्त्र के विचार में ऐसा होने के बारे में सन्देह करते हैं। ऐतिहासिक अनिवार्यताओं या तथ्यताओं से घिरा होना मनुष्य की प्रदत्तता है, ऐसा स्वयं सार्त्र का मत है, हम निस्संकोच कह सकते हैं। परन्तु मानवीय स्वतन्त्रता इनके अतिक्रमण में है, मानवीय वास्तविकता इनका अतिक्रमण करने में है।

वस्तुत: स्वतन्त्रता का अर्थ सार्त्र ने सामान्यत: चयन की स्वतन्त्रता से लिया है और यह स्वतन्त्रता व्यावहारिक मनुष्य की स्वतन्त्रता है। इस अर्थ में वेदान्तीय स्वतन्त्रता या मुक्ति व्यापक अर्थ लेती है। वहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ व्यावहारिक जीवन की स्वतन्त्रता न होकर मानवीय अस्तित्व के स्वरूपभूत स्वतन्त्रता के साक्षात्कार से है। सार्त्र का स्वतन्त्र मनुष्य भी इस दृष्टि से अद्वैत मत में बद्ध होगा, लेकिन एक व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो स्वयं सार्त्र में स्वतन्त्रता या मानवीय वास्तविकता की एक मौलिक एवं पारमार्थिक अवस्थिति बनती है। स्वतन्त्रता की यह मौलिक अवस्थिति, उस व्यावहारिक 'चयन की स्वतन्त्रता' से पृथक् व्यक्ति के उस मूल चयन की स्वतन्त्रता से है जो स्वयं व्यक्ति और उसकी तथ्यता के

सन्दर्भ में की जाती है। यह मूल चयन सत्ता की पूर्णता और स्वयं से एकाकारता प्राप्त करने की—स्वनिष्ठ स्वनिमित्त सत् होने की—अभिलाषा से सम्बन्धित है। मूलभूत मानवीय चयन पूर्णत्व प्राप्ति की है, परन्तु मनुष्य के लिए इसकी प्राप्ति असम्भव है क्योंकि **पूर्ण एवं सचेतन** होना सम्भव नहीं। चेतना की विशिष्टता ही उसकी अपूर्णता, अवस्तुता है। इसीलिये सार्त्र अन्ततः मनुष्य को 'एक व्यर्थ की वासना' के रूप में देखते हैं।

जगत् एवं मानवीय स्थिति

पीछे हमने देखा कि सार्त्र के अनुसार जगत् न तो सन्देह की वस्तु है और न उसके सत् को कोष्ठीकृत और स्थगित किया जा सकता है। सार्त्र के अनुसार जगत् का अस्तित्व चेतना से पृथक् स्वतन्त्र है और पूर्व प्रदत्त है। यह अकारण है, अनुत्पन्न है एवं इसके पीछे कोई कारण नहीं है। इसी कारण सार्त्र इसे आगन्तुक एवं व्यर्थ बताते हैं। यह बेतुका है तथा किसी भी प्रकार के नियम या बौद्धिकता से शून्य है। वस्तु जगत् का यह अस्तित्व मनुष्य के विचार व भावनाओं से स्वतन्त्र अस्तित्ववान है। इसके पीछे कोई औचित्य या तर्क नहीं है। सार्त्र ने 'नॉशिया' में भली-भाँति दिखलाया है कि किस प्रकार वस्तुओं के इस अस्तित्व को प्रत्ययों में नहीं बाँधा जा सकता है। उसकी व्याख्या आभासों के रूप में नहीं की जा सकती। उसे चेतना की सम्प्रत्ययात्मक संरचना के रूप में नहीं देखा जा सकता। सत्ता के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सार्त्र कहते हैं कि अस्तित्व दूर से विचार करने की वस्तु नहीं है। वह अकस्मात आपके ऊपर कूद पड़ती है। एक विशालकाय गतिहीन पशु की भाँति वह आपके मन पर बोझ डालती है—उसके अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता।[64] सार्त्र इस विज्ञानवादी प्रस्थापना को नकारते हैं कि सत्ता चेतना पर आश्रित है। सत्ता पहले से ही बिना प्रयोजन या औचित्य के विद्यमान होती है। जगत् का ज्ञान जगत् के सत् को उत्पन्न नहीं करता अपितु इसे प्रकट करता है। सार्त्र कहते हैं[65] कि विषय की सत्ता का आधार विषयी में ढूंढ़ना, विषयता का आधार असत् में ढूंढ़ना निरर्थक प्रयास है। विषय का विषयी से, बाह्य तत्त्व का अन्तस् से, सत् का असत् से निगमन नहीं हो सकता। हुसर्ल ने नोएमा को अवास्तविक कहकर तथा उसे नोएसिस का कोरिलेट बताकर मानों अपने सिद्धान्तों को तिलाञ्जली ही दे दी। क्योंकि 'स्वतः वस्तुओं की ओर लौटने' का उसका नारा इस स्थिति में नारा ही रह जाता है। हुसर्ल ने 'इपाकी' और 'अनुभवातीत आत्मा' को अधिक महत्त्व देकर जगत् की उपेक्षा कर दी और शुद्ध चेतना को अधिक ही महत्त्व प्रदान कर दिया। चेतना की इस अतिप्राथमिकता और महत्ता के विपरीत हाइडेगर 'जगत् में स्थित सत्' (बींइग इन द वर्ल्ड) की

अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं जिसका अर्थ है कि विषय और विषयी परस्पर सापेक्ष हैं। सार्त्र चेतना को विषयापेक्षी बताते हुए उसे विषय पर आश्रित बताते हैं। सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्म का खण्डन करते हैं। सार्त्रीय अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का मुख्य प्रतिपाद्य जगत् में स्थित मानवीय वास्तविकता है। इसका लक्ष्य जगत् में लीन तथा क्रियाशील चेतना का अध्ययन करना है। यह जगत् में अवस्थित मानवीय यथार्थता जो कि कर्ता है, संकल्पवान् है, भोक्ता है, दुःख-आनन्द का भागी है, सार्त्र के दर्शन का प्रस्थान बिन्दु है। इस तरह उसके चिन्तन का विषय जगत् में स्थित मनुष्य है, न कि जगत् से असम्बन्धित शुद्ध चेतना। इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिये कि मानवीय चेतना वस्तु जगत् का ही एक अंग है। (अपितु जगत् और स्व से अतिक्रमण तो मानवीय अस्तित्व की प्रमुख विशेषता है, इस तरह मानवीय वास्तविकता की संरचना में ही एक विरोध है कि यह जगत् में होकर भी जगत् से दूर है।) मानव अस्तित्व सार्त्र के मत में जगत् में स्थित सत् है जैसा कि हाइडेगर का मानना है। यह किसी स्थिति में सत् है। जगत् में स्थित मनुष्य की अवधारणा उस शास्त्रीय धारणा का खण्डन करती है कि मनुष्य का आदर्श स्वरूप देशकालातीत है (शांकर मत में यही माना जाता है)। मनुष्य की देशकालातीत और जगत् से नितान्त असम्पृक्त विषयी के रूप में अवधारणा, जो कि समस्त ज्ञान का आद्य बिन्दु है, विज्ञानवाद और वस्तुवाद दोनों का प्रस्थानबिन्दु है। हाइडेगर कहता है कि जगत् में स्थित सत् का स्पष्टीकरण यह प्रकट करता है कि मानवीय अस्तित्व जगत् में स्थित सत् है और चूँकि यह जगत् हमारा ही नहीं है, दूसरों का भी है अतः जगत् में स्थित सत् का अर्थ अन्य-सहकृत सत् भी है।[66] मानवीय सत् का किसी 'स्थिति में सत्' या 'जगत् में सत्' का स्वरूप मनुष्य के उस लक्षण से द्योतित होता है जिसमें उसे तथ्यता और अतिक्रमणता का मिश्रण, सत् और असत् (बीइंग एण्ड नथिंगनेस) का उभय भाव बताया गया है। सार्त्र कहते हैं "इस प्रकार जो आधार उत्पन्न होता है, वह मानव के दोहरे गुणों का उपयोग करता है जो एक साथ तथ्यता (फैक्टिसिटी) भी है और अतिक्रम्यता (ट्रान्सेन्डेन्स) भी। मानव यथार्थता के ये दोनों पक्ष एक वैध संयोजन में समर्थ हैं और उन्हें समर्थ भी होना चाहिये।"[67] स्वतन्त्रता और तथ्यता के प्रसंग में हमने देखा था कि किस प्रकार मानवीय स्वतन्त्रता निर्बाध नहीं है तथा उसकी कुछ तथ्यतायें हैं। हाँ, इन तथ्यता को मनुष्य कैसी **स्थिति** के रूप में लेता है, वह इसके लिये स्वतन्त्र है। मानवीय स्वातन्त्र्य के किसी लक्ष्य के सन्दर्भ में ही तथ्यतायें अर्थ रखती हैं। अतः व्यक्ति स्वयं को जिस **स्थिति** में पाता है उसमें वस्तु जगत् का उतना ही हाथ रहता है जितना उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके द्वारा चुने गये लक्ष्यपरक अर्थ का। इसी बात को हम इस तरह भी

समझ सकते हैं कि यद्यपि सत्ता चेतन से पृथक् है, पर इसका मनुष्य के लिये कोई अर्थ नहीं है। मानवीय प्रयोजन के सन्दर्भ में ही जगत् सृजित होता है। यद्यपि व्यक्ति को वस्तुनिष्ठ जगत् की तथ्यता को स्वीकार करना होता है, पर वह उसे कैसी **स्थिति** के रूप मे लेता है वह उसके अधीन है। हम कह सकते हैं कि जगत् मानवीय जगत् है। यह वस्तुओं का समुच्चय नहीं है जो जगत् का विनिर्माण करता है, अपितु यह मानवीय चेतना द्वारा अर्थ प्रदत्त वस्तु-सत् है जो जगत् है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि वस्तु-जगत् का सत् चेतना से पृथक् है पर जगत् या संसार मानवीय चेतना का अपेक्षी है क्योंकि वह अवस्तुत्व रूप होने के कारण वस्तु जगत् के वैविध्य की रचना करती है। सत्ता आत्म संकुचित, अभिन्न, अर्थहीन ठोस सत्ता है। एच०ई०बार्न्स कहती हैं "चेतना के बिना संसार, पहाड़, नदियाँ, कुर्सी, टेबल आदि कुछ नहीं हो सकते, केवल सत्ता होती। चेतना के बिना यद्यपि कुछ भी नहीं रहता यह बात नहीं है, पर कोई वस्तु नहीं रहती।"[68]

इस तरह जगत् अपने अर्थ के लिये मानवापेक्षी है। मनुष्य जगत् को अर्थ प्रदान करता हुआ उसकी रचना करता है, यद्यपि वह उसे उत्पन्न नहीं करता। यह गुरुतर दायित्व मनुष्य में दुश्चिन्ता पैदा करता है।[69] मनुष्य जगत् को अर्थान्वित करता है, पर उसका अस्तित्व या सत् स्वयं में निरर्थक है। सार्त्र जगत् और उसकी वस्तुओं को आकस्मिक, आगन्तुक पाते हैं। न केवल वस्तुओं के बीच सम्बन्ध आगन्तुक है, अपितु वस्तुयें आगन्तुक हैं। अस्तित्वमात्र आगन्तुक है, अतिरेक है। उसके होने की कोई अनिर्वायता नहीं, फिर भी वह होती है। वस्तुओं का कोई औचित्य नहीं ढूंढ़ा जा सकता है। वे बेतुके हैं, निष्प्रोजन हैं। नीट्शे ने इसी तरह का प्रश्न उठाया था—मेरे अस्तित्व का अनस्तित्व से क्या वास्तव में अधिक औचित्य है? सार्त्र का रोक्वेन्टिन कहता है—आकस्मिकता ही निरपेक्ष है अर्थात् अस्तित्व परिभाषधा अनिवार्य नहीं—अस्तित्व का अर्थ मात्र वहाँ होना है-अस्तित्ववान् प्राणी दिखते अवश्य हैं पर वे निगमित नहीं किये जा सकते—आकस्मिकता मात्र प्रातीतिक नहीं है, यह निरपेक्षत: है—सभी कुछ अतिरेक है-यह नगर-यह बगीचा-हम सब—जब हमें इसका बोध होता है तो सभी चीजें तैरती लगती हैं, वे हममें उबकाहट (नॉशिया) पैदा करती हैं।[70] इस तरह अस्तित्व नितान्त बेहूदा, निष्प्रयोजन, बेतुका, असंगत और आकस्मिक है—फिर भी वह निश्चित रूप से नंगे सत्य के रूप में विद्यमान है। और यही बात हममें दुश्चिन्ता पैदा करती है। उन वस्तुओं का, संसार का, मनुष्य का किसी तरह का बौद्धिक या तार्किक औचित्य नहीं बनता, सभी कुछ बेतुका है। सार्त्र कहते हैं "हर अस्तित्वधारी चीज अकारण पैदा होती है, दुर्बलतावश घिसटती रहती है और फिर अकारण मर जाती है।"[71] इस तरह प्रयोजनवादियों और व्यवस्थावादियों के विपरीत सार्त्र जगत् को, मनुष्य को निष्प्रयोजन पाते हैं। वस्तुत:

इनके 'होने' के पीछे कोई तर्क नहीं है। ये सब बेतुके हैं। यह बात हमारे लिये असह्य होती है। हम अपने होने का, वस्तुओं का, उनके साथ अपने सम्बन्ध का, अन्य का औचित्य ढूंढ़ते है। पर हम असफल होते हैं क्योंकि अतार्किकता जगत् का स्वरूप है और इसे तार्किक जामा पहनाने का हमारा सारा प्रयास बेमानी है, दुरास्था है। इस तरह सार्त्र अबुद्धिवादी प्रतीत होते हैं। यह जगत् क्यों नहीं क्रमबद्ध, व्यवस्थित और तार्किक है? क्यों नहीं अस्तित्व तर्कपरक है, अनिवार्य है, सप्रयोजन है? क्यों यह सब कुछ बेतुका है? अस्तित्ववादियों की दुश्चिन्ता का प्रधान कारण यही है। जो बात बुद्धि के नियमों के अनुकूल नहीं, वह अतार्किक है, बेहूदा और बेतुका है। जगत् का यह बेतुकापन नायक रोक्वेन्टिन के मन में उबकाई पैदा करता है। इस तरह सार्त्रीय नॉशिया बुद्धिविरोधवाद नहीं अपितु बुद्धिवाद ही है। यदि हम जगत् की तार्किकता की व्याख्या नहीं कर सकते, उसे हम अनिवार्य के बजाए आकस्मिक पाते हैं, तो इस तथ्य को बुद्धिमत्तापूर्वक सहन करना चाहिये था, न कि उस बच्चे के समान रोना-चिल्लाना शुरु कर देना चाहिये जो चन्द्रमा को नहीं पा सकता।[72] अल्फ्रेड स्टर्न के अनुसार यदि सार्त्र के चरित्र अस्तित्व को एकान्तिक रूप से अनिवार्य न पा उसे दुर्वह कहते हैं तो यह उनके दुर्धर्ष निरपेक्षवादिता की ओर इशारा करता है न कि उनके अबुद्धिवाद का। स्टर्न दो तरह का बुद्धिवाद बताते हैं—प्रथम देकार्ट, स्पिनोजा, हीगल के तरह का, जो भौतिक विश्व को बुद्धि के नियमों के अनुकूल पाता है और दूसरा उन अस्तित्ववादियों का वर्ग जो ऐसा न पाने पर अर्थात् अस्तित्व को अनिवार्य नहीं आकस्मिक पाकर अपनी तत्त्वमीमांसात्मक बीमारी (नॉशिया) का शिकार हो जाता है।[73]

अन्य निमित्त सत् और अन्य मनुष्य

मानव वास्तविकता की स्वतन्त्रता के रूप में व्याख्या करने के बावजूद सार्त्र के अनुसार मनुष्य जगत् में अवस्थित मनुष्य है। सार्त्र, जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, किसी तरह की अमूर्त मनुष्य की धारणा के खिलाफ हैं। अब चूँकि यह जगत् सिर्फ हमारा नहीं अन्य का भी है, अतः मनुष्य 'मनुष्यों के बीच अवस्थित मनुष्य' है। पर क्या यह हमारी स्वतन्त्रता का बाधक नहीं? क्या अन्य की स्वतन्त्रता हमारी स्वतन्त्रता का बाधक नहीं? इन प्रश्नों को सार्त्र ने विशद रूप में अपनी रचनाओं में उठाया है और बीइंग एण्ड नथिंगनेस का तीसरा भाग तो इसी समस्या के लिये समर्पित है।

सार्त्र के लिये दूसरे मनुष्यों के अस्तित्व की समस्या ज्ञानमीमांसीय समस्या नहीं है। फलस्वरूप ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से "अन्य मनस" के ज्ञान की समस्या उठाकर, यहाँ मूर्त मनुष्यों के सम्बन्धों की अनदेखी नहीं की गयी है। सार्त्र हुसर्ल,

हीगल, हाइडेगर सहित अन्य दार्शनिकों के मतों का इस सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख करते हैं।

हुसर्ल के अनुसार जब हम किसी विषय के बारे में–वृक्ष, पुस्तक, दिवाल आदि के बारे में–विचार कर रहे होते हैं, हम उस विषय के अर्थ के परिप्रेक्ष्य रूप में **अन्य** को स्वीकृत किये होते हैं क्योंकि हमारे विचार का कोई भी विषय हमारे अतिरिक्त किसी **अन्य चेतना** से भी सम्बन्ध बनाये रखता है। यदि वह अन्य चेतना से सम्बन्ध न रखकर सिर्फ हमारी चेतना से सम्बन्धित होकर संरचित हुआ है तो वह वास्तविक **वस्तुनिष्ठ विषय** (उदाहरण के तौर पर यदि हम कोई वृक्ष देख रहे हैं और उस वृक्ष का सम्पूर्ण अर्थ हमसे ही निर्धारित हो, अन्य की अपेक्षा न हो, तो वह काल्पनिक ही कहा जाएगा।) नहीं होगा। फलत: अन्य का अस्तित्व विषयों की **विषयनिष्ठता** के लिये आवश्यक है और इस तरह स्वयं मेरी चेतना के संरचकों का हिस्सा है। सार्त्र हुसर्ल के इस मत को अस्वीकार नहीं करते, पर वह यह मानते हैं कि हुसर्ल के इस मत से इस बात की व्याख्या नहीं हो पाती कि इस विश्व में अनेकों की संख्या में मूर्तवान् व्यक्ति हैं जिनका हमसे वास्ता होता है। हुसर्ल के मत में 'अन्य' का महत्व एक 'वर्गणा' रह जाता है–अनुभव के लिये आवश्यक वर्गणा–जिससे कि हमारे ज्ञान का ज्ञानत्व, उसका सार्वजनिकत्व बनता है। 'दूसरा' माने यहाँ अमूर्त, व्यक्तित्वहीन, सामान्य आत्म है।

सार्त्र हीगल के मत की हुसर्ल की अपेक्षा अधिक सुधारात्मक होने से बाद में चर्चा करता है। हीगल के मत में अन्य का अस्तित्व न केवल जगत् और हमारे आनुभविक अहमात्मा के निर्माण के लिये आवश्यक है, बल्कि मेरी चेतना आत्म-चेतना ही इसलिये है कि दूसरे हैं। व्यक्ति स्वयं के लिये ही अनिवार्यत: क्यों है–इसीलिये कि उसका दूसरे से विरोध है। व्यक्ति की वैयक्तिकता दूसरों के विरोध में मुखर होती है। 'मैं मैं हूँ' इस तरह की आत्मचेतना 'अन्य' के बिना असम्भव है। मैं मैं हूँ, इसलिये कि मैं 'अन्य' नहीं हूँ। यद्यपि हीगल का मत हुसर्ल की अपेक्षा सन्तोषजनक है और हीगल चेतना के सत् से सम्बन्धित प्रश्न के समाधान में रत है, फिर भी वह इस सत्तामीमांसीय प्रश्न को ज्ञानमीमांसीय ढंग से व्याख्यायित करता है, ऐसा सार्त्र का मानना है।

हाइडेगर ने सर्वप्रथम अन्य के अस्तित्व को महज उसके ज्ञान की समस्या तक सीमित नहीं माना। हाइडेगर के अनुसार मनुष्य अन्य के साथ स्थित सत् (बीइंग विद अदर्स) है। हाइडेगर ने मनुष्य मनुष्य के सम्बन्ध को **बीइंग फार अदर्स** के रूप में व्याख्यायित न कर **बीइंग विद अदर्स** के रूप में व्याख्यायित किया। मानवीय यथार्थता जगत् में अवस्थित सत् है तथा अन्य सहकृत सत् है। मेरा और

अन्य के बीच मौलिक सम्बन्ध त्वम् और अहम् (यू एण्ड आई) का न हो वयम् (वी) का है। सहकृत सत् का यह सम्बन्ध ही हमें अस्तित्व के सम्मुख हमारे सामूहिक एकाकीपन में साथ बाँधे रहता है। सार्त्र दूसरे के अस्तित्व की समस्या के सम्बन्ध में हाइडेगर के मत की प्रशंसा करता है कि दूसरों की सत्ता चेतना की सत्ता में ही—हमारी सत्ता में ही—अन्तर्निहित रहती है। मनुष्य सहकृत मनुष्य है, एकाकी नहीं। पर मानव यथार्थता को सहयुक्त सत् बताकर हाइडेगर मानो अन्य के साथ हमारे सम्बन्ध को सामान्य-अमूर्त बना देता है। सहयुक्त सत् की सत्तामीमांसीय अवधारणा द्वारा हाइडेगर मानव-सम्बन्ध को नियत, अमूर्त और निर्जीव बना देता है।[74]

सार्त्र के अनुसार दूसरे मनुष्य के ज्ञान में पहले हमें किसी निश्चित प्रकार के भौतिक वस्तु का ज्ञान होता है और फिर सादृश्यानुमान द्वारा कि वे सोच सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं, हमारे तरह हैं—इस प्रकार ज्ञान नहीं होता। दूसरे मनुष्य का हमारा ज्ञान मानो अपूर्ण होता है। हम देखते हैं कि अन्य भौतिक वस्तुओं के विपरीत हमारे सम्मुख जो चीज है वह हमारे **पकड़** में नहीं आती, हमारे पकड़ से भाग खड़ी होती है। यदि हम पार्क में किसी व्यक्ति को देखते हैं तो हम उसे पार्क के अन्य जड़ पदार्थ के समान जो कि अन्य पदार्थों से एक दैशिक सम्बन्ध में बद्ध है उस रूप में नहीं देखते (यद्यपि व्यक्ति की इस रूप में भी अवस्थिति है), हम उसे एक ऐसे विषय के रूप में पाते हैं जो स्वयं अपने चारों ओर वस्तुओं को एक सम्बन्ध के रूप में व्यवस्थित किये हुए है। इस तरह किसी को अन्य मनुष्य के रूप में पाना इस बात को मानना है कि हमारी दृष्टि का विषय बनने वाली अन्य वस्तुओं के विपरीत इसमें स्वयं अपनी दृष्टि बनाने की शक्ति है। अभी तक मैं पार्क में अकेला जगत् का केन्द्रबिन्दु था—दूसरे की उपस्थिति ने हमारे जगत् को मानो विखण्डित कर दिया—वह पार्क से, लॉन से, स्वयं एक व्यवस्था या संहति बना लेता है। अभी तक जो वस्तुयें मेरे लिये अर्थ रखती थीं, अब उसने उनका मानो एक नया अर्थ देकर उन्हें मुझसे चुरा लिया है। हमारी **पकड़ से भाग खड़े होने** का जो गुण 'दूसरे' की विशेषता है, उसका एक सटीक उदाहरण हम बगल में किताब पढ़ रहे व्यक्ति में पाते हैं। हम लाख उस व्यक्ति को अपनी दृष्टि का केन्द्र बनायें, किताब और उस व्यक्ति का सम्बन्ध हमारे जगत् में एक सेंध के समान है—हम उसकी आँखों से नहीं देख सकते, उसके दिमाग से नहीं सोच सकते, वह हमसे दूर है। पर हमारे और अन्य का सम्बन्ध इतना ही नहीं है, बल्कि अन्य मनुष्य और हमारे बीच जो विशिष्ट सम्बन्ध है उसकी मुख्य विशेषता यह है कि मैं दूसरे के लिये विषय हूँ। अन्य की **दृष्टि** में मैं विषय बनता हूँ, अन्य की दृष्टि का विषय तो दूसरी वस्तुये भी हैं, पर मैं मात्र उस तरह का विषय

नहीं हूँ। दूसरे की **दृष्टि** हम पर प्रभाव डालती है, हमें बदल देती है, यह मानो, हमारे जीवन के ढंग को ही बदल देती है। "दूसरा" स्वनिमित्त सत् के एक नये आयाम को प्रकट करता है, जो कि उसका होता हुआ भी दूसरे के लिये है—**अन्य के लिये सत्**। मैं अन्य द्वारा देखा जा रहा हूँ—यह बोध हमारी सत्ता के उस रूप से हमारा अभिज्ञान कराता है जो स्वयं हमारा होता हुआ भी दूसरों का विषय है, जिसे हम झुठला नहीं सकते। गर्व और लज्जा की वास्तविकता **अन्य निमित्त सत्** को और अन्य के स्वाभाविक अस्तित्व के तर्क को और अच्छे ढंग से व्याख्यायित करती है। सार्त्र का प्रसिद्ध की-होल का उदाहरण इसे भली भाँति वर्णित करता है। मैं की-होल से कमरे के भीतर उत्कण्ठा से कुछ देख रहा हूँ। मैं अपने इस देखने में निमग्न हूँ और मैं ऐसा कर रहा हूँ ऐसा मुझे विमर्श पूर्वक बोध नहीं हो रहा है, कि हठात् किसी के पैर की आहट होती है और मैं "कमरे में झाँकता हुआ" देखा जाता हूँ—तत्क्षण मैं बदल जाता हूँ, शर्म से झुका हुआ—तत्क्षण मेरी सत्ता का वह ही रूप रह जाता है जो उस "अन्य" के लिये है, मैं इसे अस्वीकार नहीं कर पाता क्योंकि यह तो मेरा ही रूप है। इस तरह लज्जा या गर्व उस अवस्थिति की सूचक है जो व्यक्ति दूसरे के सम्मुख है।

दूसरे की दृष्टि मुझसे सम्बन्धित सभी चीजों को—दिवाल, दरवाजे, की-होल को—अपना बना लेती है। अभी तक जो चीजें मेरे लिये उपकरण रूप दिखती थी, उसे **अन्य** इस तरह समायोजित कर बैठता है कि हम उसे अब समझ नहीं सकते। वह स्वयं मुझे की-होल पर झुका हुआ एक बेतुका वस्तु बना देता है। मैं स्वयं के लियें योजनाओं, कार्योद्येश्यों, संभावनाओं का रूप था। दूसरा मुझे वस्तु मात्र बनाकर मेरी समस्त संभावनाओं को—मेरे जगत् को—मानो मुझसे छीन लेता है।

चूँकि मैं अन्य की दृष्टि का विषय हूँ, वह मेरी अनिर्धार्य स्वतन्त्रता को भी अन्य पशुओं या मौसम की भाँति पूर्वकथ्य बना देता है। स्वयं मैं अब उसके निर्णय, मूल्यांकन से परेशान रहता हूँ। तभी तो मैं स्वयं के बारे में ऐसा विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि वह जैसा सोच रहा है वैसा नहीं होगा—मैं विश्वास दिला रहा हूँ मैं जरूर पहुँचूँगा-सत्य मानो, विश्वास करो-मैं पहुँच जाऊँगा-मानते क्यों नहीं.........।[75]

इस तरह सार्त्र के मत में दूसरा हमारी स्वतन्त्रता का बाधक है। वह हमें विषयी से विषय बना देता है। दूसरे की दृष्टि मुझे "मैं जो हूँ" वह बना कर रख देती है तथा मैं अब **वह नहीं जो है तथा जो है वह नहीं** के स्थान पर मैं वह जो हूँ मात्र रह जाता हूँ।[76] वह मेरी सत्ता के रहस्य को पकड़ लेता है। मेरा अपनी

सत्ता के अर्थ पर कोई पकड़ नहीं रह जाता।[77] दूसरा मुझे मैं जो हूँ उस रूप में जानता है। यह रूप मुझसे बाहर हो जाता है, मैं इसे न तो बदल सकता हूँ और न नकार सकता हूँ।[78] यह मेरी स्वतन्त्रता के लिये एक विघ्न है, फलस्वरूप मैं दूसरे के प्रति विभिन्न अभिवृत्तियाँ स्थापित करने लगता हूँ जो कि मेरा उनके साथ के मूर्त सम्बन्धों की उत्स है।

"दूसरे" के प्रति मैं दो तरह की अभिवृत्ति रख सकता हूँ। मैं दूसरे की स्वतन्त्रता को उसे विषय बनाकर अधिगत करने का प्रयास कर सकता हूँ, इस तरह मैं उसमें मुझे वस्तु बनाने की जो क्षमता है उसका नाश करना चाहूँगा अथवा मैं उसकी स्वतन्त्रता (अतिक्रमणता) को अपने में मिलाना चाहूँगा बिना उसकी स्वतन्त्रता को नष्ट किये। प्रथम अभिवृत्ति दूसरे की स्वतन्त्रता को जीतने का प्रयास है, वहीं दूसरी अभिवृत्ति उसके शरीर को अधिगत करने का प्रयास है।[79] इनमें से दोनों ही असफल होती हैं और एक की असफलता दूसरे प्रयास को प्रेरित करती है।

इस तरह दूसरे की सत्ता के समक्ष मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता एवं विषयिता के लिये खतरा महसूस करता है। दूसरे की दृष्टि उसे एक विषय के रूप में परिवर्तित कर देती है, उसकी सत्ता को स्थायी अर्थ प्रदान कर देती है जिससे वह अलग नहीं हो सकता, जिसका वह निषेध या अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति के लिये सर्वथा असह्य होती है। अतएव इसको टालने के लिए वह दूसरे के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण बनाता है। वह दूसरे की विषयिता-स्वतन्त्रता का इस ढंग से अधिग्रहण कर सकता है कि वह बनी भी रहे और खतरनाक भी न हो, इस तरह की अभिवृत्ति प्रेम, आत्मपीड़न व भाषा में दिखायी देती है। अथवा वह दूसरे की विषयिता को एकदम से तिरस्कृत कर उसे विषय रूप में ले सकता है। मोटे तौर पर ये दो तरह की अभिवृत्तियाँ व्यक्ति के सम्बन्ध का निर्धारण करती है परन्तु दोनों ही असफल होती हैं। उदाहरण के लिए हम प्रेम को ले सकते हैं। प्रेम में हम प्रेमास्पद की स्वतन्त्रता को स्वतन्त्रता के रूप में अधिगत करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि प्रेमास्पद के स्वतन्त्र चयन द्वारा मेरा "उसके लिये सारी दुनियाँ" के रूप में चयन हो और मेरा ही चयन हो। हम उससे जीवन भर का साथ चाहते हैं और बार-बार शपथ खिलाते हैं, और बाद में यदि वह कहे कि शपथवश वह मेरे साथ है तो हमारे लिये यह असह्य होता है। वस्तुतः दो "विषयी" का सम्बन्ध बिना एक की विषयिता के बलिदान के सम्भव नहीं है, इसीलिये प्रेम की बहुधा परिणति आत्मपीड़न में होती है। पर आत्मपीड़न अपनी **विषयिता** की तिलाञ्जली है जो कि एक स्वतन्त्र मनुष्य द्वारा असंभव है। हमारी विषयिता अन्य के साथ सम्बन्ध में बाधक है। हम दूसरे की दृष्टि को पकड़ नहीं सकते, फलस्वरूप हम

दूसरे की विषयिता का उसके देह में अध्यास कर उसे चूमते हैं, पकड़ते हैं, लिपटते हैं–**काम** में ऐसा ही होता है। इसमें हम स्वयं को भी मानों अपने देह तक सीमित कर लेते हैं। कामेच्छा की कामना वस्तुतः इसी **आत्मा** को पकड़ने का हमारा प्रयास है। पर **काम** भी असफल होता है। एक तो यह क्षणिक होता है, दूसरा काम के क्षण में हम लक्ष्य भूल जाते हैं, इसीलिये कहा गया है कि काम-सुख स्वयं काम की असफलता है, मृत्यु है।[80] काम के बाद हम पुनः हम एक दूसरे को जड़ बनाने वाले विषयी हो जाते हैं। अपनी अपनी सहमति से देहरूप होकर होने वाले काम के सम्बन्ध की असफलता से हम जबरन दूसरे को देहरूप ही बने रहने के लिये प्रताड़ित करते हैं–परपीड़न में यही होता है। दूसरे के देह पर विभिन्न अत्याचार द्वारा मानो हम उसकी चेतना को अधिगत कर रहे होते हैं। पर **दूसरे की दृष्टि** परपीड़क के उद्देश्य को जड़ से हिला देती है, यह मानो यह सिद्ध करती है कि दूसरे की विषयिता–स्वतन्त्रता–का अपहरण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार "दूसरा" हमारे सामने ऐसी दुस्सह स्थिति पैदा करता है कि हम नहीं समझ पाते कि उसका क्या करें। दूसरे से घृणा द्वारा मानो हम उसकी स्वतन्त्रता का दमन करना चाहते हैं। घृणा की चरम अभिव्यक्ति दूसरे की मृत्यु की कामना में दिखायी देती है। पर दूसरे की मृत्यु भी तो हमारा दूसरे के लिये जो सत् है उसे हमारी नियति बना देगा, हमारे लिये सुधरने का मौका भी नहीं रहेगा। दूसरे की मृत्यु मानो मेरे "अतीत" को अमर कर देती है। इस तरह "दूसरे" का कोई उपाय नहीं है। या तो हम उसकी विषयिता का दमन करें अथवा अपनी विषयिता का बलिदान–इन दोनों के सिवाय कोई प्रामाणिक सम्बन्ध नहीं बनता।

वस्तुतः दूसरे के प्रति हम कैसा दृष्टिकोण अपनायें, इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष असम्भव आदर्श होता है–दूसरे की स्वतन्त्रता का उसकी विषयता के साथ एक साथ बोध। परिणाम यह होता है कि मैं दूसरे के साथ कभी भी स्थिर सम्बन्ध नहीं बना पाता। यह मेरे लिये असंभव होता है कि उसकी स्वतन्त्रता को इस तरह अपनाऊँ कि मेरी स्वतन्त्रता भी उसकी दृष्टि से सुरक्षित रहे। या तो मैं उसकी दृष्टि का विषय बनता हूँ या वह मेरी दृष्टि का विषय बनता है। इस तरह दूसरा हमेशा मेरे लिये अप्राप्य रहता है।[81] मेरा दूसरे के साथ सम्बन्ध असफल ही होना होता है। मैं जगत् में दूसरे के सामने फेंका हुआ हूँ।[82] मेरी इस स्थिति को कोई नहीं बदल सकता, यह मेरी मौलिक अवस्थिति है। दूसरे पहले से ही जगत् में हैं–और मैं उनके सम्बन्ध में आकस्मिक हूँ। इस तरह अन्य सहकृत जगत् में मेरी अवस्थिति मेरा मूल पाप है।[83] इसीलिये सार्त्र ने एक स्थान पर "दूसरे" को नरक कहा है।[84]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सार्त्र मानव-सम्बन्ध का एक निराशाजनक और चिन्ताप्रद चित्र प्रस्तुत करते हैं। जहाँ व्यक्ति व्यक्ति के बीच सम्बन्ध संघर्ष की बुनियाद पर टिका है। दूसरा हमारे लिये दुश्मन है।

ईश्वर

सार्त्र स्वयं की गणना निरीश्वरवादी अस्तित्ववादियों में करते हैं।[85] किर्केगार्ड, बर्डिएव, जास्पर्स, मार्सल प्रभृति अस्तित्ववादी ईश्वरवादी अस्तित्ववादी हैं। इन सभी दार्शनिकों में किसी न किसी रूप में ईश्वर की अवधारणा में विश्वास पाया जाता है। इसके विपरीत नीट्शे, हाइडेगर, सार्त्र निरीश्वरवादी अस्तित्ववादी हैं। वस्तुतः सार्त्र के दर्शन का मुख्य लक्ष्य सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय सन्दर्भ में ही व्याख्यायित करने का है, बिना किसी अमानवीय सत्ता या ईश्वर के अस्तित्व को माने हुये। सार्त्र मनुष्य की मूलभूत मानव-स्वतन्त्रता में विश्वास करते हैं और "ईश्वर में विश्वास" को इसी मूल प्रस्थापना के विपरीत मानते हैं। इसीलिये सार्त्र नीट्शे के समान ईश्वर के मरने की घोषणा करते हैं। सार्त्र की रचनाओं में धर्म की पदावली का बार-बार प्रयोग हुआ है और सम्पूर्ण बीइंग एण्ड नथिंगनेस धार्मिक शब्दावली से भरी पड़ी है। स्वयं मनुष्य की परिभाषा सार्त्र ने "ईश्वर होने की इच्छा" के रूप में दिया है तथा मनुष्य की मूलभूत योजना या कामना को ईश्वर होने की कामना बताया है।[86] सार्त्र की रचनाओं में धार्मिकता के सम्बन्ध में टामस एम॰ किंग[87] ने महत्त्वपूर्ण शोध किया है। ईसाई पादरियों में सार्त्र की रचना बड़े ही चाव से पढ़ी जाती है। इन सबके बावजूद सार्त्र स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना होगा कि सार्त्र ने जिस ईश्वर के धारणा की आलोचना की है वह सर्वसमर्थ परमनिरपेक्ष ईश्वर के अस्तित्व की धारणा है, दूसरे शब्दों में उन्होंने मसीही ईश्वर की अवधारणा का खंडन किया। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करते समय सार्त्र ईश्वर के सम्बन्ध में मुख्यतः निम्न बातों पर विचार करते हैं–

1. क्या सृष्टिकर्ता ईश्वर का प्रत्यय आत्मसंगत है और मानव-स्वतन्त्रता से क्या इसकी संगति हो सकती है?
2. स्वयंभू ईश्वर का प्रत्यय क्या संगत एवं विरोधहीन है?
3. क्या ईश्वर एक समग्रता (समष्टि) से बाहर स्थित हो सकता है?

सार्त्र के अनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर का प्रत्यय असंगत है और उसकी मानव स्वतन्त्रता से कोई संगति नहीं हो सकती। सार्त्र के अनुसार कोई भी रचना रचनाकार

द्वारा सृष्ट हो जाने पर स्वतन्त्र हो जाती है, उदाहरणतः जिस पुस्तक की रचना मैं कर रहा हूँ, रचना के बाद वह मात्र मेरी न होकर मुझसे स्वतन्त्र और सार्वजनिक हो जाती है। अब यह पाठकों पर निर्भर है कि वे मेरी रचना का क्या अर्थ देते हैं-कितना महत्त्व देते हैं-अथवा उसको महत्त्वहीन छोड़ देते हैं। यह संभव है कि वे उसमें वे अर्थ तलाशें जो मैंने कल्पना ही नहीं की थी। अब सृष्टिकर्ता ईश्वर ऐसा ही रचनाकार है और यह जगत् उसकी रचना है। या तो यह जगत् और उसके प्राणी अपने रचनाकार पर निर्भर हैं या नहीं। प्रथम स्थिति में वह उससे अलग, स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता जबकि द्वितीय स्थिति में वह ईश्वर से अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी तरह का दिशा निर्देश नहीं पा सकता, उससे अपना कोई औचित्य नहीं पा सकता। अब मनुष्य या तो स्वतन्त्र है और वैसी स्थिति में वह अपनी सार्थकता स्वयं ढूंढ़ता है, ईश्वर पर उसकी किसी तरह की निर्भरता नहीं है अथवा वह ईश्वराश्रित होने से परतन्त्र है। पर जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र है फलतः उसका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। ईश्वर हो या न हो, मनुष्य पर इससे कोई असर नहीं पड़ने वाला है। वह स्वयं अपनी नियति का नियामक है।

इसी संदर्भ में सार्त्र लाइब्नित्ज जैसे दार्शनिकों की आलोचना करते हैं जो कि यह मानते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य की भवितव्यता और स्वरूप का निर्धारण कर उसे स्वतन्त्र कर दिया है। हर व्यक्ति अपने स्वतन्त्र ढंग से इसी स्वरूप की सिद्धि में लगा हुआ है। सार्त्र के अनुसार यदि ईश्वर ने हमारे स्वरूप या सार का निर्धारण कर रखा है तो यह रास्ते और मंजिल का निर्धारण होगा और इस तरह स्वतन्त्रता नहीं रह पायेगी।

इसी तरह स्वयंभू ईश्वर का प्रत्यय आत्मव्याघाती और असंगत है। स्वयंभू ईश्वर का प्रत्यय स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् का प्रत्यय है जो कि एक व्याघाती अवधारणा है। (इस सम्बंध में विस्तार से विचार अगले अध्याय में किया गया है) ऐसा सत् होना जो स्वयं अपना आधार हो, जो स्वयं से एकरूप हो, पूर्ण और ठोस हो तथा चेतन एवं अतिक्रामी भी हो, असंभव है। ईश्वर की अवधारणा ऐसी ही अवधारणा है। यह पूर्ण चेतना की अवधारणा है। यह ऐसी चेतना की अवधारणा है जिसका स्वरूप सिद्ध हो चुका है। सार्त्र के अनुसार यह असंभव है। स्वनिमित्त सत् या चेतना कभी भी स्वयं से तदाकार और एकरूप तथा पूर्ण हो ही नहीं सकती। यदि वह ऐसा होती है तो यह स्वयं उसके स्वरूप का परित्याग होगा। अतः ईश्वर एक आत्मविरोधी प्रत्यय है। एक अन्य दृष्टि से सार्त्र स्वयंभू के प्रत्यय को विरोधी सिद्ध करते हैं। यदि ईश्वर स्वयं ही अपना कारण है तो उसे स्वयं अपने से एक

दूरी बनाये रखना चाहिये, पर यह ईश्वर के स्वरूप को आपातिक, सापेक्ष बना देता है और चूँकि सापेक्ष या आपातिक ईश्वर ईश्वर नहीं है, अतः ईश्वर नहीं है। सार्त्र के अनुसार अस्तित्व मात्र आपातिक है। अब चूँकि ईश्वर आपातिक नहीं है, अतः वह अस्तित्ववान नहीं है।

सार्त्र के अनुसार अतिवर्ती ईश्वर का भी प्रत्यय व्याघातपूर्ण है। यह सृष्टि एक समष्टि है तथा उसके बाह्य और अन्तर्वर्ती की कल्पना नहीं की जा सकती। या तो ईश्वर अतिवर्ती है, फलस्वरूप उसका सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं बनता अथवा वह सृष्टि के अन्तर्वर्ती है, फलस्वरूप वह जगदातीत निरपेक्ष ईश्वर नहीं।

सार्त्र के अनुसार जगत् की विभिन्न वस्तुओं के संदर्भ बिन्दु के रूप में हम स्वयं को पाते हैं, हम स्वयं को उनका उपभोगकर्ता और शिल्पकार समझते हैं। हम अपनी इसी धारणा का विकास करते हैं और ईश्वर को उस महान शिल्पकार के रूप में देखते हैं जो इन सब चीजों का परम सन्दर्भ बिन्दु है तथा उनका निर्माता है। इसी तरह सर्वज्ञ ईश्वर की अवधारणा पर हम एक दूसरे तरीके से भी पहुँचते हैं। कुछ लोगों के समूह के किसी "अन्य" की दृष्टि का समवेत विषय बनने से इन लोगों में "हम वस्तु" की भावना निर्मित होती है, और सामुदायिकता की भावना का यही स्रोत है। अब यही "तीसरा अन्य" व्यापक स्वरूप ग्रहण कर सर्वज्ञ ईश्वर का रूप ग्रहण कर लेता है जिसकी दृष्टि का विषय समस्त मानवता है पर जो किसी की भी दृष्टि का विषय नहीं है। यदि हम स्वयं को समस्त मानवता से जोड़ना चाहते हैं तो हमें उस "तीसरे अन्य" की आवश्यकता होती है जो हम सभी को विषय बना सके। इस प्रकार सार्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि हम ईश्वर के प्रत्यय तक कैसे पहुँचते हैं और इसी के विश्लेषण से उसकी अवास्तविकता को स्पष्ट कर देते हैं।

अन्ततः ईश्वर में विश्वास देखा जाए तो हमारी दुरास्था का ही प्रतीक है। अपने एकाकीपन से भयभीत तथा स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व के दुर्वह भार को सहन करने में असमर्थ व्यक्ति ईश्वर का सहारा लेता है। मनुष्य अपनी वास्तविकता को स्वीकार करने से भागता है, फलस्वरूप ईश्वर की कल्पित सृष्टि करता है। ईश्वर पर विश्वास करके वह समस्त मानवीय जगत् की ईश्वर निर्देशित और नियम्य रूप में व्याख्या कर अपने कार्यों, चुनावों के लिये बहाना तलाश करता है ताकि वह अपने स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व से जनित दुश्चिन्ता से बच सके। सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वयं अपनी नियति का नियामक है। वह स्वयं अपने मूल्यों को खोजता है, उनका चयन करके उनको मूल्यवत्ता प्रदान करता है। अपने आचार-विचार को संवैधानिकता का दर्जा प्रदान करने वाला वह स्वयं है, कोई अन्य मानवेतर

सत्ता नहीं। ईश्वर न तो वास्तविक अस्तित्व के रूप में और न प्रेरणादायी "मिथ" के रूप में सार्त्र को स्वीकार है। सार्त्र नहीं चाहते कि मनुष्य अपनी वास्तविकता को नकार मिथों में जा छिपे, इसीलिये प्रेरणादायी मिथ के रूप में भी ईश्वर सार्त्र को स्वीकार नहीं है।[88]

सन्दर्भ

1. हुसर्ल फेनॉमेनॉलॉजी के विकास में ब्रेन्टानो के विवरणात्मक मनोविज्ञान के योगदान को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। (देखें-हुसर्ल की पुस्तक-आइडियाज) वस्तुतः फ्रैंज ब्रेन्टानो की पुस्तक Psychology from an Empirical Point of View (1874) में हम सर्वप्रथम फेनॉमेनॉलॉजी की उस मूल प्रस्तावना को पाते हैं जिसके अनुसार सभी चेतन व्यापार स्वभावतः विषयापेक्षी होते हैं।
2. 'The obvious conclusion is that the dualism of being and appearance is no longer entitled to any legal status within philosophy. The appearance refers to the total series of appearances and not to a hidden reality which would drain to itself all the being of the existent.'
   Jean Paul Sartre, Being and Nothingness, tr. H.E. Barnes, WSP, Philosophical Library, Inc. 1966, p. 4.
   'The appearance does not hide the essence, it reveals it; it is the essence.'
   Being and Nothingness, p. 5.
3. As a matter of fact, Descartes inaugurates a completely new type of Philosophy. Philosophy with its new style now changed altogether, experiences a radical conversion from naive objectivism to transcendental subjectivism. Husserl, Paris Lectures, tr. by Peter Koestenbaum, Martinus Nijhoff : The Hauge, 1970, p. 5.
4. 'Transcendental subjectivity is the universe of possible meanings; any externality to it is meaningless.
   Edmund Husserl : The Paris Lectures, tr. Peter Koestenbaum, The Hague, Martinus Nijhoff, 1970, p. 33.
5. Phenomenology and Indian Philosophy, ed. D.P. Chattopadhyaya, Lester Embree and J.N. Mohanty, ICPR in association with Motilal Banarasidass, Delhi, 1992.
6. प्रो० नित्यानन्द मिश्र, शंकर और हुस्सर्ल, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 32, अंक 2, अप्रैल 1986.
7. 'The phenomenological reduction thus tends to split the ego. The transcendental spectator places himself above himself, watches himself, and sees himself also as the previsously world-immersed ego. In other words, ------------ he discovers the transcendental life and being which make up the totality of the world.

The Paris Lectures, p. 15.

8. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।
मुण्डकोपनिषद् 3/1/1.

9. Jean Paul Sartre, The Transcendence of the EGO, tr. by Forrest Williams and Robert Kirkpatrick, Noonday Paperback Edition, 1960.

10. 'The reason why there can be no objective, universal, and certain answer to them is not merely the present inadequacy of our knowledge but because man is and remains in his being a question, a personal choice, and the objective world is and remains in its being a question, open possibility : both one at any time other than and more than anything that can be said of them.'
H.J. Blackham : Six Existentialist Thinkers, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1961.

11. 'Consciousness is consciousness of something. This means that transcendence is the constitutive structure of consciousness; that is, that consciousness is born supported by a being which is not itself.
Being and Nothingness, p. 23.

12. 'Thus, with no transcendental ego or contents to clutter up conciousness, phenomenology, or the reflexive study of consciousness, becomes directly occupied with human existence in its concrete relations to the world, with the nature of man as a consciousness of things, of himself, and of other selves.'
The Transcendence of the Ego, translators' Introduction, p. 25.

13. 'It is precisely such a phenomenological description of human existence in its 'Situation-in-the-world'-'phenomenological ontology' as the subtitle of L'Etre et le N'eant proclaims-that constitutes the goal of Satrtre's existentialism, as contrasted to the more logical and abstract purposes of Husserlian phenomenology.'
The Transcendence of the Ego, translator's Introduction, pp. 25-26.

14. '------- the appearance does not refer to being as Kant's phenomenon refers to the noumenon.'
Being and Nothingness, p. 6.

15. '------ the being of the phenomenon, although co-extensive with the phenomenon, can not be subject to the phenomenal condition—which is to exist only in so far as it reveals itself—and that consequently it surpasses the knowledge which we have of it and provides of basis for such knowledge.'
Being and Nothingness, p. 9.

16. '----- the being of the phenomenon can not be reduced to the phenomenon of being. In a word, the phenomenon of being is 'ontological'------. It is an appeal to being : it requires, as phenomenon, a foundation which is transphenomenal. The phenomenon of being requires the transphenomenality of being.' Jean Paul Sartre : Being and Nothingness, tr. H.E. Barnes, Washington Square Press Publication of Pocket Books, New York, 1966, p. 9.
(इस पुस्तक में 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' के इसी संस्करण से सन्दर्भ दिये गये हैं।)
17. Being and Nothingness, p. 10.
18. Being and Nohtingness, pp. 10-11.
19. 'Being is. Being is in-itself. Being is what it is.'
Being and Nothingness, p. 29.
20. 'To say that consciousness is consciousness of something is to say that it must produce itself as a revealed-revelation of a being which is not it and which gives itself as already existing when consciousness reveals it.'
Being and Nothingness, p. 24.
21. Being and Nothingness, p. 23.
22. 'Existence is not something which allows itself to be thought of from a distance; it has to invade you suddenly, pounce upon you, weigh heavily on your heart like a huge motionless animal-or else there is nothing left at all.'
J.P. Sartre : Nausea, tr. Robert Baldick, Penguin Books, 1988, p. 189.
23. सभाजीत मिश्र, अस्तित्ववाद : सार्त्र , समकालीन पाश्चात्य दर्शन, सं॰ श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ॰ 361.
24. '----- the objective will never come out of the subjective nor the transcendent from immanence, nor being from non-being. But we are told, Husserl defines consciousness precisely as a transcendence. In truth he does. This is what he posits. This is his essential discovery. But from the moment that he makes of the noema an unreal, a correlate of the noesis, a noema whose esse is percipi, he is totally unfaithful to his principle.
Being and Nothingness, p. 23.
25. Husserl's epoche is an attempt to reduce the 'being of phenomena' to 'a phenomenon of being'.
S.Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 34.
26- 'When I run after a street car, when I look at the time, when I am absorbed in contemplating a portrait, there is no I. There is consciousness of the Streetcar-having-to-be-overtaken etc., and

non-positional consciousness of consciousness. In fact I am then plunged into the world of objects; ----- but me I have disappeared; I have annihilated myself. There is no place for me on this level. And this is not a matter of chance, due to a momentary lapse of attention, but happens because of the very structure of consciousness.'

The Transcendence of the Ego, pp. 48-49.

27. '------ this superfluous 'I' would be a hidrance. If it existed it would tear consciousness from itself; it would divide consciousness; it would slide into every consciousness like an opaque blade. The transcendental I is the death of consciousness.'

The Transcendence of the Ego, p. 40.

28. '---- the ego is neither fromally nor materially in consciousness: it is outside, in the world. It is a being of the world, like the ego of another.'

The Transcendence of the Ego, p. 31.

29. '------ the consciousness which says I think is precisely not the consciousness which thinks.'

The Transcendence of the Ego, p. 45.

30. '----- consciousness must be for Sartre nothing but a 'revealing intuition' of things, the being of which is everywhere. There can be no exceptional act of consciousness, therefore, by which the phenomenologist has the privilege of suspending in reflection all affirmations of existence regarding objects in order to contemplate the being of consciousness alone. Consciousness, rather, is never alone, is never isolated from the existing world.'

The Transcendence of the Ego, translators' Introduction, p. 24.

31. Being and Nothingness, pp. 29-30.

32. 'Being-in-itself has no within which is opposed to a without ------- The in-itself has nothing secret; it is solid (massif). In a sense we can designate it as a synthesis----- the synthesis of itself with itself.'

Being and Nothingness, p. 28.

33. 'Uncreated, without reason for being, without any connection with another being, being-in- itself is de trop for eternity.'

Being and Nothingness, p. 29.

34. Wilfred Desan : The Tragic Finale, Harper and Row Publishers, New York, 1960, pp. 139-159.

35. 'It is 'I' who know the world, it is 'I' who desire the world; it is 'I' who choose and it is 'I' who negate, it is 'I' who desire the glass of water.'

The Tragic Finale, p. 152.

36. 'The concrete and real existence of the other gives to me a strange and growing self-consciousness, irreconciliable with the

statement that I am not----- Sartre does not suceed in eliminating the Ego from the For-itself.' The Tragic Finale, pp. 155-156.

37. The Tragic Finale, p. 150.

38. 'The view that the ego or 'I' which is transcendent to consciousness arises only at the reflective level of consciousness is the echo of the Advaita view which holds that the ego (aham) arises when there is cidabhasa.'
R. Balasubramanian, 'Advaita Vedanta on the Problem of Enworlded Subjectivity' in Phenomenology and Indian Philosophy, ed. D.P. Chattopadhyaya, Lester Embree, J.N. Mohanty; I C P R in association with Motilal Banarasidass New Delhi, 1992, p. 87

39. "तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।" ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य के उपोद्घात में।

40. '------ the For-itself can not appear without being haunted by value and projected towards its own possibles.'
Being and Nothingness, p. 147.

41. 'So the lack which is at the heart of consciousness is a lack of completed possibilities; and it must always remain unsatisfied as long as a being is conscious.' Mary Warnock, The Philosophy of Sartre, Hutchinson University Library, London, 1965, p. 45.

42. '------ non-being does not come to things by a negative judgement; it is the negative judgment, on the contrary, which is condtioned and supported by non-being.'
Being and Nothingness, p. 42.

43. द्रष्टव्य, सभाजीत मिश्र कृत 'द एन्विवश्ड फ्रीडम', पृ॰ 69.

44. Being and Nothingnes, pp. 40-42.

45. 'Pierre absent haunts this cafe and is the condition of its self-nihilating organization as ground.'
Being and Nothingness, p. 42.

46. द्रष्टव्य-समकालीन पाश्चात्य दर्शन में संग्रहित सभाजीत मिश्र का लेख 'अस्तित्ववाद: सार्त्र', पृ॰ 375.

47. 'Consciousness moreover can not produce a negation except in the form of consciousness of negation. ------- The necessary condition for our saying not is that non-being be a perpetual presence in us and outside of us, that nothigness haunt being.'
Being and Nothingness, p. 44.

48. Being and Nothingness, pp. 44-56.

49. 'Nothingness can be nihilated only on the foundation of being; if nothingness can be given, it is neither before nor after being, nor in a general way outside of being. Nothingness lies coiled in the heart of being like a worm.'

Being and Nothingness, p. 56.

50. The Being by which Nothingness arrives in the world is a being such that in its Being, the Nothingness of its Being is in question. The being by which Nothingness comes to the world must be its own Nothingness.'

Being and Nothingness, pp. 57-58

51. What we call freedom is impossible to distinguish from the being of 'human reality.' Man does not exist first in order to be free subsequently; there is no difference between the being of man and his being-free.

Being and Nothingness, p. 60.

52. 'He has to contemplate moksa not as something to be reached or effected or remanifested, not even as an eternal predicament of the self, but as the self itself or the Svarupa of Brahman. The self or the absolute is not a thing having freedom but is freedom itself.' K.C. Bhattacharyya : 'The Advaita and its Spiritual Significance' in Studies in Philosophy, ed. Gopinath Bhattacharyya, Motilal Banarasidass, Delhi, 1983.

53. The Transcendence of the Ego, p. 40.

54. For consciousness to be able to imagine, it must be able to escape from the world by its nature; it must be able by its own efforts to withdraw from the world. In a word, it must be free.

Jean Paul Sartre : The Psychology of Imagination, tr. Bernard Frechtman, London, Methuen & Co. Ltd, 1972, p. 213.

55. See, Being and Nothingness, p. 58.

56. Jean Paul Sartre : Existentialism and Humanism, tr. Philip Mairet, Methuen, 1983, p. 28.

57. 'Existence Precedes Essence.'

58. 'After all, I did not ask to be born.'

J.P. Sartre : 'The Childhood of a Leader' in Intimacy and Other Stories, tr. LLoyd Allexander, New York : Berkley Medallion, 1956, p. 134.

59. 'Therefore it is only in and through the free upsurge of a freedom that the world develops and reveals resistance which can render the projected end unrealizable. Man encounters an obstacle only within the field of his freedom.

Being and Nothingness, p. 628.

60. ' ------ there is freedom only in situation, and there is a situation only through freedom. Human-reality everywhere encounters resistance and obstacles which it has not created, but these resistance and obstacles have meaning only in and through the free choice which human-reality is.'

Being and Nothingness, p. 629.

61. In fact we are a freedom which chooses, but we do not choose to be free. We are condemned to freedom, as we have said earlier, thrown into freedom or, as Heidegger says, 'abandoned'. Being and Nothingness, p. 623.
62. Pratima Bowes, Consciousness and Freedom, Methuen & Co. Ltd., London, 1971, pp. 153-154
63. Sabhajit Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 138.
64. J.P. Sartre, Nausea, tr. by Robert Baldick, Penguin Books, 1988, p. 189.
65. Being and Nothingness, p. 23.
66. Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psychoanalysis, Vision, London, 1968, p. 27.
67. Being and Nothingness, p. 98.
68. 'Without consciousness there would not be a world, mountains, rivers, tables, chairs, etc there would be only Being. In this sense there is no thing without consciousness, but there is not nothing.' Being and Nothingness, translator's Introduction, p. xxiv.
69. 'It is precisely thus that the for-itself apprehends itself in anguish; that is, as a being which is neither the foundation of its own being nor of the Other's being nor of the in-itselfs which form the world, but a being which is compelled to decide the meaning of being—within it and everywhere outside of it.'
Being and Nothingness, p. 711.
70. Nausea, p. 188.
71. 'Every existent is born without reason, prolongs itself out of weakness and dies by chance.'
J.P. Sartre : Nausea, tr. Robert Baldick, Penguin Books, 1988, p. 191.
72. 'If we recognize that we cannot have a world logically deducible, a world of absolute necessity, we have to accept the fact wisely and not adopt the attitude of a child who cries because he cannot have the moon.
Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psychoanalysis, Vision, London, 1968, p. 43.
73. 'Since they cannot have such a world they escape into sickness, their metaphysical disease which they call 'nausea'. Most Existentialists seem to be frustrated rationalists.'
Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psychoanalysis, p. 42.
74. 'Such an ontological structure of co-existence which appear in the world, e.g., my relation with my friend X or Y. If 'being-with' defines my being a priori, it surely isolates me from all concrete relation with the Other.'

S. Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 120.

75. See, Being and Nothingness, pp. 353-355.
76. 'Thus I, who in so far as I am my possibles, as what I am not and am not what I am—behold now I am some body !
Being and Nothingness, p. 353.
77. 'And as the Other's existence reveals to me the being which I am without my being able either to appropriate that being or even to conceive it, ---- the Other looks at me and as such he holds the secret of my being, he knows what I am.'
Being and Nothingness, p. 473.
78. If there is an Other, ----- then I have an outside, I have a nature. My original fall is the existence of the Other. Shame ----- like pride—is the apprehension of myself as a nature although that very nature escapes me and is unknowable as such.
Being and Nothingness, p. 352.
79. यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि सार्त्र के अनुसार मैं पहले अस्तित्वान् होता हूँ और फिर उसके बाद दूसरे के प्रति इन अभिवृत्तियों को बनाता हूँ -- ऐसी बात नहीं है। अपितु जहाँ तक मैं अन्य सम्मुख जगत् में हूँ, दूसरे के प्रति इन अभिवृत्तियों से युक्त होना मेरी मौलिक अवस्थिति है। मैं अपनी सत्ता के मूल में ही दूसरे को विषय बनाने, उसे अपने में मिलाने की कार्ययोजना हूँ।
देखें-बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ० 474.
80. 'But pleasure is the death and the failure of desire. It is the death of desire because it is not only its fulfillment but its limit and end.'
Being and Nothingness, p. 515.
81. 'The Other is on principle inapprehensible, he flees me when I seek him and possesses me when I flee him.'
Being and Nothingness, p. 529.
82. 'We are ---- thrown in the world in the face of the Other.'
Being and Nothingness, p. 531.
83. 'My original fall is the existence of the Other.'
Being and Nothingness, p. 352.
84. 'Hell is the Other people.'
Jean Paul Sartre : 'No Exit' in No Exit and Three Other plays, tr. Stuart Gilbert, New Vintage Books, 1971, p. 47.
85. द्रष्टव्य, सार्त्र की रचना 'एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म' का पृ० 26. अनुवादक-फिलिप मैरेट, मेथ्यून एण्ड क० लिमिटेड, लंदन, 1982
86. To be man means to reach toward being God. Or if you prefer, man fundamentally is the desire to be God.'
Being and Nothingness, p. 724.

87. यह विडम्बना है कि अपनी तमाम नास्तिकता के बावजूद सार्त्र मनुष्य की परिभाषा ही-ईश्वर होने की इच्छा-के रूप में करते हैं। इस ईश्वरविहीन जगत् में मनुष्य के सारे कार्य-व्यापारों, योजनाओं को सार्त्र 'ईश्वरीय पदावली' से व्याख्यायित करते हैं। इस दृष्टि से सार्त्र की रचनायें धर्मशास्त्र और ईश्वरविज्ञान के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। फादर टॉमस एम॰किंग ने सार्त्र की रचनाओं के इस पक्ष को बड़े ही सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया है। देखें-
Thomas M. King : Sartre and the Sacred, The University of Chicago Press, Chicago and London, 1974.

88. Being and Nothingness, translator's Introduction, p. xli.

चतुर्थ अध्याय

सार्त्र के अनुसार मानव-नियति का स्वरूप

सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का प्रमुख प्रश्न यह रहा है कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है? दूसरे शब्दों में स्वयं मनुष्य के स्वरूप एवं नियति की जिज्ञासा अस्तित्ववाद के लिये प्रमुख समस्या रही है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि मानव-नियति सम्बन्धी जिज्ञासा बौद्धिक जिज्ञासा मात्र नहीं है। यह एक ऐसी समस्या है जिसके समाधान पर व्यक्ति का सारा दारोमदार टिका रहता है। मानव-नियति सम्बन्धी जिज्ञासा किस प्रकार मूलभूत दार्शनिक जिज्ञासा रही है तथा कैसे यह अस्तित्ववाद से भिन्न अन्यान्य दार्शनिक परम्पराओं तथा दार्शनिकों के लिये प्रमुख समस्या रही है, इस बात को **भूमिका** में भलीभाँति दिखाया गया है। पर अस्तित्ववादियों की इस समस्या के समाधानार्थ प्रस्तुत विधि की यह विशिष्टता होती है कि इसमें समस्या पर विचार **स्वयं व्यक्ति** के नितान्त निजभूत जीवन की युगान्तरकारी समस्या के रूप में किया जाता है तथा इसमें प्रस्तुत समाधान उसके वैयक्तिक अनुभवों, घटनाओं, अनुभूतियों को संश्लेषित करते हुए दिया जाता है। दूसरे शब्दों में मानव-नियति की व्याख्या एक बौद्धिक जिज्ञासा की वस्तु मात्र न हो, एक सामान्य प्रत्यय तथा उसका विश्लेषण न हो, जीवन के सत्य की खोज होती है। जीवन के इस सत्य को अमूर्त और सामान्य अवधारणा के रूप में न लेकर अस्तित्ववादी चिन्तक अपनी रचनाओं में इस समस्या के समाधानार्थ जो विचार प्रस्तुत करते हैं उसमें स्वयं व्यक्ति की वैयक्तिकता तथा नितान्त निजभूत अनुभूतियों को केन्द्रबिन्दु बनाकर उनका अर्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिये अस्तित्ववादी बहुधा अपनी बातों को कहने के लिये साहित्य का—नाटक, कहानियों तथा उपन्यासों का—सहारा लेते हैं। यहाँ तक कि सार्त्र की प्रमुख दार्शनिक कृति 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' दृष्टान्तों एवं उपाख्यानों से भरी पड़ी है।[1] अस्तित्ववादियों और तदितर अन्य दार्शनिकों में यह भेद होता है कि जहाँ अन्य दार्शनिक परमसत्य की अवधारणा को केन्द्र बनाते हैं तथा इससे जीवन के सत्य

पर पहुँचते हैं, अस्तित्ववादियों के लिये प्रधान जिज्ञास्य जीवन का सत्य होता है और वे इसके माध्यम से सत्य पर पहुँचते हैं।

सार्त्र के अनुसार मानवीय यथार्थता स्वनिमित्त सत् है। स्वनिमित्त सत् का मुख्य लक्षण इसकी शून्यता है, निधर्मकता है। अत: मनुष्य क्या है, इस प्रश्न का सार्वभौमिक और सुनिश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य वह है जो वह नहीं है तथा वह वह नहीं है जो है।[2] इस तरह मनुष्य के 'लक्षण' के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है सिवाय इसके कि वह स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता मानवीय यथार्थता का स्वरूप है। सार्त्र ईश्वर नामक किसी अतीन्द्रिय सत्ता में विश्वास नहीं करते जो कि मनुष्य को उसका स्वभाव प्रदान करती है, उसके भवितव्यता का निर्धारण करती है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य का कोई पूर्वनिर्धारित एवं नियत स्वरूप नहीं होता। मानव-स्वभाव नामक कोई प्रदत्त चीज नहीं है, वह कोई रेडीमेड वस्तु नहीं है। मनुष्य निरन्तर निर्माणाधीन है। वह निरन्तर स्वयं को रूपायित करता है तथा उसका अतिक्रमण करता है। अपने 'अस्तित्ववाद और मानववाद'[3] नामक ग्रन्थ में सार्त्र कहते हैं–

"कोई मानव-प्रकृति नाम की चीज नहीं है क्योंकि इसका विज्ञान रखने वाला ईश्वर नहीं है। मनुष्य मात्र है। ऐसा नहीं है कि वह अपने को जो सोचता है वह है, बल्कि वह अपने को जो बनाता है, वह है।"[4]

इस प्रकार मनुष्य वह है जो वह स्वयं को बनाता है। पर इस **स्व** से अतिक्रमणीयता मानव अस्तित्व की प्रमुख विशेषता है। इसीलिये मनुष्य को वह नहीं कहा गया है, जो वह है, अर्थात् अपने अतीत को अतिक्रान्त करने की विशिष्टता मानव की विशेषता है। इसी तरह मनुष्य अपने भविष्य की योजना है, वह वह है जो वह नहीं है। सार्त्र मनुष्य की निरपेक्ष स्वतन्त्रता में विश्वास करते हैं। इसीलिये वे मनुष्य को उसकी 'योजना' बताते हैं। मनुष्य के बारे में वे कहते हैं कि वह वह है जो वह बनेगा। मनुष्य स्वयं अपना भविष्य है।

इस तरह हम देखते हैं कि सार्त्र के मत में मनुष्य स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। कोई पूर्वनिर्धारित नियति नहीं हैं जो मनुष्य की अनिवार्य गति हो। सार्त्र की नियति विषयक अवधारणा को उस प्रमुख अस्तित्ववादी सूत्रवाक्य में देखा जा सकता है जिसका सार्त्र ने अपने ग्रन्थों में बार-बार प्रतिपादन किया है अर्थात् अस्तित्व सार का पूर्वगामी है[5] इस अभिकथन में।

अस्तित्व सार का पूर्वगामी है

वस्तुत: सम्पूर्ण सार्त्रीय दर्शन नियतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में लिया

जा सकता है, यह पूर्ण मानव-स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा करता है। प्लेटो से लेकर दर्शन में जो सामान्य या सार को प्रमुखता देने की प्रवृत्ति चली वह उन्नीसवीं सदी तक वर्तमान रही–यहाँ तक कि दर्शन को सामान्यों की खोज का विज्ञान कहा जाने लगा। प्लेटो की मान्यता थी कि सामान्य या सार मौलिक तथा प्राथमिक हैं एवं व्यक्ति उसके उदाहरण एवं प्रतिबिम्ब रूप हैं।[6] सार की पूर्ववर्तिता सम्बन्धी इस अवधारणा का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति को सामान्य मानवीय-सार का एक उदाहरण मान लिया गया, फलस्वरूप मानव स्वतन्त्रता परिसीमित हो गयी। सार्त्र ने इस बात का खण्डन किया कि मानवीय अस्तित्व से उसका सार पूर्वगामी है।[7] मनुष्य पहले अस्तित्ववान होता है और फिर अपना सार स्वयं बनाता है। एक टेबल का स्वरूप या सार उसके वास्तविक अस्तित्व से पूर्ववर्ती है। टेबल कैसा होगा, उसका स्वरूप कैसा होगा, उसकी प्रयोजनवत्ता कैसी होगी, ये सब जो टेबल का सार है, उसके निर्माता के मन में पहले से विद्यमान है। इसी सार के अनुरूप वह पश्चात् विशेष टेबल बनाता है। देकार्ट, लाइब्नित्ज प्रभृति ईश्वरवादियों के मत में ईश्वर जो कि सृष्टिकर्ता है, के मन में मनुष्य समेत अपनी सृष्टि का प्रत्यय या सार पहले से विद्यमान है, और इसी प्रत्यय के अनुरूप उसने मनुष्य की रचना की। इस प्रकार ईश्वरवादियों के अनुसार मनष्य का अस्तित्व मेज की भाँति ही पूर्वनिर्धारित है, उसका सार उसके अस्तित्व से पूर्ववर्ती है।[8] ऐसे विज्ञानवादी दार्शनिकों के मत में भी जो सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास नहीं करते (उदाहरणस्वरूप हीगल, ग्रीन, ब्रेडले का परमसत् ईश्वर न हो परम-निरपेक्ष है) मनुष्य की स्थिति में कोई सुधार नहीं होता, क्योंकि यहाँ भी मनुष्य का स्वरूप पूर्व निर्धारित है, उसकी विकास यात्रा–उसकी नियति, निर्धारित है। मार्क्सवादी आर्थिक निर्धारणवाद में भी मनुष्य को उसके अस्तित्व के वास्तविक अर्थ से वञ्चित रखा गया है और उसे व्यवस्था का एक अंग मात्र मान लिया गया है। जिस तरह निरपेक्षवादी कहता है कि निरपेक्ष सत् को जानने के बाद मनुष्य को जानने की कोई समस्या नहीं रह जाती, उसी तरह मार्क्सवादी कहता है कि आर्थिक परिस्थितियों के नियन्त्रण से मानवीय समस्याओं का समाधान हो जाता है। इस तरह चाहे निरपेक्षवाद हो या मार्क्सवाद, दोनों ही व्यक्ति की रचनात्मकता, मौलिकता, विशिष्टता एवं स्वतन्त्रता को एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यूनीकृत कर देना चाहते हैं और **मानवीय-सार** को उसके अस्तित्व पर प्राथमिकता देते हैं। यहाँ तक कि कुछ निरीश्वरवादियों के भी विचार में जो ईश्वर को नहीं मानते, सार अस्तित्व से पूर्वगामी है–ऐसा विचार, दूसरे ढंग से देखा जा सकता है।[9] इनके अनुसार मनुष्य मानव-प्रकृति को अन्तर्निहित करता है। एक मानव-प्रकृति जो मानव की विशेषता है, उसका सार स्वरूप है, प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति उस मानव

चरित्र का उदाहरण है। निश्चय ही यह धारणा भी उसी सार अस्तित्व का पूर्वगामी है, का द्योतक है।

हाइडेगर और सार्त्र के मत में[10] यदि ईश्वर नहीं है तो कम से कम एक प्राणी ऐसा है जिसका अस्तित्व सार का पूर्वगामी है, एक प्राणी–जो पहले अस्तित्ववान होता है तब कहीं उसे किसी परिभाषा द्वारा परिभाषित किया जा सकता है, उसके सार के बारे में कुछ कहा जा सकता है। यह प्राणी मनुष्य है या हाइडेगर के शब्दों में मानव वास्तविकता (ह्यूमन रियलिटी) है। जब हम कहते हैं कि अस्तित्व सार का पूर्वगामी है तो उसका तात्पर्य क्या है? सार्त्र कहते हैं "हमारा तात्पर्य है कि मनुष्य पहले अस्तित्वान होता है, स्वयं से सामना करता है, जगत् में तरंगित होता है और फिर स्वयं को परिभाषित करता है।"[11] यदि मनुष्य जैसा कि अस्तित्ववादी कहते हैं कि परिभाष्य नहीं है तो ऐसा इसलिये कि मूलतः या प्रारम्भ में वह शून्य है।[12] मनुष्य वह है जो वह अपने को बनाता है।

मानव-प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि इसका प्रत्यय (विज्ञान) रखने वाला कोई ईश्वर नहीं है। मनुष्य केवल है। वह अपने को जैसा बनाना चाहता है, जैसा बनाता है, उतना ही है।[13] इस प्रकार वह निरन्तर अपने को सृजित कर रहा है, बना रहा है। मनुष्य निरन्तर निर्माणाधीन है। वह निरन्तर अपने स्वरूप या सार का सृजन कर रहा है। किसी भी प्रकार के सार या मानवीय प्रकृति द्वारा वह निर्धारित नहीं होता। इस तरह मनुष्य की कोई पूर्व निर्धारित नियति नहीं है–इस अर्थ में वह स्वतन्त्र है तथा चूँकि वह स्वयं अपना निर्माता है एवं अपनी नियति का नियामक है, अतः इस अर्थ में उसका गुरूतर दायित्व है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य उतना ही है जितना वह स्वयं को बनाता है। सार्त्र का दर्शन मानव-कर्म का दर्शन है। मनुष्य अपने कार्यों, योजनाओं, रचनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसने जहाँ तक अपने "स्व" का निर्माण किया है, वहीं तक वह है। मानवीय-कर्म से पृथक उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। सार्त्र का कहना है कि कर्महीनता का उसके दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसके अनुसार हमारे कार्यों, व्यवहारों, योजनाओं के सिवाय कोई यथार्थता नहीं है। मनुष्य जो कुछ करता है वही बनता है। दूसरे शब्दों में उसके सन्दर्भ में साध्य (पोटेन्शियलिटी) और सिद्ध (एक्चुएलिटी) का कोई भेद नहीं है। सार्त्र साध्य और शक्त को मिथ्या कहते हैं तथा सिद्ध पर ही विश्वास करते हैं। "मनुष्य जो अभियोजित करता है उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह केवल उतना ही अस्तित्व रखता है जितना उसने स्वयं को प्राप्त किया है, इसीलिये वह अपने कार्यों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अपने जीवन के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है।"[14] सार्त्र कहते हैं कि अब स्पष्ट

है कि उसके चिन्तन से लोग क्यों भयभीत हैं, क्योंकि ये लोग अपनी असफलता का बहाना देते हैं, परिस्थितियों पर रोते हैं, ये कहते हैं कि उनमें ढेर सारी योग्यतायें थी पर उचित वातावरण के अभाव में वे सिद्ध नहीं हो सकीं। अगर कोई कहता है कि उसमें अनेकों पुस्तकों को लिखने की क्षमता थी पर इसके लिये अवकाश ही नहीं मिला, उसमें सम्पूर्ण मानवता के प्रति अगाध प्रेम था पर उसे वह व्यक्त नहीं कर सका, तो वह गलत है। सार्त्र के अनुसार प्रेमपूर्ण व्यवहार में व्यक्त हुये प्रेम के बिना प्रेम प्रेम नहीं है, यदि हमने किसी से प्यार नहीं किया तो यह कहना गलत है कि मुझमें उसके प्रति प्यार था।[15] इसी तरह किसी कलाकार या लेखक की प्रतिभा उतनी ही है जितना कि उसने सृजन किया है, उतनी ही है जितना कि उसने लिखा है। अपनी रचनाओं की समग्रता के अतिरिक्त प्रूस्त की प्रतिभा कुछ नहीं, इसी तरह रासिन की प्रतिभा उसके नाटकों की समग्रता है क्योंकि जिस कल्पित नाटक को उसने लिखा ही नहीं उसको लिखने का भी सामर्थ्य रासिन में क्यों स्वीकारा जाए। इस तरह मनुष्य अपने कार्यों, व्यवहारों द्वारा अपनी जैसी प्रतिमा बनाता है, जितनी प्रतिमा बनाता है, वह उतना ही है उससे अधिक कुछ भी नहीं।[16]

इस तरह सार्त्र के अनुसार हर व्यक्ति स्वयं अपने अधीन है। वह स्वयं अपनी नियति का नियामक है। व्यक्ति आरम्भ से शून्य है। अपने कार्यों, योजनाओं, चयनों द्वारा वह स्वयं **अपना** तथा अपनी **नियति** का निर्माण करता है। चूँकि हर व्यक्ति स्वयं अपनी नियति का स्वामी है, अतः कोई सामान्य मानवीय नियति नहीं है। प्रश्न है कि यदि हर व्यक्ति की नियति नितान्त उसकी है, हर व्यक्ति का चयन वैयक्तिक है तो मानवीय संवाद का क्या होगा? सार्त्र कहते हैं कि यद्यपि यह बात सही है कि मनुष्य अपने कार्यों द्वारा अपने स्वरूप का निर्माण करता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हर मनुष्य का सार उसका सर्वथा निजी हो–इतना निजी कि दूसरों के साथ उसका सम्पर्क अथवा संलाप ही न हो सके। अस्तित्ववादी दर्शन को प्रायः व्यष्टिवादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसका सामान्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। सार्त्र तमाम दार्शनिक अतर्कपरता तथा व्यष्टिवादिता के बावजूद मनुष्य की एक सामान्यता स्वीकार करते हैं।[17] दास्तोवस्की ने कहा था कि यदि ईश्वर नहीं है तो सभी कुछ की अनुमति है। सार्त्र के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, फलतः कोई ईश्वरीय विधान जैसी चीज नहीं है। न प्रागनुभविक शुभ अशुभ आदि मूल्यों का अस्तित्व है। मनुष्य के आगे पीछे मूल्यों की कोई श्रृंखला नही है जिससे हम अपने कार्यों के लिये बहाना ढूढ़ सकें, औचित्य तलाश कर सकें। **मनुष्य अपने मूल्यों का स्वयं स्त्रष्टा है तथा स्वयं उसका औचित्य प्रस्तुतकर्ता**। न कोई चीज अच्छी है, न बुरी।

मनुष्य द्वारा चयनित होने पर ही वह अच्छी या बुरी होती है। इस तरह कोई निरपेक्ष मूल्य नहीं है। "मूल्यों का आविर्भाव मानवीय वस्तविकता के साथ होता है।" मनुष्य का चुनाव ही मूल्यों को निर्धारित करता है, उनमें चुनाव के पहले कोई मूल्यवत्ता नहीं होती। मानवीय चुनाव या मूल्य की किसी प्रकार की पूर्वतर्तिता का सार्त्र विरोध करते हैं। उनके अनुसार मानवीय चुनावों का कोई तार्किक औचित्य नहीं होता। वे एक अर्थ में असंगत (एबजर्ड) होते हैं क्योंकि उनके किये जाने का कोई तर्कसंगत कारण दिखायी नहीं देता। इस तरह मनुष्य मूल्यों का स्रष्टा है। सार्त्र का यह मत नीट्शे के समान है। यदि सार्त्र प्रभृति के इस तरह के विचारों को माना जाए तो एक व्यक्ति द्वारा किया गया चयन अन्य के लिये रेडीमेड मूल्य होगा, फलतः एक सामान्य आचारशास्त्र और मूल्यशास्त्र की संभावना ही समाप्त हो जायेगी। **एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म** में सार्त्र अस्तित्ववाद के इस नितान्त व्यक्तिवादी पक्ष का मानववाद से समन्वय करने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं कि हमारा चयन सिर्फ हमारे लिये न होकर सम्पूर्ण मानवता के लिये होता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रतिमा बनाने के लिये स्वतन्त्र है, पर वह वैसी ही प्रतिमा बनाता है जैसा सबों के लिये चाहता है। "जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपना चयन करता है, तब हमारा तात्पर्य होता है कि हम में प्रत्येक को स्वयं अपना चयन करना चाहिये। लेकिन हमारा यह भी तात्पर्य होता है कि स्वयं के लिये चुनने की प्रक्रिया में वह सभी मनुष्यों के लिये चयन करता है।[18] मनुष्य वही चुनता है जो बढ़िया हो, निस्सन्देह मनुष्य अपने चयन द्वारा उसे मूल्य प्रदान करता है, पर हमारे लिये कोई चीज तब तक बढ़िया नहीं हो सकती जब तक कि वह सभी के लिये न हो।[19] जब हम अपनी प्रतिमा बनाते हैं, निर्णय करते हैं तो हमारा निर्णय ऐसा होना चाहिये कि वह सम्पूर्ण मानवता का हो, हम मनुष्य की उसी प्रतिमा (इमेज) का सृजन करते हैं जैसा कि हम चाहते हैं कि वह सभी मनुष्य का हो। इसलिये सार्त्र कहते हैं कि स्वयं की निर्माण प्रक्रिया में हम मनुष्य का निर्माण करते हैं।[20] इस तरह मनुष्य मानव जाति के एक प्रतिनिधि के रूप में चयन करता है। समस्त मानव जाति की उसके कार्य व्यापार पर मानो निगाह टिकी रहती है। मनुष्य अपने कार्यों द्वारा स्वयं अपनी प्रतिमा का अथवा कहें कि इसके माध्यम से सारी मानवता की प्रतिमा का निर्माण करता है। **मनुष्य मनुष्य का भविष्य है**, इस प्रसिद्ध उक्ति का यही अर्थ है। ऊपर जो सार्त्र के विचार प्रस्तुत किये गये हैं वे काण्ट के निरपेक्ष आदेशों की याद दिलाते हैं। सार्त्र का यह मत उनके मूल अस्तित्ववादी प्रस्थापनाओं के विपरीत प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे पृष्ठ-दरवाजे से निरपेक्ष आदेश के रूप में मनुष्य पर एक मूल्य लाद रहे हों। इसीलिये स्वयं सार्त्र इस ग्रन्थ को भूल बताते हैं।

मनुष्य विभिन्न कार्य योजनाओं, चुनावों द्वारा निरन्तर अपने स्व का निर्माण कर रहा है। वस्तुतः ये विभिन्न कार्य-योजनायें, चुनाव मानव-स्वातन्त्र्य के अभिव्यक्ति की माध्यम हैं क्योंकि इन चुनावों, कार्य योजनाओं से पृथक मानव-स्वतन्त्रता नामक कोई चीज नहीं है। मनुष्य की स्वतन्त्रता न तो कोई सामान्य गुण है और न वह प्रदत्त है। उसका आविर्भाव विभिन्न मानव-क्रिया व्यवहारों और चुनावों में ही होता है, चुनाव के पहले नहीं। सार्त्र के मत में "स्वतन्त्रता" कोई क्षमता नहीं, यह उसका गुण नहीं अपितु यह मानव यथार्थता है। स्वतन्त्रता यहाँ चयन की स्वतन्त्रता है। यदि मनुष्य अपने को किसी कार्य योजना से प्रतिबद्ध नहीं करता, वह निर्णय नहीं करता, चयन नही करता, तो वह भला स्व का निर्माण कैसे कर सकेगा? अपनी स्वतन्त्रता का कैसे उपभोग कर सकेगा? **द एज ऑफ रीजन** और **द रिप्रीव** का मैथ्यू चूँकि किसी प्रतिबद्धता में स्वयं को नहीं डाले हुये है, इसलिये वह अपने को स्वहीन पाता है। वस्तुतः हम बिना किसी अभियोजना के अपने स्व को नहीं पा सकते, स्वतन्त्रता नहीं भोग सकते। मनुष्य कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है, परन्तु उसे स्वतन्त्र होने के लिये, कुछ होने के लिये कार्य करना होगा।[21] सार्त्र के मत में मनुष्य अपने कार्य-व्यवहारों का समुच्चय है।[22] वह जहाँ तक अपने कार्यों, व्यवहारों द्वारा अभियोजित होता है, वह वहीं तक है। मैथ्यू का मित्र ब्रूनोट जो कि कम्यूनिष्ट है, मैथ्यू को कम्युनिष्ट होने के लिये आमन्त्रित करता है। मैथ्यू के हिचकिचाने पर ब्रूनोट कहता है-तुम स्वतन्त्र हो, पर स्वतन्त्रता किस बात की? यदि तुम किसी कार्य योजना में इसे व्यक्त नहीं करते ---- तुम निरन्तर तैर रहे हो, फिसल रहे हो-तुम अमूर्त हो-स्वयं में अनुपस्थित हो। सार्त्र के ट्रेजेडी द फ्लाइज के नायक ओरेस्टेस को उसका शिक्षक किसी भी प्रतिबद्धता से दूर रहने को कहता है। आरगोस पहुँचने पर ओरेस्टेस अपनी अप्रतिबद्धता पर प्रसन्न होता है कि वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, वह स्वतन्त्र है।[23] पर ओरेस्टेस शीघ्र ही अपनी अप्रतिबद्धता से ऊब जाता है। वस्तुतः सार्त्र कभी भी विभिन्न कार्य योजनाओं से अप्रतिबद्ध रहने वाली स्वतन्त्रता की वकालत नहीं करते। अपितु वे तो इसके लिये (विभिन्न कार्य योजनाओं में प्रतिबद्ध रहने का निर्णय लेने के लिये) प्रेरित करते हैं और इसे आवश्यक बताते हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि सार्त्र के लिये हर **चयन** बराबर का मूल्य रखता है।

इस तरह मनुष्य अपने स्व का निर्माण अपने विभिन्न कार्यों, व्यवहारों द्वारा करता है। वह स्वयं अपना स्व बनाता है, अपनी प्रतिमा बनाता है। और फिर वह स्वयं इस स्व का, अपने द्वारा निर्मित अपनी प्रतिमा का प्रत्याख्यान करता है। कहीं वह अपने द्वारा निर्मित स्व से ही निर्धारित न होने लगे, इसीलिये सार्त्र मानव-स्वतन्त्रता को अपने अतीत से एक दूरी या निषेध के रूप में परिभाषित करते हैं। अपनी

ही प्रतिमा का प्रत्याख्यान करना, मनुष्य की उसी तरह विशेषता है जिस तरह अपनी प्रतिमा का निर्माण करना। मनुष्य अपने चयन द्वारा मूल्यों को अर्थवत्ता प्रदान करता है। उसके चयन से निरपेक्ष इनकी कोई मूल्यवत्ता नहीं होती। मनुष्य निरन्तर नये मूल्यों का सृजन करता है। पर कहीं अपने द्वारा सृजित मूल्यों से वह स्वयं को न बाँध ले, इसीलिये सार्त्र अतीत के निषेधीकरण के रूप में एवं सृजित मूल्यों को भी अतिक्रान्त करने के रूप में, **स्वतन्त्रता** का रूप स्वीकार करते हैं। इस तरह सार्त्र के अनुसार मनुष्य निरन्तर अपने स्व का निर्माण करता है और पुनः अपनी स्वतन्त्रता में इस **स्व** को बाधा समझ इसका प्रत्याख्यान करता है-फिर अपने स्व का निर्माण। इस तरह का मनुष्य एक अन्तहीन प्रक्रिया है–निर्माण, ध्वंश और निर्माण की। चूँकि मनुष्य का कोई सार नहीं, कोई मौलिक प्रतिमा नहीं, अतः मानव की यात्रा का कोई अन्त नहीं। मनुष्य निस्स्वभाव है, अवस्तुत्व रूप है, अतः स्वरूप सिद्धि का उसका प्रयास एक व्यर्थ प्रयास है।

स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व

सार्त्र मनुष्य को निरपेक्ष स्वतन्त्रता प्रदान कर उस पर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व डाल देता है। मानवीय स्वतन्त्रता का अर्थ मानव-उत्तरदायित्व से है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य जगत् का निर्माता है। "मनुष्य समस्त संसार का बोझ अपने कन्धे पर रखे हुए है, वह स्वयं के लिये तथा जगत् के लिये उत्तरदायी है।"[24] स्वतन्त्रता के लिये अभिशप्त मनुष्य समस्त संसार का बोझ अपने कन्धों पर ढोता है, वह स्वयं के लिये तथा जगत् के लिये अपने उत्तरदायित्व से बच नहीं सकता। उत्तरदायित्व से सार्त्र का तात्पर्य किसी घटना या वस्तु के निर्विवाद रचयिता होने के बोध से है और इस अर्थ में स्वनिमित्त सत् की जिम्मेदारी अत्यधिक है क्योंकि इसके कारण ही जगत् है, वह स्वयं है। जगत् में जो कुछ घटित होता है, उसका महत्त्व एवं अर्थ मनुष्य के सन्दर्भ में ही होता है। समस्त परिस्थितियाँ मानव-परिस्थितियाँ हैं। मनुष्य अपनी स्थिति को अनुकूल या प्रतिकूल रूप में ले सकता है, पर इन**स्थितियों** का महत्त्व मानव-योजना के संदर्भ में ही है। अतः इस संसार में कुछ भी अमानवीय नहीं है–ऐसा नहीं है जिसके लिये मनुष्य जिम्मेदार नहीं है। मनुष्य किसी बात की शिकायत नहीं कर सकता। उसके पास कोई बहाना नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी वह अनुभव करता है, जीता है अथवा जो कुछ वह है –– उन सबका जिम्मेदार वह स्वयं है, उनका अर्थ वही निर्धारित करता है।

मनुष्य के लिये कुछ भी बाध्यता नहीं है। यहाँ तक कि भयंकर यातनाप्रद युद्ध का मनुष्य स्वयं चयन करता है। सार्त्र कहते हैं कि युद्ध झेलना पड़ता है क्योंकि हम उसके योग्य हैं।[25] हम स्वयं युद्ध के लिये जिम्मेदार हैं, क्योंकि हम

युद्ध से पलायन कर सकते हैं अथवा आत्महत्या द्वारा युद्ध में भाग लेने से स्वयं को रोक सकते हैं। मैंने मृत्यु या लोगों के अपमान के बजाए युद्ध को चुना। इसके अतिरिक्त युद्ध की परिस्थिति के लिये हम जिम्मेदार हैं। हम युद्ध के समय के लिये अपने उत्तरदायित्व का स्थगन नहीं कर सकते। युद्ध मेरा युद्ध है—मैं युद्ध हूँ।[26] "पर मैंने अपने जन्म के लिये नहीं कहा था" इस तरह तथ्यता पर अधिक जोर देकर हम क्या उत्तरदायित्व के बोझ को हल्का नहीं कर सकते? सार्त्र के अनुसार ऐसा हम नहीं कर सकते। क्योंकि हम सभी चीज के लिये उत्तरदायी हैं सिवाय अपने उत्तरदायित्व के, कारण कि हम अपनी सत्ता के स्वयं आधार नहीं है। हम इस उत्तरदायित्वपूर्ण जगत् में अकेले **फेंक** दिये गये हैं जहाँ हमें स्वनिर्मित जगत् में जीना है, अकेले निर्णय करना है और जहाँ हमें अपने उत्तरदायित्व से कोई बचा नहीं सकता। यदि हम अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने का निर्णय लेते हैं, उदासीन रहने का निर्णय लेते हैं, अथवा यहाँ तक कि आत्महत्या का निर्णय उठा लेते हैं—तो यह सब हमारे इस जगत् में **होने का** एक तरीका मात्र होगा। यहाँ तक कि हमारा जन्म भी मात्र तथ्यता नहीं, क्योंकि हम अपने जन्म पर खुश होकर, दुःखी होकर, लज्जित होकर, इससे छुटकारा पाने की अभिवृत्ति अपनाकर अपने जीवन को स्वीकृति प्रदान करते हैं। हम इस जीवन को अच्छे या बुरे रूप में ग्रहण करते हैं, इस अर्थ में हम स्वयं अपने जन्म का भी चयन करते हैं। इस तरह तथ्यता का भी अर्थ यह है कि मैं स्वयं के लिये उत्तरदायी होने को अभिशप्त हूँ।

हमें इस उत्तरदायित्व का सर्वाधिक बोध दुश्चिन्ता के क्षणों में होता है। अपनी स्वतन्त्रता का विमर्श या बोध दुश्चिन्ता है। मनुष्य सत् के एक प्रकार के रूप में जो न तो स्वयं के लिये आधार है, न दूसरे के सत् का आधार है, न स्वयं में सत् रूप जगत् का आधार है—पर इन सभी की अर्थवत्ता का मूल्यांकन करने के लिए, इन सभी को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिये विवश है। स्वयं का इस रूप में बोध दुश्चिन्ता में होता है।[27] और जब मनुष्य को स्वयं के उत्तरदायित्व और अकेलेपन का इस तरह दुश्चिन्ता में बोध होता है तो उसके पास किसी तरह का गिला-शिकवा, शिकायत, खेद या बहाना नहीं रहता, वह स्वतन्त्र रूप में अवस्थित होता है।[28] चूँकि यह स्थिति दुश्चिन्ताप्रद होती है, अतः मनुष्य बहुधा इससे बचना चाहता है और विभिन्न दुरास्थाओं का सहारा लेता है।

दुश्चिन्ता

जैसा कि सार्त्र के स्वतन्त्रता विषयक उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि मनुष्य, अपनी नियति के लिये स्वतन्त्र है। वह अपना "सार" स्वयं निर्धारित करता है,

वह अपने व्यवहारों-कार्यों के लिये स्वयं उत्तरदायी है। वही मूल्यों का स्रष्टा है। वह स्वयं अपना तथा जगत् का आप ही निर्माणकर्ता है। अपनी इस भूमिका में वह निपट अकेला है तथा कोई और उसकी मदद करने वाला नहीं है। स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व की यह तस्वीर उसके अन्दर "दुश्चिन्ता" पैदा करती है। सार्त्र किर्केगार्ड के इस मत को स्वीकार करते हैं कि दुश्चिन्ता "स्वतन्त्रता के सम्मुख दुश्चिन्ता" है। दुश्चिन्ता भय नहीं है। "भय" अन्य से भय है जबकि दुश्चिन्ता स्वयं के सम्मुख है।[29]

भय किसी बाह्यवस्तु से होता है, उदाहरण के रूप में शत्रु द्वारा की गयी बमवारी हममें भय पैदा करती है। जबकि दुश्चिन्ता में हम स्वयं के बारे में भयभीत होते हैं--अपने व्यवहार-कार्य के बारे में, अपनी प्रतिक्रिया के बारे में। उदाहरण के लिये ऊपर उल्लिखित बमवारी की ही स्थिति में हम उसके बारे में-उस क्षण में-कैसा निर्णय लेंगे, इस सम्बन्ध में हम दुश्चिन्ता का अनुभव करते हैं। सार्त्र के अनुसार दुश्चिन्ता अपनी स्वतन्त्रता का विमर्शात्मक बोध ही है। सार्त्र के अनुसार स्वनिमित्त सत् या चेतना अपनी निषेधात्मक प्रक्रिया द्वारा निरन्तर अपने को अपने से विभाजित (अलग) करती रहती है। मानवीय चेतना अपने इन अलगावों द्वारा निरन्तर अपने मुक्त स्वरूप को उद्घाटित करती रहती है। फलस्वरूप चेतना न तो बाह्यवस्तु की भाँति यन्त्रवत् निर्धारित होती है और न ही आगामी घटनाओं के आविर्भाव के यान्त्रिक आधार के रूप में अपने को प्रस्तुत कर सकती है। वह अपने को संभावनाओं के सम्मुख स्थित देखती है–संभावनायें, जो उसकी संभावनायें हैं। पर इन संभावनाओं में किस सम्भावना का अन्ततः चयन होना है, इसके बारे में निर्णय पूर्व कुछ कहना, निर्धारित करना असम्भव है। न तो उसका अतीत ही इस क्षेत्र में उसकी मदद कर सकता है और न परिवेश। पूर्णतः एकाकी निराधार मनुष्य को स्वयं विभिन्न सम्भावनाओं में से किसी एक को चुनने का निर्णय लेना होता है और यही बात मनुष्य में दुश्चिन्ता पैदा करती है। दुश्चिन्ता इसलिये भी कि मानव व्यवहार अनियन्त्रित, अतार्किक और अव्याख्येय होता है।[30] मनुष्य होने के नाते उसका व्यवहार सुतर्कपरक नहीं हो सकता, व्याख्येय नहीं हो सकता, क्योंकि उसे व्याख्येय होने के लिए एक निश्चित स्वरूप वाली वस्तु के समान होना होगा। पर मनुष्य इस तरह वस्तु रूप नहीं है। उसकी सारी गतिविधियाँ स्वयं उसकी गतिविधि है। मनुष्य किस सम्भावना को चुने, यह उसका अपना निर्णय होता है। विभिन्न सम्भावनाओं में किसी एक का चयन इस बात की गारन्टी नहीं कि वह इस पर **टिका** रहे। मैंने भोर में उठने का निर्णय लिया है, पर अलार्म बजने पर उठूँ ही, इसकी क्या गारन्टी? हो सकता है कि मैं भोर की ठण्ड में गर्म बिस्तर पर ही रहने का निर्णय करूँ।[31] इस तरह की सम्भावनायें हममें दुश्चिन्ता

पैदा करती है। इसी तरह मानव-स्वतन्त्रता जन्य दुश्चिन्ता के उदाहरण के रूप में ढालू मार्ग पर खड़े व्यक्ति को लिया जा सकता है। खतरनाक ढालू मार्ग पर खड़ा व्यक्ति इस चिन्ता से ग्रस्त होता है कि कहीं वह नीचे न गिर पड़े। रास्ते का ढलाव उसे अपनी ओर खींच सकता है। नीचे न गिरने का निश्चय उसे चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकता है क्योंकि यह इस बात का आश्वासन नहीं कि दूसरे क्षण उसका निर्णय डिग न जाए।

दुश्चिन्ता के इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सार्त्र के अनुसार अपनी स्वतन्त्रता का विमर्शात्मक बोध दुश्चिन्ता में होता है। कि सारी संभावनायें मेरी सम्भावनायें हैं, यह बात हममें दुश्चिन्ता पैदा करती है। इन सम्भावनाओं में हमें किसी एक का चयन अकेले करना है, इन विभिन्न संभावनाओं में किसी एक को चुनकर हमें मूल्य प्रदान करना है, यह बात हममें दुश्चिन्ता पैदा करती है। पुनः वर्तमान में लिया गया निर्णय भविष्य के लिये अनिवार्य नहीं, हम अपने चुनाव और निर्णय कभी भी बदल सकते हैं, यह बात भी हममें दुश्चिन्ता पैदा करती है।

सुबह उठने के उदाहरण को भविष्य के बारे में दुश्चिन्ता के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इसी तरह**अतीत** के सम्मुख दुश्चिन्ता को सार्त्र जुआड़ी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।[32] हमारा अतीत, अतीत में लिया गया निर्णय, हमें निर्णय लेने में कोई मदद नहीं करता है। एक जुआड़ी जुआ न खेलने का निर्णय लेता है-निश्चय करता है। पर जब वह पुनः खेल की मेज के सामने आता है तो महसूस करता है कि उसका निर्णय पूर्णतः ध्वस्त है, असफल है। यदि उसे जुआ नहीं खेलना है तो उसे उसी क्षण उसका निर्णय करना है, अतीत में किया गया निश्चय इस सम्बन्ध में उसकी कोई मदद नहीं कर सकता। इस तरह हमें हमेशा ही अपने बारे में नये सिरे से निर्णय करना होता है, नये सिरे से ढालना होता है।[33] अतीत का अतिक्रमण करते हुये अपनी संभावनाओं को नये सिरे से साकार करना होता है। अतीत से न चिपककर नित नये संभावनाओं को साकार करना ही मानव-स्वतन्त्रता है, और अपने इस रूप का बोध दुश्चिन्ता है।

नैतिक जीवन के संदर्भ में "दुश्चिन्ता" को और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। मैं मूल्यों के सन्दर्भ में दुश्चिन्ता का अनुभव करता हूँ। हमसे निरपेक्ष और स्वतः अपने आप में मूल्यों का अस्तित्व नहीं है। यह हम हैं जो मूल्यों का आधार है। मूल्य का हमारे चयन से पूर्व कोई अस्तित्व नहीं। मूल्य पहले से हैं और हमें उनका अनुशीलन करना है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि मूल्यों की मूल्यवत्ता हमारे चयन द्वारा समर्थित होने पर ही है। इस तरह हम स्वयं मूल्यों की सृष्टि करते हैं, उनका चयन करते हैं। इस सम्बन्ध में हमारी स्वतन्त्रता निरपेक्ष है और

किसी विशिष्ट चयन के पीछे हम कोई औचित्य, तर्क या बहाना नहीं दे सकते। सार्त्र कहते हैं कि मेरी स्वतन्त्रता ही मूल्यों का एकमात्र आधार है और मेरे द्वारा किसी भी मूल्य के औचित्य को अन्यत्र ढूढने का प्रयास सर्वथा बेमानी है। स्वयं का ऐसी सत्ता के रूप में बोध जो स्वयं तो मूल्यों का एकमात्र आधार है, पर जिसके स्वयं के अस्तित्व और प्रक्रियाओं का कोई आधार नहीं है, दुश्चिन्ता उत्पन्न करता है।[34] साथ ही हमारे द्वारा चयनित मूल्य के स्वयं हमारे द्वारा ही अन्य समय में बदल दिये जाने की सम्भावना भी दुश्चिन्ता को उत्पन्न करती है।

इस तरह अपने स्वरूप का बोध दुश्चिन्ता है। मनुष्य स्वतन्त्र है। अपनी स्वतन्त्रता–स्वतन्त्रता जिसका कोई स्वरूप नहीं है-जो निरन्तर अपना ही अतिक्रमण है-जो अवस्तु है–के सम्मुख होना, उसका सामना होना ही दुश्चिन्ता है। मैं जो हूँ तथा जो होऊँगा उसके बीच, मेरे अतीत तथा वर्तमान एवं वर्तमान तथा भविष्य इनके बीच, "कुछ भी नहीं" (नथिंग) खड़ा है। मेरे भावी रूप तथा मेरे वर्तमान में जो दूरी है, जो रिक्तता है, वही हमारी दुश्चिन्ता का कारण है। इसे ही सार्त्र एक विरोधाभास के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं–हम न होकर वह हैं जो हमें होना है।[35] यही बोध दुश्चिन्ता है।

सार्त्र कहते हैं कि यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि दुश्चिन्ता का अनुभव हमें कभी-कभी होता है जबकि स्वतन्त्रता तो मानव चेतना का स्वरूप ही है। अब यदि मनुष्य सर्वदा स्वतन्त्र है तो हमेशा उसे दुश्चिन्तित भी होना चाहिये। सार्त्र कहते हैं कि इसका कारण यह है कि जीवन के अधिकतर समय हमारी चेतना क्रियारत चेतना होती है, अनुचिन्तनात्मक नहीं। कार्य के समय मानव चेतना प्राक्‌विमर्शी होती है।[36] परन्तु **जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के विषय में अनुचिन्तन करता है तो दुश्चिन्ता महसूस करता है।** जब मनुष्य अपनी संभावनाओं, अपने उत्तरदायित्व के सम्मुख खड़ा होता है तो उसे दुश्चिन्ता महसूस होती है। उदाहरणतः नैतिक दुश्चिन्ता अपने उत्तरदायित्व के प्रति दुश्चिन्ता है। जब तक हम कार्य में व्यस्त हैं, हमें अपने उत्तरदायित्व के बारे में चिन्ता नहीं होती। पर ज्यों हि हम अनुचिन्तन करते हैं, हम पाते हैं कि हम अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी हैं, कोई भी अनुभव-निरपेक्ष, प्रदत्त या रेडीमेड मूल्य नहीं है, हमें स्वयं अपने मूल्यों का सृजन करना है। स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व का यह दुर्वह बोझ हममें दुश्चिन्ता पैदा करता है। इस तरह की अनुभूति अनुचिन्तनात्मक स्तर पर ही होती है। दुश्चिन्ता की ये अनुभूतियाँ विशेष क्षणों में होने पर भी सार्त्र के अनुसार ये विशेष क्षण की अनुभूतियाँ मानवीय वास्तविकता की अनिवार्य नियति हैं। दुश्चिन्ता स्वस्वरूप बोध है। मनुष्य स्वतन्त्र है और इस स्वतन्त्रता का बोध दुश्चिन्ता में

होता है। दुश्चिन्ता के क्षण में हमें अपनी निरपेक्ष स्वतन्त्रता का बोध होता है और इस बात का कि जगत् को अर्थ और मूल्य प्रदान करने का स्रोत मैं स्वयं हूँ। यह दुश्चिन्ता अपनी तमाम कष्टप्रदता और असह्यता के बावजूद वरेण्य है क्योंकि यह मानवीय स्वतन्त्रता का पर्याय है। यह इस बात का साक्षात्कार है कि निपट एकाकी मनुष्य जगत् का निर्माता है, अपनी नियति का मालिक है।[37]

स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व से उत्पन्न दुश्चिन्ता इतनी कष्टप्रद होती है कि मनुष्य इसको सहन नहीं कर पाता। मनुष्य इससे मुक्त होने के लिये दुश्चिन्ता से दूर भागना चाहता है। वह अपने कार्यों, निर्णयों एवं चुनावों के लिये बहानों की तलाश करता है जिससे वह दिखा सके कि उसने जो कुछ किया वह उसने अन्य कारणों से किया, स्वेच्छापूर्वक नहीं किया। वह अपने स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व को सीमित करने वाले कारणों की तलाश करता है। यह अपने स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और तद्जन्य दुश्चिन्ता से भागने की एक रक्षा प्रविधि है। दुरास्था ऐसी ही रक्षा प्रविधि है। जहाँ दुश्चिन्ता अपने स्वरूपबोध की स्थिति है, दुरास्था आत्म-विस्मृति का एक कृत्रिम प्रयास है-आत्म प्रवंचना का एक प्रकार है।

दुरास्था

पिछले पृष्ठों में हमने देखा कि किस तरह स्वस्वरूप का बोध, अपनी स्वतन्त्रता का परिज्ञान मनुष्य में दुश्चिन्ता पैदा करता है क्योंकि मनुष्य अपने इस निरपेक्ष स्वतन्त्रता से जन्य उत्तरदायित्व के दुर्वह बोझ को उठाना नहीं चाहता। सार्त्र का दर्शन मानव-स्वातन्त्र्य का दर्शन है। यह मनुष्य को अपने स्वरूपसिद्ध स्वातन्त्र्य का उपभोग करने की शिक्षा देता है। परन्तु मनुष्य अपनी इस स्वतन्त्र स्थिति से घबड़ाता है। वह स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्वजन्य दुश्चिन्ता से बचने के लिये जगत् एवं स्वयं अपने विषय में "सत्य" को स्वीकार करना नहीं चाहता है। वह स्वयं अपनी वास्तविकता को नहीं स्वीकारता है। इस बात का बोध कि मनुष्य निरन्तर अपने स्व का निषेध करने वाला-अतिक्रमण करने वाला सत्ता है-कि वह नितान्त शून्य और निधर्मक है-कि ईश्वरविहीन इस बेतुके विश्व का मनुष्य स्वयं रचयिता है-अपने कार्यों, अपनी योजनाओं द्वारा स्वयं उसे अपना विनिर्माण करना है-मनुष्य एवं जगत् के सम्बन्ध में यह अनुभव मनुष्य के लिये अत्यन्त दुश्चिन्तापरक और क्लेशकर होता है। मनुष्य इस एकाकीपन और दुश्चिन्ता से बचाव के लिये विभिन्न बहानों की तलाश करता है। वह अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करने वाले कारणों की तलाश करता है। वह जगत् एवं स्वयं के विषय में ऐसे कल्पित दृष्टिकोणों का निर्माण करता है जिसमें उसे अपने कार्यों, निर्णयों, चुनावों के लिये बहाना मिल सके। वह इस विश्वास का आश्रय लेना चाहता है कि मनुष्य के अतिरिक्त

ईश्वर, समाज या एक भौतिक वातावरण है जिसने मनुष्य को कैसे जाना है इसका निर्धारण कर रखा है। उसे क्या होना है, क्या करना है और किन मूल्यों का अनुशीलन करना है, ये सब जिनके द्वारा निर्धारित हैं। अपनी स्वतन्त्रताजन्य दुश्चिन्ता से घबड़ाकर वह इस लोक के बजाय कल्पित लोक का निर्माण करता है। वह इस मिथ्या विश्वास से संचालित होना चाहता है कि मानो इस लोक के नियम-कानून निरपेक्ष हैं, प्रदत्त हैं, निर्धारित हैं तथा उसकी इस जगत् में एक निर्धारित नियति है, भूमिका है; लेकिन यह वस्तुतः उसकी दुरास्था मात्र है। स्वयं अपने से बचाव के लिये किये गये इन रक्षा-उपायों को सार्त्र दुरास्था कहते हैं।

दुरास्था आत्म-प्रवंचना है। यह अपनी वास्तविकता को स्वयं से छिपाना है। दुरास्था इस तरह एक झूठ है जो व्यक्ति स्वयं से बोलता है। पर इसी कारण यह सामान्य झूठ से भिन्न है। झूठ किसी अन्य से बोला जाता है, झूठ बोलने वाला सत्य से भली भाँति परिचित होता है। वह स्वयं से "सत्य" नहीं छिपाता है। वह अन्य से झूठ बोलता है और उसे इस बात का बोध रहता है कि वह झूठ बोल रहा है। जबकि दुरास्था में झूठ बोलने वाला तथा जिससे झूठ बोला जाता है, दोनों एक होते हैं। यहाँ धोखा देने वाला तथा धोखा खाने वाला दोनों एक ही होते हैं।[38] दुरास्था वस्तुतः आत्म-प्रवंचना है। दुरास्था में हम स्वयं अपने से झूठ बोलते हैं। हमें इस बात की भी चेतना होती है कि हम स्वयं झूठ बोल रहे हैं। वस्तुतः आत्म-प्रवंचना सर्वदा सचेतन ही होती है क्योंकि सार्त्र की आधारभूत मान्यता है कि "चेतना का सत्, सत् की चेतना है।"[39] परन्तु स्वयं से भला झूठ कैसे बोला जा सकता है और जब हमें स्वयं इस बात का बोध हो कि हम स्वयं से झूठ बोल रहे हैं तो झूठ झूठ कहाँ रह जायेगा? एक ही चेतना झूठ बोलने वाली तथा जिससे झूठ बोला जाता है, दोनों एक साथ कैसे हो सकती है?

इन प्रश्नों के एक सम्भावित उत्तर के रूप में सार्त्र फ्रायड के मनोविश्लेषण का उल्लेख करते हैं।[40] फ्रायड और उनके अनुयायी मनोविश्लेषकों के अनुसार आत्म-प्रवंचना एक अचेतन प्रक्रिया है और यह अचेतन से नियन्त्रित होती है न कि चेतन से। किन्तु फ्रायड की व्याख्या सार्त्र को स्वीकार नहीं है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अचेतन मन चेतन मन से उसके जीवन के अप्रिय सत्यों को छिपाने का प्रयास करता है। सार्त्र के अनुसार फ्रायड का यह सिद्धान्त चेतना को दो भागों में विभाजित कर उसकी एकता और पारदर्शिता को नष्ट कर देता है।[41] अचेतन मन की अवधारणा चेतना में एक अपारदर्शिता का प्रवेश है, किन्तु हम देख चुके हैं कि चेतना का स्वरूप पारदर्शी है। अपारदर्शिता "स्वयं में सत्" का लक्षण है न कि चेतना का। पुनः इड और इगो दोनों पृथक-पृथक हैं। मैं अपना

इगो हूँ, इड नहीं। अब मेरे इगो से इड के भिन्न होने से, इड में दमित इच्छाओं के प्रकाशन से भला मुझे सन्तुष्टि कैसे होगी? और न तो मैं इन दमित इच्छाओं को स्वयं अपनी इच्छा के रूप में अभिज्ञान कर सकता हूँ। अत: स्वयं अपने को छलने एवं स्वयं अपने से झूठ बोलने का सवाल ही यहाँ नहीं उठता। वस्तुत: यदि इड और इगो का विभाजन पूर्णतया माना जाए तो **बिना असत्यभाषी के असत्य** की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि सचेतन पुरूष के रूप में मेरा इड से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मेरा अन्य पुरूष से। इड और इगो का विभाजन सार्त्र के अनुसार "मेरी विषयिता के भीतर अन्य सहकृत सत् के गहरे अन्तर्वैयक्तिक संरचना का प्रवेश है।"[42]

मनोविश्लेषक के समक्ष मरीज द्वारा अपनी बातों को छिपाने की वस्तुस्थिति की भी फ्रायडीय मनोविश्लेषण व्याख्या नहीं कर पाता है। मरीज डाक्टर से सहयोग नहीं करता, अपनी बातें गलत रूप में कहता है और यहाँ तक कि कुछ बातें छिपा लेता है। सार्त्र पूछते हैं कि ऐसा कौन करता है। मेरा इगो ऐसा कर नहीं सकता क्योंकि वह तो स्वयं इलाज की तलाश में है। अत: अप्रिय प्रसंगों को छिपाने की तथा उन्ही प्रसंगों को उजागर करने की जो कि हमारे चेतन व्यक्तित्व के लिये अप्रियकर नहीं होते हैं, जो प्रक्रिया है--सेंशरशिप की जो प्रक्रिया है--वह सच पूछिये तो दुरास्था ही है। यह सेंशरशिप सचेतनपूर्वक होती है। मरीज द्वारा अपनी बातों को छिपाने का जो प्रयास होता है, प्रतिरोध होता है, वह उन अप्रिय प्रसंगों या तथ्यों की चेतनापूर्वक होता है जिसे मनोविश्लेषक सामने लाने का प्रयास करता है।[43] अत: आत्मप्रवंचना दुरास्था है।

इस तरह सार्त्र के अनुसार दुरास्था स्वयं अपने से किसी ऐसे तथ्य को छिपाना है जिसका मुझे बोध है पर जिसे स्वीकारना अथवा प्रस्तुत करना मेरे लिये अप्रियकर है। मनुष्य का समस्त व्यावहारिक जीवन इन दुरास्थाओं से भरा है। मनुष्य का सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सभी प्रकार का जीवन दुरास्था से ग्रसित है। सार्त्र ने अपने नाटकों, उपन्यासों में दुरास्थाग्रस्त चरित्रों का बखूबी चित्रण किया है। ये चरित्र न केवल अपने स्वरूपसिद्ध स्वातन्त्र्य को स्वीकार करने से इंकार करते हैं अपितु स्वयं अपनी वास्तविकता, अपने अतीत, अपने कृत्यों को स्वीकार करने से इंकार करते हैं। वे अपनी कायरता, कामवासना, नृशंसता, समलैंगिकता किसी को भी स्वीकार नहीं करते। **नो एक्जिट** का नायक गार्सिन अपनी कायरता नहीं स्वीकार करता है। **द फ्लाइज** के ओरेस्टेस का पश्चाताप उसकी दुरास्था का सूचक है। **द एज ऑफ रीजन** का मैथ्यू एवं बोरिस अपनी स्वतन्त्रता को नकारता है और यहीं डैनियल अपनी समलैंगिकता को नहीं स्वीकार करता। इस

तरह सार्त्र की साहित्यिक रचनाओं के पात्र विभिन्न दुरास्थाओं के शिकार हैं। वे अपनी मूल स्वतन्त्रता को स्वीकार करने से कतराते हैं। सार्त्र इन चरित्रों द्वारा मूल मानव स्वभाव की ओर इशारा करते हैं।

दुरास्था को स्पष्ट करने के लिये सार्त्र एक महिला का उदाहरण देते हैं जो अपने प्रेमी के साथ पहली बार घूमने निकलती है।[44] महिला अपने पारस्परिक आकर्षण को भली भाँति जानती है और यह भी जानती है कि शीघ्र ही उसे इस सम्बन्ध में कोई निर्णय लेना होगा। तथापि वह अपने प्रेमी की "बातों" का वास्तविक अभिप्राय समझती हुयी भी उसका सतही अर्थ लगाती है। वह "आप अत्यन्त आकर्षक लग रही हैं", "मुझे आप बहुत अच्छी लगती हैं" जैसे कथनों को इस रूप में लेती है कि यह सरलता और ईमानदारी से कहे गये वाक्य हैं ठीक वैसे जैसे कि "टेबल चौकोर है" या "दिवाल का रंग भूरा है"। वह इस बात को जानती है कि दूसरा उसकी क्यों प्रशंसा कर रहा है, पर वह इस बात की सत्यता (नग्नता) को स्वीकार करने से घबड़ाती है। परन्तु इस **स्थिति** की सुखद अनुभूति से भी वह वंचित नहीं होना चाहती क्योंकि उसके सौन्दर्य के प्रति मात्र सम्मान की भावना उसे रुचती नहीं। वह महिला यह नहीं जान पाती है कि वह क्या चाहती है और तभी उसका साथी उसका हाथ पकड़ लेता है, अब तो उसे निर्णय लेना होगा, "यदि वह अपना हाथ छोड़ देती है तो यह उसके प्रणय का स्वीकार होगा और यदि वह हाथ हटा लेती है तो उस क्षण की सुखद अनुभूति की समाप्ति।"[45] इस स्थिति में महिला को निर्णय लेना होगा, और निश्चय ही निर्णय लेना उसके लिये क्लेशकर होगा। फलतः वह अपना हाथ वहीं छोड़ देती है, वह उस पर अपना ध्यान ही नहीं देती। वह यह सोचती है मानो वह उस क्षण शुद्ध बुद्धि मात्र है, वह अपने साथी को भावात्मक चिन्तन के उदात्त क्षेत्र में खींच ले जाती है, उससे अमूर्त जीवन की चर्चा करती है। वह अपने को शुद्ध चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है, और इस दरम्यान उसके शरीर एवं आत्म का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो चुका होता है। उसका हाथ उसके साथी के गर्म हाथों के बीच पड़ा होता है--एक वस्तु की भाँति न स्वीकृति देता हुआ, न विरोध करता हुआ।

यह महिला दुरास्था की शिकार है। पहले तो वह अपने प्रेमी की गतिविधियों का सतही अर्थ लेती है। साथ ही अपने प्रति उसकी कामेच्छा का आनन्द भी लेती है, यह मानती हुयी कि यह कामेच्छा नहीं है। और फिर अपने शरीर, अपनी तथ्यता से अपने सम्बन्ध का विच्छेद करती हुयी अपने को शुद्ध चेतना रूप में लेती है, मानो उसका शरीर उससे भिन्न हो। उसका समस्त व्यवहार अपने और अपने प्रेमी के कामेच्छा को नकारने पर आधारित है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य एक

साथ अपनी तथ्यता भी है और स्व-अतिक्रमणीय सत्ता भी।[46] मनुष्य का शरीर-उसका अतीत-उसका वातावरण उसकी तथ्यता है। पर मनुष्य मात्र ये न होकर इनसे भी अधिक है। अब उस महिला को जब अपनी तथ्यता को स्वीकार करना कष्टप्रद लगता है तो वह अपने को मात्र स्वातिक्रमणीय सत्ता (ट्रान्सेन्डेन्स) के रूप में लेती है और जब अपनी अतिक्रम्यरूपता को स्वीकार करना होता है तो अपने को अपनी तथ्यता में समाहित कर लेती है।

एक अन्य दृष्टि से दुरास्था के दो प्रकारों का भेद किया जा सकता है।[47] प्रथम जिसमें कि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को स्वीकारने से बचने के लिये अपने को स्वनिमित्त सत् के स्थान पर स्वयं-में-सत् के रूप में लेता है और द्वितीय प्रकार के दुरास्था में व्यक्ति अपने को स्वनिमित्त सत् के स्थान पर अन्यनिमित्त सत् के रूप में ही लेता है, अर्थात् वह उन्हीं कार्यों को करता है, उसी भूमिका का पार्ट अदा करता है जो दूसरे उससे अपेक्षा रखते हैं, उसके लिये निर्धारित करते हैं। ऊपर के महिला वाले दृष्टान्त में हम पहले ढंग की दुरास्था देखते हैं जिसमें महिला अपने को वस्तु के समान स्वनिष्ठ सत् के रूप में प्रस्तुत करती है। जबकि दूसरे प्रकार की दुरास्था को सार्त्र उस वेटर के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं जो अपने को एक कुशल वेटर की भूमिका में गढ़ने के लिये व्यस्त है। यहाँ वेटर अपने को एक वस्तु के रूप में नहीं लेता अपितु वह अपने को उसी "लेबल" में रखने का प्रयत्न कर रहा है जो दूसरे उस पर लगा चुके हैं, वह अपने को अन्य-निमित्त सत् मात्र मान लेता है। पर यह दुरास्था मात्र है, क्योंकि विभिन्न क्रियाओं, अभियोजनाओं में रत होता हुआ भी व्यक्ति मात्र वही नहीं है। यह सही है कि हम पाते हैं कि समाज के विभिन्न सदस्य अपने-अपने तरीके से सामाजिक अपेक्षाओं को पूरा करने में लगे हैं, वे उन उन भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है। दर्जी, वेटर, दुकानदार, वकील सभी अपने-अपने कर्तव्यों को निभा रहे हैं, विशिष्ट कार्य में संलग्न हैं, पर इससे वे मात्र "वही" नहीं हो जाते हैं। व्यक्तियों को उन दायित्वों, भूमिकाओं में ही विघटित नहीं किया जा सकता जिस रूप में वे समाज में जाने जाते हैं। जब व्यक्ति उन अधिकारों एवं दायित्वों को जीता है तो उस जीने के साथ ही वह उसकी परिधि से बाहर आता हुआ भी दिखायी देता है। वह वेटर भी है और नहीं भी है। वस्तुतः जहाँ चेतना अपने को किसी विशिष्ट रूप में व्यक्त करती है, वहीं पर साथ ही वह अपने को उस रूप से अलग करती हुयी अनेक प्रकार से अपने उस होने का अतिक्रमण भी करती है। इसीलिये कहा जाता है कि वह है भी और नहीं भी है; और यह न होना ही उसके अतिक्रामी रूप की-उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की-विशेषता है।[48]

इसी कारण सार्त्र अपने प्रति ईमानदारी या निश्छलता (सिन्सियरिटी) को भी दुरास्था रूप ही बतलाते हैं। यद्यपि निश्छलता देखने में दुरास्था विरोधी प्रतीत होती है क्योंकि जहाँ व्यक्ति दुरास्था में स्वयं की वास्तविकता को नकारता है, वहाँ निश्छलता में वह अपने प्रति सच्चाई बरतना चाहता है। वह अपने को उसी रूप में प्रस्तुत करना चाहता है जिस रूप में वह है। पर अपने को ठीक उसी रूप में बनाये रखना जिस रूप में वह है, मानवीय विशिष्टता नहीं है। यह स्वयं-में-सत् की विशेषता होती है कि वह सर्वदा एकरूप तथा स्थायी होता है। निश्छलता का अर्थ है कि मनुष्य अपने लिये वही है जो वह है, पर यह विशेषता स्वयं-में-सत् की है। जो मैं हूँ, अपने को वही मान लेना, मानव की सहज स्वातिक्रमणीयता को नकारना होगा। मनुष्य विभिन्न रूपों में बँधता हुआ भी, व्यक्त होता हुआ भी अनेक ढंग से उनका अतिक्रमण करता रहता है।

हम मानव जीवन को इन दुरास्थाओं से भरा हुआ पाते हैं। मनुष्य का सारा धार्मिक जीवन दुरास्था पर आधारित होता है। अपने एकाकीपन से भयभीत तथा उत्तरदायित्व के भार को वहन करने में अक्षम मनुष्य ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर की स्वीकृति मानव-अस्तित्व की वास्तविकता से पलायन करने की एक विधि है। मनुष्य अपने को ईश्वरकृत मान उसके हस्तक्षेप को स्वीकार कर अपने कार्यों के लिये-निर्णयों के लिए-एक बहाना तलाश करता है ताकि वह उत्तरदायित्व से बच सके। सार्त्र के नाटक द फ्लाइज में नायक ओरेस्टेस ईश्वर की किसी ऐसी धारणा का विरोध करके मूलभूत मानव-स्वातन्त्र्य की धोषणा करता है।[49] यह ठीक है कि ईश्वर विहीन जगत् बेतुका, निरर्थक एवं ऊबाउ होगा तथा स्वयं का सामना करता हुआ मनुष्य निरन्तर चिन्ता, त्रास, अकेलेपन का शिकार होगा, पर जैसा कि ओरेस्टेस ज्यूस से कहता है ''ईश्वर पर्वतों, नदियों, पत्थरों का स्वामी हो सकता है, किन्तु मनुष्य का नहीं''।[50] मनुष्य स्वतन्त्र है। मनुष्य स्वतन्त्रता है।

धार्मिक जीवन के समान ही सारा का सारा मानव-सम्बन्ध दुरास्था से नियमित होता है। प्रेम, घृणा, आत्म-पीड़न, पर-पीड़न, औदासीन्य आदि सभी व्यवहारों में व्यक्ति या तो दूसरे को साधन बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करता है अथवा स्वयं को दूसरे के लिये विषय के रूप में प्रस्तुत करता है। किसी अमूर्त पूर्णता के नाम पर वह अपने जीवन का एक कल्पित मकसद ढूढ़ता है। वह किसी विशेष कार्य के लिये, प्रयोजन के लिये अपने को अनिवार्य सिद्ध करना चाहता है, पर वस्तुतः वह आकस्मिक है। उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, वह दुरास्था ग्रस्त है।

दुरास्था से मुक्ति और प्रामाणिक अस्तित्व की संभावना

वस्तुत: देखा जाए तो दुरास्था या निश्छलता दोनों के ही स्पष्टीकरण द्वारा सार्त्र मूल मानव-स्वातन्त्र्य को स्पष्ट करते हैं। जहाँ दुरास्था मनुष्य की अपने प्रति प्रवंचना है, स्वयं से छल है, सत्य की अस्वीकृति है, वहाँ निश्छलता में अपने प्रति सच्चाई बरतने की कोशिश की जाती है। निश्छलता मनुष्य की **वह जो है उस रूप** में स्वीकृति है। लेकिन मनुष्य जो है वह न होकर वह है जो वह नहीं है। मानवीय चेतना निरन्तर स्वयं अपना निषेध होने के कारण, स्वातिक्रमणीय होने के कारण किसी निश्चित रूप वाला नहीं है। अत: निश्छलता भी दुरास्था के समान ही अपनी वास्तविकता का नकार है। यह भी एक दुरास्था है। यदि निश्छलता भी दुरास्था न हो तो मनुष्य जो है वही रह जायेगा और दुरास्था भी संभव नहीं होगी।[51] मानव स्वभाव का लक्षण ही ऐसा है, मानवीय स्वतन्त्रता का स्वरूप ही ऐसा है कि वह वह है जो वह नहीं है। मानव चेतना के निषेधीकरण की प्रक्रिया के कारण–जो नहीं है उसको रचने की तथा निषेध को पैदा करने की क्षमता के कारण ही दुरास्था संभव होती है।[52] चूँकि मानवीय सत्ता एक रूप नहीं है अत: अपने को एक रूप मानने या अपने किसी रूप विशेष के प्रति सच्चाई बरतने का सवाल ही नहीं पैदा होता। मनुष्य वह है जो वह नहीं है तथा वह नहीं है जो वह है–इस रूप की स्वीकृति दुरास्था के खतरे को गर्भित किये रहती है।

समस्त अस्तित्ववादी दर्शन व्यक्ति को उसकी अप्रामाणिक स्थिति से प्रामाणिक स्थिति में ले जाने का प्रयास है। सार्त्र ने यद्यपि हाइडेगर के इस शब्द "प्रामाणिकता" का अपनी रचनाओं में बहुत कम प्रयोग किया है, पर उनकी समस्त रचनाओं का मूल प्रयोजन व्यक्ति को ''अपनी इस अप्रामाणिक स्थिति से ऊपर उठने'' के संदेश में निहित है। बीइंग एण्ड नथिंगनेस के "दुरास्था" वाले अध्याय के अन्त में पाद टिप्पणी में सार्त्र दुरास्था से मुक्ति की संभावना को नकारते नहीं और प्रामाणिकता का उल्लेख करते हैं।[52] सार्त्र के दर्शन की यह समस्या है कि वे मानवीय स्वतन्त्रता और चेतना की जिस रूप में व्याख्या करते हैं, उसमें किसी प्रामाणिक अस्तित्व और सामान्य आचारशास्त्र की चर्चा नहीं की जा सकती। क्योंकि ऐसा करना मनुष्य के लिये मार्ग निर्धारण करना होगा जो कि मूलभत स्वतन्त्रता के खिलाफ बात होगी। अत: प्रामाणिक अस्तित्व से सार्त्र का क्या तात्पर्य है, इसे हम उनकी दार्शनिक रचना में स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं पा सकते हैं। हाँ, अप्रामाणिक एवं दुरास्था युक्त जीवन की चर्चा द्वारा निषेधात्मक रूप से तथा अपने साहित्यिक ग्रन्थों, उपन्यासों, नाटकों आदि द्वारा सार्त्र वह चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं, जिसे स्पष्ट रूप से वर्णित करना उनके लिये अस्तित्ववादी प्रस्थान

के विपरीत होगा। सार्त्र की रचनाओं में यदि हम एण्टी कैरेक्टर्स पाते हैं, उन्हें मनोविकृतियों का चित्रण करते पाते हैं, मानवीय विद्रूपता-उसकी निराशा-उसका एकाकीपन–उसकी दुश्चिन्ता आदि का वर्णन करते हुये सार्त्र को पाते हैं तो यह सब इसीलिये कि सार्त्र इनके माध्यम से मनुष्य की अप्रामाणिक स्थिति का चित्रण कर रहे होते हैं। यह अप्रामाणिकता हमारी परवशता नहीं है, अपितु हम स्वयं अपने अप्रामाणिक अस्तित्व के लिये उत्तरदायी हैं। सार्त्र के अनुसार कोई भी मानवीय ज्ञान या व्यवहार ऐसा नहीं है जिसकी कि मनुष्य को चेतना नहीं है।[54] जैसा कि हम "दुरास्था" के विश्लेषण में देख चुके हैं कि मनुष्य स्वयं अपनी दुरास्था का शिकार है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपनी नियति का निर्माता है, इस जगत् का निर्माता है। अपनी इस अथाह स्वतन्त्रता और उससे उत्पन्न होने वाले उत्तरदायित्व के क्लेश से बचने के लिये मनुष्य "सत्य" को स्वीकार करने से अस्वीकार कर देता है। हम स्वयं अपनी वास्तविकता और जगत् की वास्तविकता को स्वीकार करने से डरते हैं और इसीलिये विभिन्न दुरास्थाओं का आश्रय लेते हैं। सार्त्र यद्यपि कहीं भी स्पष्ट शब्दों में दुरास्थाओं के लिये मनुष्य की निन्दा नहीं करते,[55] पर जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है वह इसे परित्याज्य समझते हैं तथा इसे मनुष्य की आत्म-प्रवंचना के रूप में लेते हैं। दुरास्था मनुष्य की अप्रामाणिक अवस्थिति है। यह सत्य से पलायन है। स्पष्ट है कि हम सत्य के स्वीकार द्वारा–स्वयं अपने प्रति तथा जगत् के प्रति सही दृष्टिकोण रखते हुये–दुरास्था से मुक्ति पा सकते हैं, अपनी स्वतन्त्रता के वरण द्वारा अप्रामाणिकता से छुटकारा पा सकते हैं। हमें अपनी वास्तविकता को स्वीकार करने से घबड़ाना नहीं चाहिये और न अपने किसी रूप से ईमानदार होने के मोह में चिपक जाना चाहिये। सार्त्र के स्वतन्त्रता केन्द्रित दर्शन में प्रामाणिक अस्तित्व का जो रूप ऊभर कर आता है उसमें मनुष्य स्वयं को स्वतन्त्र और नियति का नियन्ता पाता है। यह स्वस्वरूप का बोध और तदनुसार आचरण की स्थिति है। कि मनुष्य निरन्तर अपनी नियति और सार को निर्मित कर रहा है तथा वह इस निमित्त एकाकी एवं स्वतंत्र है, यह बोध प्रामाणिक अस्तित्व है। उसकी यह स्वीकृति कि वह केवल मनुष्य है, मानवीय संभावनाओं की स्वीकृति है। उसका जीवन विशुद्ध रूप से उसका अपना है, बिना किसी पूर्व विश्वासों के-पूर्व स्वीकृतियों के-चाहे वे धर्म से सम्बद्ध हों, दर्शन से या समाज से। स्वस्वरूप का अवबोध, अपनी स्वतन्त्रता का बोध और तदनुसार आचरण सार्त्र के मत में प्रामाणिक अस्तित्व हो सकता है। यद्यपि यह सही है कि अपने स्वरूप का ज्ञान, अपनी स्वतन्त्रता का बोध दुश्चिन्ताप्रद होता है। पर यह दुश्चिन्ता अपनी क्लेशप्रदता के बावजूद वरेण्य है क्योंकि यह आत्मप्रवंचना पर आधारित न हो सत्य पर आधारित है। यह आत्म साक्षात्कार की स्थिति है।

इस प्रकार स्वयं अपनी तथा जगत् की अथवा कहें कि अस्तित्व मात्र की अयुक्तता, आकस्मिकता तथा व्यर्थता का बोध तथा अपनी निरपेक्ष स्वतंत्रता का परिज्ञान एवं तदनुकूल आचरण "आप्त व्यक्ति" का लक्षण हो सकता है। अपनी स्वतन्त्रता का विमर्श या बोध दुश्चिन्ता है। हमें दुश्चिन्ता के क्षणों में ही अपनी स्वतन्त्रता का बोध होता है। अत: प्रामाणिक जीवन "दुश्चिन्ता" के क्षण को जीने में है—उससे भागने के प्रयास में नहीं। मूलभूत मानवीय स्थिति स्वतन्त्रता की स्थिति है और इस स्वतन्त्रता का बोध दुश्चिन्तापरक है। इसीलिये सार्त्रीय स्वतन्त्रता दुश्चिन्ता या दु:खरूप है।[56]

सार्त्र के अनुसार मानवीय चेतना से पृथक् वस्तुओं का अपना अस्तित्व है। ये वस्तुयें या कहिये जगत् मानवीय चेतना के लिये चुनौती स्वरूप है क्योंकि चाहकर भी वह इसे आत्मसात करने में असमर्थ है। "नॉशिया" में सार्त्र ने वस्तुओं के इस वस्तुत्त्व का, उनके अस्तित्व का बखूबी चित्रण किया है। इसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता है। वे हमारी अपेक्षाओं से तटस्थ अस्तित्वान हैं। शब्दों से हम वस्तु की निजता को नहीं बाँध सकते हैं। वस्तु की यह निजता ठोस न होकर तरल है और चारो ओर से प्रसारित होती हुयी दिखायी देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे हमारे चारो ओर तैर रही हैं। जो बात वस्तुओं के बारे में सही हैं, वही अपने आपके बारे में तथा सम्पूर्ण विश्व के बारे में है। जो भी अस्तित्ववान है उसे नामरूप में नहीं बाँधा जा सकता, उसे हम अपनी बौद्धिक तर्कयोजना में फिट नहीं कर सकते। यह अस्तित्व हमें चारों और से घेरे है, हमारी पकड़ से बाहर है।

यह अस्तित्वबोध हमें संसार की तरलता का एहसास तो कराता ही है, यह हमें उसके बेमानीपन का, उसके बेतुकेपन का, निरर्थकता का भी अहसास कराता है। हम ज्यों ज्यों उन्हें समझना चाहते हैं, उनके होने का कोई तुक नहीं दिखायी देता। जागतिक वस्तुयें (जागतिक अस्तित्व) परस्पर असम्बद्ध, असंगत हैं, इनमें आपस में कोई सम्बद्धता नहीं है। हम ज्यों ज्यों इन्हें पकड़ने की कोशिश करते हैं-बौद्धिक योजना में फिट करना चाहते हैं, वे फिसलती सी, भागती सी नजर आती हैं। जो बात इन वस्तुओं के बारे में है वही स्वयं के अस्तित्व के बारे में है। स्वयं मनुष्य का क्या प्रयोजन है? स्वयं उसका क्या तुक है? जगत् और मनुष्य के इस बेतुकेपन के अतिरिक्त हम उसकी अतर्कपरता, अव्याख्येयता भी पाते हैं। वस्तुत: अस्तित्वमात्र सांयोगिक है, आपातिक है।

जगत् एवं स्वयं की इस आपातिकता, अयुक्तता की कष्टप्रद तथा परेशान कर देने वाली अनुभूतियों से बचने के लिये हमने अनजाने में संस्थाओं का निर्माण

कर डाला है, ईश्वर, समाज एवं परिवार बना डाला है, अपने अधिकारों एवं दायित्वों की सूची बना डाली है, अपने विभिन्न मकसद निर्धारित कर लिये हैं। और यह सब इसलिये ताकि जीवन को एक कृत्रिम सार्थकता प्रदान कर सकें, ताकि इनसे प्राप्त सुरक्षा हमें इन कष्टप्रद अनुभूतियों से बचा सके। इस तरह मनुष्य का सारा का सारा सामाजिक जीवन या सामूहिक और संस्थागत जीवन, जीवन जिसमें वह किन्हीं अधिकारों के लिये जीता है, जीवन जिसमें वह किन्हीं दायित्त्वों का निर्वाह करने के लिये स्वयं को समर्पित कर देता है–उसके "दुरास्था" को ही व्यक्त करता है। इस तरह सार्त्र अपनी रचनाओं मे मनुष्य के संस्थागत जीवन के खोखलेपन को, उसके सामूहिक जीवन के बेमानीपन को विभिन्न बिम्बों के सृजन द्वारा अनावृत्त करते हैं ताकि मनुष्य अपने इस अप्रामाणिक अस्तित्व से ऊपर उठ प्रामाणिक जीवन व्यतीत कर सके। वस्तुतः सार्त्र की सारी रचनाओं में जो स्वर उभर कर आता है वह यह कि हमें जीवन की निरपेक्ष अयुक्तता, सांयोगिकता को स्वीकार करते हुये इस त्रासदपूर्ण अनुभूति के साथ जीना है। उसमें किसी प्रकार की सार्थकता ढूढ़ने का प्रयास उतना ही बेमानी है जितना कि हमारा होना बेमानी है। अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में सार्थकता के प्रश्न को उठाकर मैथ्यू कहता है "नहीं, किसी में कुछ भी सार्थकता नहीं है–न मृत्यु में और न जीवन ही में"। वस्तुतः जीवन की यथार्थता को नकारने में ही–उसके ऊपर उठने में ही–पूर्णतः विशुद्ध मननात्मक क्रिया में ही, जीवन की सार्थकता सार्त्र को दिखायी देती है। हम दृष्टि में ही रूपान्तरित हो जायें-रोक्वेन्टिन की तरह–यही हमारे जीवन की नियति है। अयुक्त का सचेतन एहसास ही व्यक्ति की नियति है।[57]

मृत्यु

हाइडेगर के अनुसार हमारा अस्तित्व मृत्यून्मुख सत् है। मृत्यु मनुष्य की परम संभावना है। मृत्यु की ओर प्रक्षिप्त होने का तथ्य "चिन्ता" से प्रकट होता है। मनुष्य अपने-अपने मृत्यु की चिन्ता का सामना करने-उसकी प्रतीक्षा करने के बजाए, इस "चिन्ता" से भागने के लिये भीड़ की गुमनामी में भाग जाता है और सोचता है कि "लोगों को किसी दिन मरना है"। हाइडेगर कहता है कि इस प्रकार की बात कर मनुष्य सोचता है कि किसी तृतीय पुरुष को मरना है, वह स्वयं अपने सम्बन्ध में "मृत्यु" को नकारता है। टालस्टाय की प्रसिद्ध कहानी "इवान इलिच की मृत्यु" में इस बात को भलीभाँति दिखाया गया है कि मृत्यु की सर्वसामान्य समस्या को व्यक्तिगत समस्या "कि मुझे मरना है" इस रूप में लेना कितना कठिन होता है। भीड़ की गुमनामी में भागने, अपने को सार्वजनिक जगत् "वे" के अंग के रूप में लेने को हाइडेगर अप्रामाणिक अस्तित्व बताते हैं। इस सार्वजनिक जगत्

से, "वे" से, भीड़ की गुमनामी से अलग होकर मृत्यु को नितान्त अपनी चरम संभावना के रूप में स्वीकार करना-उसकी प्रतीक्षा करना, अप्रामाणिक अस्तित्व का लक्षण है। मृत्यु की चिन्ता को स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करते हुये यह मानना कि मेरी मृत्यु मेरी मृत्यु है और यह किसी "क्षण" आ सकती है तथा मेरे स्थान पर कोई अन्य नहीं मर सकता-अपनी मृत्यु के सम्मुख मैं अकेला हूँ, यही हाइडेगर के अनुसार मृत्यु की स्वतन्त्रता है।

इस प्रकार हाइडेगर के अनुसार मृत्यु मानवीय जीवन की चरम परिणति है। उसकी समस्त जीवन यात्रा मृत्यु के पथ पर यात्रा है। दार्शनिकों ने हाइडेगर के इस विचार का प्रबलतापूर्वक खण्डन किया है। अल्फ्रेड स्टर्न ने हाइडेगर के ऊपर आरोप लगाया है कि वे हमारे समस्त जीवन को मृत्यु के अधीन कर देते हैं। वे कहते हैं "इस प्रकार का दर्शन साधुओं के लिये उपयुक्त हो सकता है जो कि प्रत्येक रात अपने कफन में सो सकते हैं और जिन्हें इस जीवन में कुछ नहीं करना है सिवाय मरने की तैयारी करने के। जहाँ तक इहलौकिक जीवन का प्रश्न है, हाइडेगर का दर्शन सर्जनात्मक अस्तित्व का अन्त होगा।"[58]

सार्त्र के समस्त मृत्यु सम्बन्धी विचार का विकास वस्तुतः हाइडेगर के इस मृत्यु-दर्शन के विरोध में हुआ है। सार्त्र के मत में मृत्यु मनुष्य की चरम संभावना नहीं है और न उसका सत् मृत्यून्मुख सत् है। सही तो यह है कि स्वनिमित्त सत् कभी अपने "मृत्यु" का सामना ही नहीं करता क्योंकि जब तक जीवन है तब तक मृत्यु नहीं। हम देख चुके हैं कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य वह नहीं है जो वह है, वह हमेशा स्वनिर्माण की प्रक्रिया में है। मनुष्य होने का अर्थ भविष्य के प्रति योजना के लिये स्वतन्त्र होने में है, अपनी संभावनाओं के प्रति स्वतन्त्र होने में है। लेकिन मृत्यु हमारे सामने ऐसे आती है मानो एक दीवार हमारे सामने खड़ी कर दी गयी हो जिसके परे हम नहीं जा सकते, योजना नहीं बना सकते। इस तरह मृत्यु हमारी संभावनाओं का निषेध है, यह हमारी सारी परियोजनाओं को समाप्त कर देती है। इस अर्थ में मृत्यु मनुष्य की सीमा है। स्वनिमित्त सत् के रूप में मैं अपना वर्तमान हूँ-भविष्य के प्रति अपनी कार्ययोजना हूँ, जबकि मेरा अतीत स्वयं-मे-स्थित जगत् का अंग हो गया है। अब मृत्यु के समय मैं पूर्णरूप से अपना अतीत हो जाऊँगा और यह अतीत चूँकि स्वयं-में-स्थित सत् है, इसलिये हम कह सकते हैं कि मृत्यु स्वनिमित्त सत् को स्वनिष्ठ सत् "वस्तु" के रूप में बदल देता है। इसीलिये सार्त्र के दर्शन के उस विरोधाभास की चर्चा की जाती है जिसमें जीवित मनुष्य के बारे में कहा जाता है कि वह नहीं है जबकि मृत व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि वह है।[59] पुनः मृत्यु दूसरों की ''दृष्टि'' को पूर्ण विजय

प्रदान करती है। जीवित मनुष्य निस्सन्देह अन्यनिमित्त सत् भी है, लेकिन वह अन्य की "दृष्टि" का अतिक्रमण करने में हमेशा सक्षम होता है। लेकिन मृत्यु के बाद मैं केवल 'अन्य के लिये सत्' रह जाता हूँ, मैं अब उस सार को नहीं बदल सकता हूँ जो मृत्यु के समय मूर्त हो उठती है। मृत्यु के बाद मै दूसरों की निगाह में "वस्तु" मात्र रह जाऊँगा। सार्त्र के अनुसार "मरने का अर्थ जीवित मनुष्यों का शिकार बनने से है। मृत्यु हमेशा के लिये मानो उस रूप में जड़ कर देती है जिस रूप में हम उस समय तक होते हैं।"[60]

सार्त्र के अनुसार मृत्यु एक आकस्मिक तथ्य है। मेरे जन्म की तरह मेरी मृत्यु भी एक तथ्य है जो बाहर से मेरे निकट आता है और जिस पर मेरा कोई वश नहीं। यह हमारी **तथ्यता** का एक पहलू है। मृत्यु एक मानवीय तथ्य है। मृत्यु मानव जीवन से परे नहीं, वह मानव जीवन की संभावना नहीं, अपितु जीवन की सीमा है। चूँकि मनुष्य का सम्बन्ध मानवीय तथ्यों से ही होता है, अतः मृत्यु मानवीय तथ्य है। मृत्यु सामान्य जीवन से सम्बन्ध रखता है, इतनी ही बात नहीं है। मृत्यु वैयक्तिक है।

इस तरह सार्त्र के अनुसार मृत्यु मानव-जीवन की नियति नहीं, उसका लक्ष्य नहीं। मृत्यु का वस्तुतः स्वनिमित्त सत् की तत्त्वशास्त्रीय संरचना में कोई स्थान नहीं है। मृत्यु मेरी अनेक संभावनाओं में एक संभावना नहीं है। तो फिर मृत्यु क्या है? सार्त्र के अनुसार यह सभी मानव-संभावनाओं का निरर्थक विनाश है, मानव अहं की अर्थहीन अन्त्येष्ठि है। मृत्यु मानव जीवन को कोई अर्थ प्रदान करने के बजाय सम्पूर्ण जीवन की ही निरर्थकता को भली भाँति प्रकट कर देती है।[61] "यह अर्थहीन है कि हम पैदा हुये थे, यह भी अर्थहीन है कि हम मरते है।"[62]

जास्पर्स के अनुसार मृत्यु जीवन की नश्वरता को प्रकट करके ईश्वर की नित्यता में आस्था उत्पन्न करती है। भारतीय दार्शनिक भी अपने जीवन को "मृत्यु" से परिसीमित पाकर शाश्वत जीवन की, जहाँ मृत्यु का कोई भय नहीं होगा, तलाश करते हैं।[63] हाइडेगर के अनुसार भी मृत्यु मनुष्य को जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। सार्त्र मृत्यु को एक निरर्थक घटना के रूप में लेकर इस बात से इंकार करते हैं कि मृत्यु जीवन को कोई अर्थ प्रदान करती है या पूर्णता प्रदान करती है। बल्कि मृत्यु तो मानव जीवन की व्यर्थता को ही सिद्ध करती है।

मनुष्य की मूलभूत योजना और मानव-यथार्थता का दुःखात्मक स्वरूप

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मानव अस्तित्व की चरम नियति मृत्यु नहीं है। मनुष्य की मूलभूत मानवीय योजना मृत्यु का द्वार खटखटाना नहीं है-उसकी

प्रतीक्षा करना नहीं है। तब क्या कोई मूलभूत मानव योजना नहीं है? अथवा क्या विभिन्न मानव-क्रियाकलापों के पीछे उसकी कोई मूल कामना नहीं? सार्त्र ने फ्रायडीय मनोविश्लेषण के समानान्तर एक अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण विकसित की थी।[64] अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों के पीछे, उसके समस्त मूर्त चुनावों एवं निर्णयों के पीछे एक मूलभूत कार्ययोजना, एक मूलभूत चयन देखती है जो कि स्वनिमित्त सत् की सत्तामीमांसीय स्वरूपान्वेषण में उद्घाटित होती है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि मानव चेतना एक रिक्तता है, एक निषेध है, एक अभाव है। जबकि जागतिक वस्तु-स्वनिष्ठ सत् स्वयं से एकाकार सत्ता है, ठोस है, पूर्ण है, अपारदर्शी है। स्वनिष्ठ सत् जो है उस रूप में है जबकि स्वनिमित्त सत् वह है जो वह नहीं है और इसी कारण जहाँ स्वनिष्ठ सत् पूर्ण है वहीं स्वनिमित्त सत् या मनुष्य अपूर्ण है। मानवीय अपूर्णता या अभाव उसकी इच्छाओं से भलीभाँति प्रकट होती है क्योंकि "इच्छा" उस "चीज" की इच्छा है जिसकी कमी है, जिसका अभाव है। प्रश्न है, मनुष्य में किस चीज की कमी है? पूर्ण चन्द्र की दृष्टि से अर्ध चन्द्र में कमी है। पूर्ण चन्द्र की दृष्टि से द्वितीया का चन्द्रमा अधूरा है, अभावग्रस्त है। मनुष्य में किसका अभाव है? किस दृष्टि से अभाव है?

हम देख चुके हैं कि मानवीय चेतना निरन्तर स्वयं अपना ही अतिक्रमण है। मानवीय चेतना कभी भी स्वयं से एकरूप नहीं हो सकती है, वह निरन्तर अपना ही निषेध है, स्वयं के सम्मुख एक प्रश्न है। दूसरी ओर स्वयं-में-सत् स्वयं से एकाकार है, एकरूप पूर्ण सत्ता है। स्वनिमित्त सत् जो कि शून्य है, रिक्त है, स्वयं-में-सत् की पूर्णता प्राप्त करना चाहता है—वह उसी के समान स्वयं से एकरूप होना चाहता है।[65] पर इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वनिमित्त सत् या मनुष्य मात्र स्वयं-में-सत् रूप होना चाहता है, उसकी तरह वस्तुरूप या ठोसरूप होना चाहता है।[66] बल्कि मनुष्य की मूल कामना स्वयं-में-सत् की पूर्णता या अपने से एक रूपता होने की तो है ही साथ ही अपने चेतन स्वरूप को भी बनाये रखने की है। दूसरे शब्दों में मनुष्य एक साथ स्वनिष्ठ और स्वनिमित्त सत् होना चाहता है। इस तरह मनुष्य की मौलिक योजना, उसकी मूलभूत कामना स्वनिमित्त एवं स्वनिष्ठ सत् होने की है—स्वयंप्रकाश विश्वरूप होने की है जो कि स्वयं अपनी सत्ता का आधार और कारण है। चेतना स्वाधार एवं स्वयंभू होना चाहती है। पर इस तरह का स्वाधार एवं स्वयंभू सत् तो ईश्वर है। **स्वनिष्ठ एवं स्वनिमित्त सत्** सार्त्र के मत में ईश्वर है। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य ईश्वर होना चाहता है। स्वयं सार्त्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं "मनुष्य होने का अर्थ ईश्वर होने की अभियोजना है, अथवा हम कह सकते हैं कि मनुष्य मूल रूप से ईश्वर होने की इच्छा है।"[67]

पर स्वनिमित्त सत् या मानवीय चेतना बिना अपना स्वरूप त्यागे स्वनिष्ठ सत् नहीं हो सकती।[68] मानवीय चेतना या अस्तित्व स्वयं अपना ही अतिक्रमण है, रिक्तता है। अतः वह अपना स्वरूप त्यागे बिना पूर्ण या अपारदर्शी, स्वयं से एक रूप नहीं हो सकती। अतः स्वनिमित्त–स्वनिष्ठ सत् की अवधारणा व्याघातग्रस्त है। पूर्ण सन्तुष्ट चेतना असंभव है क्योंकि चेतना का लक्षण ही है उसकी अपूर्णता और अतिक्रान्तता। परिणाम स्वरूप मनुष्य की यह कामना–ईश्वर होने की कामना, व्यर्थ की कामना के रूप में सामने आती है। मानवीय मूल योजना असफलता को प्राप्त करने के लिये अभिशप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि स्वनिमित्त सत् कभी भी स्वनिष्ठ सत् नहीं हो सकता क्योंकि स्वनिष्ठ एवं स्वनिमित्त सत् होना एक साथ सम्भव नहीं–इस तरह मानवीय चेतना **ईश्वर होने की**[69] अतृप्त इच्छा के रूप में सामने आती है। और चूँकि मनुष्य का सत्तामीमांसीय स्वरूप ही ऐसा है कि वह ईश्वर (बीइंग इन इटसेल्फ–फॉर इटसेल्फ) के आदर्श को नहीं छोड़ सकता, अतः "मनुष्य व्यर्थ की वासना है।"

जब सार्त्र यह कहते हैं कि मानवीय चेतना के समस्त व्यापार के नेपथ्य में "ईश्वर बनने का आदर्श" मौजूद रहता है, अथवा यह कि मनुष्य का मूल प्रयोजन, उसकी मौलिक अभियोजना, समस्त कार्यव्यापारों एवं अभियोजनाओं का मौलिक अर्थ "ईश्वर बनने की उसकी इच्छा है" तो वह एक धार्मिक व्यक्ति के समान बात करते मालूम पड़ते हैं।[70] स्वयं अद्वैत में मनुष्य होने का अर्थ ईश्वर (ब्रह्म) होना है और अरविन्दो तो ईश्वर को मनुष्य की नित्य एवं अनिवार्य संभावना बताते हैं तथा मानवीय अभीप्सा की तदरूप व्याख्या करते हैं।[71] परन्तु सार्त्र के अनुसार चूँकि ईश्वर का प्रत्यय ही विरोध ग्रस्त है, अतः ईश्वर होने की मनुष्य की मौलिक अभियोजना अपने गर्भ में ही असफलता को वेष्ठित किये रहती है। मनुष्य एक असंगत और आत्मव्याघाती आदर्श को साकार करने की वृथा वासना के रूप में सामने आता है–"----- मनुष्य की वासना ईसा मसीह की वासना के विपरीत है, इस विश्वास से कि ईश्वर का जन्म होगा मनुष्य स्वयं के मनुष्य रूप को खो देता है; पर चूँकि ईश्वर की अवधारणा आत्म विरोधी है, अतः हम व्यर्थ ही अपने को खोते हैं। मनुष्य व्यर्थ की वासना है।"[72] मानवीय चेतना के व्यापारों के पीछे जो मूल दैवी लालसा छिपी है–उसके असफल हो जाने से मनुष्य के लिये आनन्द जैसी चीज का अवकाश ही नहीं रहता।[73] फलस्वरूप एक विवेकी मनुष्य के लिये उसकी समस्त गतिविधियाँ बेतुकी सिद्ध होती हैं।[74] यह विडम्बना है कि सार्त्र जो कि ईश्वर को नहीं मानते, इस ईश्वर विहीन जगत् में मनुष्य की परिभाषा ही उसके ईश्वर होने की कामना के रूप में देते हैं तथा समस्त मानवीय व्यापारों के पीछे उसी मूलकामना को अपने ढंग से साकार करने का उसका प्रयास पाते हैं।

प्रश्न है कि यदि मनुष्य की मूल योजना ईश्वर होने की है-यदि उसका मौलिक चयन ईश्वर होने का है, तब क्या यह उसके चयन की स्वतन्त्रता का निषेध नहीं होगा?[75] सार्त्र इस संभावना को नकारते हैं और कहते हैं कि मनुष्य की मूलभूत योजना ईश्वर होने की होने के बावजूद उसकी आनुभविक इच्छायें-कार्यव्यापार-गतिविधियाँ उसका स्वतन्त्र चयन है। वस्तुतः मनुष्य अनेकों प्रकार से अपनी इस मौलिक योजना को साकार करने की चेष्टा करता है। हर मनुष्य इस दृष्टि से स्वतन्त्र है कि वह कैसे उस मौलिक अभियोजना-ईश्वर होने की-स्वनिमित्त एवं स्वनिष्ठ सत् होने की कामना को साकार करता है। उसकी यही स्वतन्त्रता उसका व्यक्तित्व निर्माण करती है। अस्तित्ववादी मनोविश्लेषक व्यक्ति की सारी मूर्त इच्छाओं को-भोजन, शयन, सृजन, दान, अध्ययन आदि सारे व्यापारों को-उसी मूलभूत चयन को साकार करने के विभिन्न प्रयासों की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। सार्त्र कहते हैं "इस तरह मेरी स्वतन्त्रता ईश्वर होने का एक चयन है और मेरे समस्त व्यापार तथा मेरी योजनायें इसी चयन को अनूदित करती हैं, तथा हजार और एक ढंग से इसी को प्रकट करती हैं।"[76] समस्त मानवीय मूर्त इच्छाओं को विशेष ढंग से **होने** की मूल इच्छा के रूप में देखा जा सकता है। अनेकों ढंग से **होने** की ये इच्छायें ही विभिन्न मूर्त इच्छाओं का रूप लेती हैं, उनके रूप में प्रकट होती हैं। सारी की सारी मानवीय गतिविधियों को-चेतना के व्यापार को-अस्तित्व के दो रूपों में विघटित किया जा सकता है–**अधिगत करने** की और **होने** की। ज्ञान, प्रेम, कला, खेल, उदारता आदि सभी मानव व्यापार वस्तुतः अधिगत करने के विभिन्न प्रकार हैं और इन सभी में मनुष्य कुछ चीज प्राप्त करता है, लेकिन इन चीजों को प्राप्त करने के पीछे जो उसकी मूल मंशा होती है वह इन वस्तुओं की सत्ता को पाने की।[77] वस्तुतः विभिन्न वस्तुओं को मनुष्य अपने पास जुटाकर, उन्हें अधिगत कर वस्तुओं के माध्यम से उनकी सत्ता को–स्वनिष्ठ सत् को पाने की कोशिश करता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य वस्तुओं को क्यों पाना चाहता है, इसका उत्तर यही है कि वह वस्तुओं को पाकर उनसे एकरूप होना चाहता है। अतः किसी चीज को पाने की इच्छा उससे एकरूप होने की इच्छा है। तभी तो मनुष्य और वस्तु का सम्बन्ध "**मेरा**" इस रूप में मिलता है–वस्तुयें भी मनुष्य का ही रूप हो जाती हैं। मनुष्य एक समग्रता पाने की कोशिश करता है, वह वस्तुजगत् को और चेतनाजगत् को एक समग्र "मेरा" में लाने की कोशिश करता है। कहना नहीं होगा कि ईश्वर अपनी सत्ता में वस्तुजगत् को समाहित किये रहता है, अतः हम ईश्वर होना चाहते हैं। इस तरह समस्त मानवीय इच्छायें एक विशेष प्रकार से होने की इच्छा है, यह इच्छा स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् होने की है। सार्त्र कहते हैं "जगत् में होने का अर्थ जगत् को अधिगत करने की योजना

से है, जिसका अर्थ समस्त जगत् को उस रूप में पकड़ने से है जिस रूप में स्वनिमित्त सत् में उसकी कमी है ताकि वह स्वनिमित्त-स्वनिष्ठ सत् हो सके—इसका अर्थ एक ऐसी समग्रता में अभिनिविष्ट होना है जो कि परम आदर्श है, मूल्य है।"[78] यदि हम किसी चीज को पाने की इच्छा करते हैं तो हम वस्तुत: स्वनिष्ठ सत् को पाने की इच्छा करते हैं। विभिन्न वस्तुओं को अधिगत कर, उन्हें अपना बनाकर हम स्वयं अपना आधार होना चाहते हैं। हम जगत् को अधिगत करना चाहते हैं ताकि स्वयम्भू और स्वाधार सत् (ईश्वर) हो सकें। पर हमारी यह मूल इच्छा या अभियोजना असफल होनी होती है क्योंकि स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् या ईश्वर का आदर्श ही व्याघातपूर्ण है।

मनुष्य की मूलभूत योजना के असफल होने से मनुष्य सार्त्र के दर्शन में वृथा वासना के रूप में सामने आता है।[79] मानव वास्तविकता की अनिवार्य नियति उसकी अपूर्णता और रिक्तता है। सार्त्र के अनुसार मानव यथार्थता की नियति ही अपनी अपूर्णता में जीना है, वह कभी भी अस्तित्व की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकती, क्योंकि मानव-अस्तित्व का लक्षण ही है उसकी अपूर्णता, रिक्तता, शून्यता। स्वनिमित्त सत् या मानवीय यथार्थता स्वनिष्ठ सत् की सत्ता पाना चाहती है, वह स्वयं को पूर्ण बनाना चाहती है, वह स्वनिष्ठ सत् के समान स्वयं से एकरूप होना चाहती है, वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार होना चाहती है। पर उसकी यह लालसा कभी भी पूरी नहीं हो सकती, इसका पूरा होना असम्भव है क्योंकि ऐसा होने पर स्वनिमित्त सत् स्वनिष्ठ सत् हो जायेगा, स्वयं अपना स्वरूप खो बैठेगा। और चूँकि समस्त मानव ज्ञान, व्यवहार, उसकी सारी कार्य योजनायें 'ईश्वर होने की मूल अभियोजना या कामना' की मूर्त अभिव्यक्तियाँ हैं, अत: मूल योजना की असफलता से समस्त मानवीय कार्ययोजनायें और गतिविधियाँ असफलता के लिये अभिशप्त होती हैं। बीइंग एण्ड नथिंगनेस के अन्त में सार्त्र मनुष्य को व्यर्थ की वासना के रूप में पाते हैं। मानव यथार्थता एक विरोधपूर्ण आदर्श को चरितार्थ करने का वृथा प्रयास है। इस तरह सार्त्र मानवीय अस्तित्व की एक निराशाजनक तस्वीर पेश करते हैं। मानवीय यथार्थता की नियति दु:ख है, आनन्द का उसके लिये अवकाश नहीं है—"मानवीय यथार्थता का सत् दु:ख है क्योंकि जिस समग्रता की तलाश में वह है उसकी प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि बिना अपना स्वरूप त्यागे स्वनिमित्त सत् स्वनिष्ठ सत् नहीं हो सकता। मानवीय यथार्थता इस तरह स्वभावत: एक दु:खी चेतना है जिसकी दु:ख से मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है।"[80]

** ** ** ** ** **

सत्ता, जगत्, मनुष्य एवं उसकी नियति के सम्बन्ध में हमनें जो सार्त्र के मतों को पीछे प्रस्तुत किया वह अस्तित्ववादी सार्त्र के बीइंग एण्ड नथिंगनेस पर्यन्त

तक प्रस्तुत विचारों पर आधारित था। कालान्तर में सार्त्र के विचारों में हम मौलिक परिवर्तन देखते हैं। हम सार्त्र को मार्क्सवाद का पक्ष-पोषण करते हुए पाते हैं। सन् 1960 में प्रकाशित **क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन** के साथ ही हम एक नये सार्त्र को देखते हैं। क्रिटिक का सार्त्र अपने पूर्ववर्ती अस्तित्ववादी चिन्तन से इतना भिन्न विचार करता हुआ प्रतीत होता है कि आलोचकों ने पूर्ववर्ती सार्त्र और उत्तरवर्ती सार्त्र-इस तरह का भेद कर **क्रिटिक** में प्रस्तुत विचारों को उत्तरवर्ती सार्त्र का विचार बताया है। अस्तित्ववादी सार्त्र अब मार्क्सवाद की भाषा में बोलने लगता है। अब वह फेनॉमेनॉलॉजी की बजाए डायलैक्टिक की दृष्टि से सोचता है। अब सार्त्र मार्क्सवाद को युग का एकमात्र 'दर्शन' बतलाते हैं तथा अस्तित्ववाद को उसका समर्थन करने वाली एक 'विचारधारा' के रूप में बतलाते हैं।[81] दर्शन और विचारधारा में अन्तर करते हुए सार्त्र बतलाते हैं कि प्रत्येक युग का एक और केवल एक वास्तविक दर्शन होता है और इसके वितान में अनेकों ढंग की विचारधारायें होती हैं। अब दार्शनिक इस बात से भिज्ञ हो या न हो, उस दर्शन का पक्षधर हो या न हो, वह जो बातें लिखेगा उसे उसी दर्शन के सन्दर्श में समझा जा सकता है। सार्त्र के अनुसार बीसवीं सदी का दर्शन मार्क्सवाद है और उसी की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत अस्तित्ववाद एक विचारधारा। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि सार्त्र मार्क्सवाद के पक्षधर होते हुए भी उसके प्रचलित रूप के विरोधी हैं। जिस दिन मार्क्सवाद पूर्ण विकसित एवं परिपक्व दर्शन हो जायेगा, अस्तित्ववाद उसी में तिरोहित हो जायेगा।

बीइंग एण्ड नथिंगनेस में सार्त्र मनुष्य का जो रूप चित्रित करते हैं उसमें वह नितान्त एकाकी, अपने स्वरूप का विनिर्माता और समस्त मूल्यों-अर्थों का जनक स्वतन्त्र व्यक्ति है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और दूसरे मनुष्य का अस्तित्व-ये दो ऐसी वास्तविकतायें हैं जिनका अस्तित्ववादी सार्त्र कोई समायोजन नहीं कर पाते। 'दूसरा' वहाँ हमारे लिये नरक है, वह हमारा शत्रु है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच सारे सम्बन्धों की परिणति स्वपीड़न या परपीड़न में होती है। वस्तुत: अस्तित्ववाद की परिधि में किसी तरह के आचारशास्त्र की सम्भावना ही नहीं बनती। यह मूलगामी परिवर्तन के बाद ही सम्भव है।[82] अत: **क्रिटिक** में जब हम सार्त्र को मनुष्य की ऐतिहासिकता तथा सामाजिकता की बात करते पाते हैं तो वह अपने अस्तित्ववाद के सिद्धान्तों की तिलाञ्जली दे रहा होता है। व्यक्ति के कार्य अब उसकी व्यष्टिता की ही अभिव्यक्ति नहीं रह जाते, अब वे उसके वर्ग की अभिव्यक्ति होते हैं। व्यक्ति की कहानी उसकी वैयक्तिकता की कहानी न होकर समाजिकता की कहानी हो जाती है। व्यक्ति का अलगाव या सीरियलिटी अब उसका 'पतन' है तथा इस पतन से मुक्ति उसे 'ग्रुप' में मिलती है। 'ग्रुप' मे रहकर ही वह अपनी स्वतन्त्रता

का प्रामाणिक उपभोग कर सकता है। अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता निरपेक्ष एवं सम्पूर्ण है। लेकिन सार्त्र अब महसूस करते हैं कि यह स्वतन्त्रता अमूर्त है। वर्ग संरचना, आर्थिक व्यवस्था एवं अभाव मनुष्य की इस स्वतन्त्रता को अर्थहीन बना देते हैं। जब तक मनुष्य 'अभाव' की जंजीरों से मुक्त नहीं होता तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता स्वप्न मात्र रहेगी।

क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन[83] में सार्त्र का उद्देश्य एक ऐसा मानवविज्ञान प्रस्तुत करना है जिसमें मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देख पाने की क्षमता हो। इस पुस्तक में वह मनुष्य सम्बन्धी सारे भावी विचारों के लिये-मानवविज्ञान के लिये-आधारभूमि रखना चाहते हैं। मनुष्य, उसके इतिहास और भविष्य के सम्बन्ध में डायलेक्टिकल विचारों का प्रागनुभविक आधार वह क्रिटिक में रखना चाहते हैं। विश्व और विश्वइतिहास में मनुष्य के विषय में कोई बात डायलेक्टिक ढंग से ही की जा सकती है। जगत् एवं विचार दोनों की प्रक्रिया डायलेक्टिक की है। सारी की सारी बौद्धिक प्रक्रिया चाहे वह दार्शनिक हो या ऐतिहासिक, द्वन्द्वात्मक है। यह कैसे डायलेक्टिक है इसे हम मानवीय गतिविधि-जगत् में उसके व्यापार, कार्य, इस भौतिक जगत् में उसकी योजनायें और विचार-जिसे कि प्रैक्सिस कहा जाता है, के द्वन्द्वात्मक स्वरूप से समझ सकते हैं। अस्तित्ववान स्थिति को बदलने के लिये किया जाने वाला कर्म जो कि प्रैक्सिस है, द्वन्द्वात्मक इसलिये है कि यह तथ्य एवं भावी योजना के बीच संघर्ष है, द्वन्द्व है। क्रिटिक में सार्त्र मानव की क्रियाशीलता (प्रैक्सिस) तथा वातावरण में उपलब्ध क्रियात्मक निश्चेष्टता (प्रेक्टिको इनर्ट) के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के द्वारा मानव जीवन की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन, प्रथम खण्ड के आरम्भ में सार्त्र मार्क्स की इस मूलभूत धारणा से सहमति व्यक्त करते हैं कि "भौतिक जीवन के उत्पादन के साधन सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन को अनुशासित करते हैं।" इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है, इस बात से तथा इतिहास की द्वन्द्वपरक व्याख्या से भी सार्त्र सहमति व्यक्त करते हैं। सार्त्र भी मनुष्य की समस्त ऐतिहासिकता को उसकी सम्पूर्णता में समझने का प्रयास करते हैं। यह ऐतिहासिक सम्पूर्णीकरण द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में होता है, यह वे मानते हैं। पर सार्त्र एंजेल्स के ऐतिहासिक निर्धारणवाद की जमकर आलोचना करते हैं। सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वयं इतिहास का निर्माता है। इस प्रक्रिया में वह स्वयं अपनी ही रचना से रचित होता है। अपने ही कार्यों तथा उत्पत्ति की सामाजिक शर्तों द्वारा निर्मित होता हुआ वह इसी के साथ अपने ही उत्पादनों के मध्य रहता हुआ उस समुदाय का निर्माण करता है जो स्वयं उसको ढालता है। इस तरह मनुष्य डायलेक्टिक के नियमों का पालन करता हुआ डायलेक्टिकल इतिहास का निर्माता है। इस तरह

क्रिटिक में भी हम समस्त ऐतिहासिकता तथा सामाजिकता के केन्द्र में मनुष्य को पाते हैं तथा उसे इतिहास के विनिर्माण में स्वतन्त्र पाते हैं। इन्हीं कारणों से बहुत से विचारक सार्त्र के क्रिटिक को बीइंग एण्ड नथिंगनेस में प्रस्तुत सत्तामीमांसा के विचार के नये क्षेत्र में-सामाजिक क्षेत्र में विस्तार के रूप में देखते हैं।[84] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि सार्त्र की रचनाओं में अन्विति की समस्या बहुत विवादास्पद है और इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। मानव-नियति के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती सार्त्र के विचार यद्यपि बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि ये विचार इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती सार्त्र द्वारा प्रस्तुत विचारों से एकदम भिन्न हैं। जहाँ पूर्ववर्ती सार्त्र मनुष्य को अपनी नियति आप सर्जित करने की स्वतन्त्रता देते हैं, उत्तरवर्ती सार्त्र व्यक्ति को जिस ऐतिहासिकता में पाते हैं उसमें उसे अपनी नियति आप बनाने के लिये पूर्ण एवं निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र नहीं पाते। केवल क्रान्तिकारी सामुदायिक प्रैक्सिस द्वारा वह निश्चेष्ट जड़ता से अपना भविष्य छीन सकता है, वह भी 'अभाव' के कारण कुछ ही। क्रिटिक के सार्त्र नियति को निश्चेष्ट जड़ता द्वारा थोपे गये भविष्य के रूप में देखते हैं। अस्तित्ववान उत्पादन प्रणाली जितना अनुमति प्रदान करती है, मनुष्य उतना ही स्वतन्त्र है। निश्चेष्ट जड़ता द्वारा मानवीय क्रियाशीलता का शासित होना ही उसका एकाकीपन है। अभाव (स्कार्सिटी) के इतिहास में ही एकाकीपन सम्भव है। जब अभाव नहीं होगा तब मनुष्य वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्र होगा, परन्तु क्रिटिक में सार्त्र अभावमुक्त स्थिति को नहीं देखते। यह सही है कि उत्तरवर्ती सार्त्र में भी स्कार्सिटी के रूप में रिक्तता या कमी की अवधारणा, प्रैक्सिस के रूप में 'स्वतन्त्रता' की अवधारणा सुरक्षित है तथा यहाँ भी मनुष्य इतिहास और इस तरह अपनी नियति का निर्माता है। पर जिस 'अभाव' या 'अलगाव' की बात सार्त्र अब करते हैं वह परिस्थितिजन्य है न कि सत्तात्मक। अतः सार्त्र वस्तुतः अब मौलिक सत्तात्मक प्रश्न उठाने के बजाय मूर्त सामाजिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ में बात करते हैं, इसीलिये वे डायलेक्टिक की बात करते हैं न कि फेनॉमेनॉलॉजी की। फेनॉमेनॉलॉजी और डायलेक्टिक में मौलिक भेद है। अतः पूर्ववर्ती सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी में मानव नियति की समस्या को जिस तरह से व्याख्यायित किया गया है, उत्तरवर्ती सार्त्र द्वारा प्रस्तुत मानव-नियति के चित्रण से वह नितान्त भिन्न है। मेरी वारनॉक तथा अन्य आलोचकों की यह मान्यता कि पूर्ववर्ती सार्त्र और उत्तरवर्ती सार्त्र में मौलिक विच्छेद है, लेखक को स्वीकार है। अस्तित्ववाद व्यक्ति मात्र की 'स्वतन्त्रता' का दर्शन है। अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी में मानव-नियति के सम्बन्ध में जो मौलिक एवं सत्तामीमांसीय प्रश्न उठाये गये हैं, वे ऐतिहासिक मानवविज्ञान द्वारा प्रस्तुत मानव-नियति के चित्रण से कहीं अधिक

मौलिक, बुनियादी एवं दार्शनिक हैं। यह विडम्बना है कि पूर्ववर्ती सार्त्र जहाँ सत्तामीमांसा के मौलिक प्रश्नों को उठाते हुए चेतना, स्वतन्त्रता एवं सत्ता की बात करता है, वह युग के प्रभाव में आकर मानव-नियति की सत्तामीमांसीय व्याख्या के बजाय ऐतिहासिक और युगीन परिप्रेक्ष्य में उसकी व्याख्या करने लगता है। मानव-नियति की समस्या चूँकि सत्तामीमांसीय एवं दार्शनिक समस्या है, अत: मनुष्य होने का अर्थ क्या है, मानव नियति क्या है, यह प्रश्न मूलभूत सत्ता के स्वरूपान्वेषण की अपेक्षा रखता है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में जानबूझ कर पूर्ववर्ती सार्त्र के अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी द्वारा प्रस्तुत मानव-नियति की व्याख्या को प्रमुखता देते हुए उसी का प्रतिपादन किया गया है तथा ग्रन्थ को वहीं तक सीमित रखा गया है।

सन्दर्भ

1. उपनिषद् एवं जातक कथायें भी कथा-आख्यानों, दृष्टान्तों से भरी पड़ी हैं, क्योंकि इनमें जिन समस्याओं का विवेचन किया जाना होता है वे दार्शनिक तो होती हैं पर उन्हें सूत्रीकृत नहीं किया जा सकता है।
2. 'He is what he is not and he is not what he is'.
   Being and Nothingness, p. 735.
3. Jean Paul Sartre : Existentialism and Humanism, tr. by Philip Mairet, London, Methuen & Co. Ltd., 1982.
4. Existentialism & Humanism, p. 28.
5. सार्त्र के मत में भी सभी अस्तित्वादी-चाहे वे ईश्वरवादी हों अथवा अनीश्वरवादी-इस विषय में एकमत हैं कि मानवीय अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।
   एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, पृ० 26.
6. 'Particulars may come and go, but the idea or form goes on forever. Men may come and men may go, but the man-type is eternal.'
   F. Thilly, A History of Philosophy, Central Publishing House, Allahabad, 1985, p. 80.
7. '----- with man the relation of existence to essence is not comparable to what it is for the things of the world. Human freedom precedes essence in man and makes it possible; the essence of the human being is suspended in his freedom.'
   Jean Paul Sartre : Being and Nothingness, tr. H.E. Barnes, Washington Square Press Publication of pocket Books, New York, 1966, p. 60.
8. 'Thus, the conception of man in the mind of God is comparable to that of of the paper-knife in the mind of the artisan : God makes man according to a procedure and a conception, exactly as the

artisan manufactures a paper knife, ----- each individual man is the realisation of a certain conception which dwells in the divine understanding.'
Existentialism and Humanism, p. 27.

9. देखें, वहीं आगे।
10. 'Atheistic existentialism, of which I am a representative, declares with greater consistency that if God does not exist there is at least one being whose existence comes before its essence, a being which exists before it can be defined by any conception of it. That being is man or, as Heidegger has it the human reality.'
Existentialism and Humanism, p. 28.
11. देखें, वहीं आगे पृ॰ 28.
12. 'If man as the existentialist sees him is not definable, it is because to begin with he is nothing.'
Existentialism and Humanism, p. 28.
13. वहीं आगे, पृ॰ 28.
14. Existentialism and Humanism, p. 41.
15. '----- there is no love apart from the deeds of love ; no potentiality of love other than that which is manifested in loving; there is no genius other than that which is expressed in works of art. The genius of Proust is the totality of the works of Proust ; the genius of Racine is the series of his tragedies, out side of which there is nothing.'
Existentialism and Humanism, pp. 41-42.
16. वहीं, आगे पृ॰ 42.
17. ' ------ We may say that there is a universality of man, but it is not given, it is perpetually being made.'
Jean Paul Sartre : Existentialism and Human Emotions, tr. Bernard Frechtman, New York : The Philosophical Library, 1957, p. 39.
18. Existentialism and Humanism, p. 29.
19. वहीं आगे पृ॰ 29.
20. 'In fashioning myself I fashion man.'
Existentialism and Humanism, p. 30.
21. 'Man is free to act, but he must act to be free and become essential.'
Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psycho-analysis, Vision Press Ltd. London, 1968, p. 65.
22. 'Man is nothing else but what he purposes, he exists only in so far as he realizes himself, he is therefore nothing else but the sum of his actions, nothing else but what his life is.'
Existentialism and Humanism, p. 41.

23. "ओरेस्टेस कहता है कि लोग ऐसे हैं जो जन्मना प्रतिबद्ध रहते हैं, उनके लिये वस्तुतः कोई चयन नहीं रहता, वे सड़क पर फेंके हुए हैं----ईश्वर को धन्यवाद है कि वह स्वतन्त्र है।"

देखें–सार्त्र का नाटक 'द फ्लाइज'। यहाँ अल्फ्रेड स्टर्न की पुस्तक 'Sartre : His Philosophy and Existential Psycho-analysis' से उद्धरित, पृ॰ 66.

24. Being and Nothingness, p. 707.
25. 'We have the war we deserve.'
26. दखें, वहीं, बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ॰ 709.
27. 'It is precisely thus that the for-itself apprehends itself in anguish; that is as a being which is neither the foundation of its own being nor of the Other's being nor of the in-itselfs which form the world, but a being which is compelled to decide the meaning of being—within it and everywhere outside of it.'

    Being and Nothingness, p. 711.
28. 'The one who realizes in anguish his condition as being thrown into a responsibility which extends to his very abandonment has no longer either remorse or regret or excuse; he is no longer anything but a freedom which perfectly reveals itself and whose being resides in this very revelation.

    Being and Nothingness, p. 711.
29. ' ------ fear is fear of beings in the world whereas anguish is anguish before myself.'

    Being and Nothingness, p. 65.
30. ' ------ the act is always beyond that essence; it is a human act only in so far as it surpasses every explanation which we can give of it.'

    Being and Nothingness, p. 72.
31. Being and Nothingness, p. 75.
32. Being and Nothingness, p. 69.
33. '------ freedom, which manifests itself through anguish, is characterized by a constantly renewed obligation to remake the self which designates the free being.'

    Being and Nothingness, p. 72.
34. 'As a being by whom values exist, I am unjustifiable. My freedom is anguished at being the foundation of values while itself without foundation.'

    Being and Nothingness, p. 76.
35. 'I am the self which I will be, in the mode of not being it. ----- Anguish is precisely my consciousness of being my own future, in the mode of not-being.'

    Being and Nothingness, p. 68.

36. 'The consciousness of man in action is non-reflective consciousness.'
Being and Nothingness, p. 74.
37. 'I emerge alone and in anguish confronting the unique and original project which constitutes my being; all the barriers, all the guard rails collapse ---- I do not have nor can I have recourse to any value against the fact that it is I who sustain values in being. Nothing can ensure me against myself, cut off from the world and from my essence by this nothingness which I am. I have to realize the meaning of the world and of my essence; I make my decision concerning them—without justification and without excuse.'
Being and Nothingness, p. 77-78.
38. Being and Nothingness, p. 89.
39. Being and Nothingness, p. 89.
40. देखें, वहीं आगे, पृ॰ 90-96.
41. द्रष्टव्य-बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ॰ 96.
42. '----- it replaces the duality of the deceiver and the deceived, the essential condition of the lie, by that of the 'id' and the 'ego'. It introduces into my subjectivity the deepest intersubjective structure of the mit-sein.'
Being and Nothingness, p. 92.
43. बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ॰ 95.
44. बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ॰ 96-99.
45. देखें, बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ॰ 97.
46. 'The basic concept which is thus engendered utilizes the double property of the human being, who is at once a *facticity* and *transcendence*. These two aspects of human reality are and ought to be capable of a valid coordination.'
Being and Nothingness, p. 98.
47. Mary Warnock, The Philosophy of Sartre, Hutchinson University Library, London, 1965, p. 56.
48. 'On all sides I escape being and yet—I am.'
Being and Nothingness, p. 103.
49. Jean Paul Sartre : No Exit and Three Other Plays, tr. Stuart Gilbert, New York : Vintage Books, 1971, pp. 120-121.
50. सभाजीत मिश्र, अस्तित्ववाद : सार्त्र, समकालीन पाश्चात्य दर्शन, सं॰ श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, डॉ॰ सभाजीत मिश्र, श्री शिवानन्द शर्मा ; उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ॰ 400-401.
51. 'Thus in order for bad faith to be possible, sincertiy itself must be in bad faith. The condition of the possibility for bad faith is that

human reality, in its most immediate being, in the intra-structure of the pre-reflective cogito, must be what it is not and not be what it is.'
Being and Nothingness, p. 112.

52. 'If bad faith is possible, it is because it is an immediate, permanent threat to every project of the human being; it is because consciousness conceals in its being a permanent risk of bad faith. The origin of this risk is the fact that the nature of consciousness simultaneously is to be what it is not and not to be what it is.'
Being and Nothingness, p. 116.
53. Being and Nothingness, p. 116.
54. "---- the being of consciousness is consciousness of being."
Being and Nothingness, p. 89.
55. Mary Warnock, Existentialism, Oxford University Press, Oxford, 1985,
56. '---- it is in anguish that man gets the consciousness of his freedom, or if you prefer, anguish is the mode of being of freedom as consciousnesss of being.
Being and Nothingness, p. 65.
57. डॉ॰ लक्ष्मी सक्सेना, डॉ॰ सभाजीत मिश्र : अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1988, पृ॰ 193.
58. Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psychoanalysis, Vision Press Ltd. London, 1968, p. 165.
59. ' ----- the paradox that *alive* man *is not* ; and dead, he *is*.' देखें, वहीं आगे, पृ॰ 170.
60. Being and Nothingness, p. 695.
61. ' ----- death is never that which gives life its meanings; it is, on the contrary, that which on principle removes all meaning from life. If we must die, then our life has no meaning because its problems receive no solution and because the very meaning of the problems remains undertermined.
Being and Nothingness, p. 690.
62. 'It is absurd that we are born; it is absurd that we die.'
Being and Nothingness, p. 699.
63. बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चौथे ब्राह्मण (याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद) में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य को कहती है कि **येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां**। देखिये–इस पुस्तक का द्वितीय अध्याय।
64. सार्त्र बीइंग एण्ड नथिंगनेस के अन्त में अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण की चर्चा करते हैं तथा इसे व्यावहारिक मनोविश्लेषण से भिन्न बताते हैं। सार्त्र इसमें मनुष्य की मूलभूत कामना का विश्लेषण करते हैं।

(देखें-बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ० 712-784)

65. 'The For-itself is the being which is to itself its own lack of being. The being which the for-itself lacks is the in-itself. -----The human reality is the desire of being-in-itself.'
Being and Nothingness, p. 723.
66. ' ------ the for-itself, being the negation of the in-itself, could not desire the pure and simple return to the in-itself.'
Being and Nothingness, p. 723.
67. 'To be man means to reach toward being God. Or if you prefer, man fundamentally is the desire to be God.'
Being and Nothingness, p. 724.
68. ' ----- it could not attain the in-itself without losing itself as for-itself.'
Being and Nothingness, p. 140.
69. Being and Nothingness, p. 784.
70. 'When Sartre speaks of human consciousness haunted by the ideal of perfect Being, or speaks of God as the ultimate project of every man, or says that man solves the problem of God only by his entire life, he sounds like a religious man.'
Thomas M. King : Sartre and the Sacred, The University of Chicago Press, Chicago and London, 1974, p. 47.
71. द्रष्टव्य, श्री अरविन्दकृत लाइफ-डिवाइन।
72. Being and Nothingness, p. 784.
73. 'The being of human reality is suffering because it rises in being as perpetually haunted by a totality which it is without being able to be it, precisely because it could not attain the in-itself without losing itself as for-itself. Human reality therefore is by nature an unhappy consciousness with no possibility of surpassing its unhappy state.'
Being and Nothingness, p. 140.
74. '---- all human activities are equivalent (for they *all tend* to sacrifice man in order that the self-cause may arise) and that all are on principle doomed to failure.'
Being and Nothingness, p. 797.
75. It may be asked, if man on coming into the world is borne toward God as toward his limit, if he can choose only to be God, what becomes of freedom? ------ it appears here that the intial project of being God, which 'defines' man, comes close to being the same as a human 'nature' or an 'essence'.
Being and Nothingness, p. 724.
76. Being and Nothingness, p. 764.
77. 'To possess is to be united with the object possessed in the form of appropriation; to wish to possess is to wish to be united to an object in this relation.

Being and Nothingness, p. 751.

78. Being and Nothingness, p. 762.

79. ' ----- the passion of man is the reverse of that of Christ, for man loses himself as man in order that God may be born. But the idea of God is contradictory and we lose ourselves in vain. Man is a useless passion.

Being and Nothingness, p. 784.

80. Being and Nothingness, p. 140.

81. Jean Paul Sartre, Search for a Method, tr. H.E. Barnes, Knopf, New York, 1963.

82. बीइंग एण्ड नथिंगनेस के भाग-3, (पृ० 534) जिसमें सार्त्र अन्यों के साथ हमारे सम्बन्ध की निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, पादटिप्पणी में लिखते हैं: "ये सब विचार-विमर्श मुक्ति और स्वतन्त्रता के नीतिशास्त्र की सम्भावना को बहिर्भूत नहीं करते। लेकिन यह एक मूलगामी परिवर्तन के बाद ही सम्भव है जिसकी हम यहाँ चर्चा नहीं कर सकते।"

83. Jean Paul Sartre, Critique of Dialectical Reason (Vol. I), tr. Alan Sheridon- Smit, ed. Jonathan Ree, Verso, London-New York, 1991.

84. William Leon Mc Bride, 'Man, freedom, and Praxis' in Existential Philosopher : Kierkegaard to Merleau-Ponty, ed. George Alfred Schrader, Jr. , Mc Graw Hill Book Company, New York, 1967, p. 298.

❑ ❑ ❑

पञ्चम अध्याय

मानव-नियति विषयक शंकर एवं सार्त्र के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा

पिछले अध्यायों में हमने सत्ता, जगत् एवं मनुष्य विषयक शंकराचार्य और ज्याँ पाल सार्त्र के मतों का अवलोकन किया। इसी क्रम में हमने उन दार्शनिकों के पक्ष को रखते हुए इनके बीच संवाद के लिये कुछ बिन्दुओं को भी स्पर्श किया। प्रस्तुत अध्याय में हम इनके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मानव-नियति विषयक समस्या को स्पष्ट करना चाहेंगे। यहाँ इस बात को पुनः स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि हमारे अध्ययन का उद्देश्य सार्त्र एवं शंकर के दर्शन की तुलना करना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य इन दोनों की सम्मिलित दृष्टि से मानव-नियति की समस्या का विवेचन करना है और इस विवेचन को उसके तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचाना है। अध्ययन के केन्द्र में हमने मनुष्य और उसकी नियति को रखा है तथा इस निमित्त जो सामग्री एवं दृष्टि ली गयी है वह शंकराचार्य एवं सार्त्र की रचनाओं से प्राप्त की गयी है। तुलनात्मक दर्शन का अर्थ दो दार्शनिकों के विचारों की समानान्तर प्रस्तुति एवं उनकी तुलना मात्र नहीं है, अपितु यह उनके विश्लेषण, समालोचन एवं संश्लेषण द्वारा एक ऐसे दृष्टि की निष्पत्ति है जिससे किसी समस्या को नये आलोक में देखा जा सके।

अल्फ्रेड स्टर्न ने दो प्रकार के दर्शनों की चर्चा की है। पहला जगत् के निरीक्षण द्वारा उद्भूत, अनुभव को व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति वाला दर्शन तथा दूसरा जागतिक अस्तित्व से जन्य दुःख से उद्भूत एवं इसे समाप्त करने की आकांक्षा वाला दर्शन।[1] सार्त्र के दर्शन को वह इसी दूसरे प्रकार के दर्शन की कोटि में रखता है। जगत् के बेतुकेपन से उद्भूत उकताहट (**नॉशिया**) जो कि दुःख के एक प्रकार के रूप में देखा जा सकता है, सार्त्र के दर्शन के पीछे है।[2] हम आरम्भ से ही दर्शन के इतिहास में इन दो दार्शनिक धाराओं को देखते हैं। पहली धारा ज्ञानमीमांसीय या विश्लेषणात्मक धारा कही जा सकती है और दूसरी मूल्यमीमांसीय।

जहाँ प्रथम का लक्ष्य जागतिक अनुभवों की सम्यक् अन्वीक्षा द्वारा उसकी व्याख्या करना रहा है, दूसरी धारा का लक्ष्य मनुष्य, मनुष्य का स्वरूप तथा उसकी नियति सम्बन्धी प्रश्नों के हल की खोज रही है। प्रथम धारा के अन्तर्गत अरस्तु, देकार्ट, बेकन, ह्यूम तथा काण्ट को लिया जा सकता है जबकि दूसरी धारा के दार्शनिकों में एपिक्यूरस, पास्कल, शोपेनहावर, नीट्शे, किर्केगार्ड को लिया जा सकता है। सार्त्र इसी दूसरी धारा का दार्शनिक समझा जा सकता है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मोक्षवादी होने के कारण तथा दुःख से शुरु होने के कारण दूसरे कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि न्याय-वैशेषिक को कुछ हद तक हम इसका अपवाद मान सकते हैं। शंकर के लिये भी ब्रह्मविद्या मोक्षविद्या है क्योंकि उनका प्रधान प्रयोजन संसार में स्थित मनुष्य को उसकी अनुभूयमान दुःखात्मक स्थिति से मुक्ति दिलाना है। सार्त्र तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्नों से बचते हैं। शंकर में भी हम सृष्टिविषयक चर्चा के प्रति उत्साह नहीं देखते हैं तथा उनका कहना है कि सृष्टिविषयक श्रुतियों का महत्त्व मानव--मुक्ति का मार्ग दिखाने तथा आत्मैकत्व-विद्या के प्रतिपादन से है।[3]

ज्याँ पाल सार्त्र अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। अस्तित्ववाद कोई दार्शनिक तन्त्र न होकर एक विशिष्ट दार्शनिक शैली है। जॉन मैक्वेरी लिखते हैं "यह विशिष्ट शैली मनुष्य से शुरु होती है, प्रकृति से नहीं। यह विषय नहीं विषयी का दर्शन है। पर कहा जा सकता है कि विज्ञानवादियों ने भी अपने दर्शन का आरम्भ-बिन्दु विषयी को बनाया है। इसीलिये अस्तित्ववादी दृष्टिकोण की और विविक्तता दिखलाने हेतु कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी के लिए विषयी अस्तित्व के सारे पक्षों में अस्तित्ववान है। वह केवल मननशील विषयी न होकर कार्यों को सम्पादित करता हुआ तथा अनुभूतियों, भावनाओं का संकेन्द्रण रूप है।"[4] जॉन मैक्वेरी आगे लिखते हैं, "हमने कहा है कि इस तरह के दर्शन का आरम्भ बिन्दु मनुष्य है, लेकिन यह मनुष्य चिन्तनशील विषयी न हो अस्तित्ववान है। अस्तित्व पर यूँ जोर देने का अर्थ यह भी है कि हम मनुष्य के किसी "प्रकृति" या "सारतत्त्व" को स्वीकृत मानकर फिर उससे निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।"[5] उपरोक्त उद्धरण अस्तित्ववाद की मूल विशेषता प्रस्तुत करता है। अर्थात् अस्तित्व सार का पूर्वगामी है, जैसा कि सार्त्र ने स्पष्ट किया है। आज का मनुष्य स्वयं अपने से अजनबी, भीड़ में खोया हुआ भीड़ का अंग मात्र हो गया है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी समाज में उसकी स्वयं की वैयक्तिकता खो गयी है, वह यान्त्रिक हो गया है। परम्परागत दर्शन उसका एक तन्त्र के अंग के रूप में, एक अमूर्त इकाई के रूप में अध्ययन करता है, पर इससे स्वयं व्यक्ति के अस्तित्व की नितान्त निजभूत समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता। पारम्परिक दर्शन "अवधारणात्मक" रहा है, इसका लक्ष्य

रहा है दार्शनिक अवधारणाओं की संस्थापना, उनका विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण। अमूर्तीकरण और विषयकरण इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इसीलिये कहा जा सकता है पारम्परिक दर्शन इस अर्थ में यथार्थ से हटा हुआ अमूर्त चिन्तन है, इशेन्शियलिज्म है। इसके विपरीत अस्तित्ववाद के लिये हमारे विचार, अवधारणायें, विज्ञान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है हमारे अस्तित्व की स्थितियाँ जिनमें हमें जीना है। अस्तित्ववाद अपने अध्ययन का विषय "मनुष्य" पर "अस्तित्ववान व्यक्ति" पर केन्द्रित करता है। यह मानव-अस्तित्व का अमूर्त, विषयकृत अध्ययन न हो उसका उसकी मूर्तता, विषयीनिष्ठता में अध्ययन करता है। सार्त्र की प्रसिद्ध उक्ति "अस्तित्व सार का पूर्वगामी है" (1) मनुष्य की विषयिता पर, (2) मनुष्य की स्वतन्त्रता पर और (3) मनुष्य की महत्ता पर बल देती है। मनुष्य स्वयं अपनी नियति का निर्माता है, मूल्यों का स्रष्टा है। मनुष्य निरन्तर स्व-निर्माण की प्रक्रिया में है, वह स्वयं अपना अतिक्रमण है। इस दृष्टि से "अस्तित्व" शब्द का अस्तित्ववाद में अपना एक विशेष अर्थ है। "अस्तित्व" का अर्थ अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना, सतत आविर्भावित होते रहना है।[6] यह स्वयं अपना अतिक्रमण है। यह अस्तित्व की अनुभूति के साथ अस्तित्ववान रहना है तथा इस अर्थ में केवल मानव अस्तित्वान है। अस्तित्ववाद इसी "जीवन्त अस्तित्व" की समस्या से जुड़ा हुआ है, किसी सैद्धान्तिक अस्तित्व की पहेली से नहीं। ऐसा ही मानव-अस्तित्व सार्त्र प्रभृति अस्तित्ववादियों के दार्शनिक चिन्तन का प्रस्थानबिन्दु है। अस्तित्ववाद की समस्यायें स्वयं "मानव अस्तित्व" की समस्याओं से जुड़ी हुई समस्यायें हैं—ऐसी जीवन्त समस्यायें जिन पर हमारे जीवन का सारा दारोमदार रहता है। यहाँ हम एक पद्धतिगत अन्तर पाते हैं और वह यह कि अस्तित्ववाद "जीवन में रत होकर" समस्याओं को जीते हुए उनका अध्ययन करता है, जबकि परम्परागत पद्धति इनसे एक दूसरी बनाकर इनका अध्ययन करने को कहती है क्योंकि बौद्धिक अध्ययन के लिए एक तरह की तटस्थता आवश्यक होती है। दूसरी ओर अस्तित्ववाद "उनको जीते हुये" उनका समाधान देता है।[7] अतः अस्तित्ववादी समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त शब्द एवं कुछ खास प्रत्यय बौद्धिक और अमूर्त न हो, संवेगात्मक लगाव की अपेक्षा रखते हैं। इसीलिए इनका अर्थ भी सामान्यतः उन्हीं को स्पष्ट होता है जो जीवन के प्रति इस तरह का अस्तित्ववादी लगाव महसूस करते हैं। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद में बुद्धि के प्रति उपेक्षा पायी जाती है तथा सार्त्र को अबुद्धिवादी और रोमान्टिसिस्ट कहा जाता है।

ईश्वरवादी अस्तित्ववादियों किर्केगार्ड और मार्सल के अनुसार "मानव-अस्तित्व" के सत्य का प्रकटन "ईश्वर के प्रति आस्था" द्वारा ही संभव है। यह सत्य साक्षात्कार करने की, जीने की जरूरत है, न कि समझने की। सत्य को जानना नहीं अपितु

जीना, इनका नारा है। बुद्धि के स्थान पर हृदय को "सत्य" की प्राप्ति में अस्तित्ववाद स्थान देता है। विषयीनिष्ठ पद्धति पर जोर देते हुए भी अस्तित्ववाद "सत्य" की विषयनिष्ठता को नजरन्दाज नहीं करता है। इसीलिये कहा गया है कि यह वस्तुनिष्ठ सत्य की विषयीनिष्ठ ढंग से साक्षात्कार करने की विधि है।

मानव-अस्तित्व की विवेचना करना अस्तित्ववाद का प्रधान विषय है। यह इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करता है—मैं कौन हूँ? मेरे अस्तित्व का स्वरूप क्या है? मेरी सीमायें क्या हैं? मेरी क्षमतायें क्या हैं? मेरा वस्तुजगत् से क्या सम्बन्ध है? मेरा "अन्य" पुरुषों से क्या सम्बन्ध है? मेरा भविष्य क्या है? मेरी नियति क्या है? सूक्ष्म और परिकल्पनात्मक समस्याओं से न जूझकर अस्तित्ववाद मानव—अस्तित्व की जीवन्त समस्याओं-स्वतंत्रता, चयन, उत्तरदायित्व, दुश्चिन्ता, उकताहट, बेचैनी, एकाकीपन, सीमा, अपराध, निराशा, मृत्यु की समस्याओं—का विवेचन करता है। सार्त्र तत्त्वमीमांसा के बजाए मानव- अस्तित्व के संरचक तत्त्वों तथा उसके धर्मों का अध्ययन करने हेतु मानवीय सत्तामीमांसा (ह्यूमन आन्टोलोजी) प्रस्तुत करते हैं। उनकी पद्धति फेनॉमेनॉलॉजिकीय है—जो मानव-अस्तित्व में प्रकाशित होता है मात्र उसी के विश्लेषण द्वारा सार्त्र अपना अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

शंकर प्रभृति भारतीय दार्शनिकों के अनुसार भी ''मानव-अस्तित्व'' के स्वरूप का विश्लेषण मूलभूत दार्शनिक समस्या है। इनके अनुसार भी दार्शनिक समस्या का जन्म "तत्त्व" को जानने की बौद्धिक जिज्ञासा मात्र से नहीं है, अपितु स्वयं व्यक्ति के जीवन का निर्णायक प्रश्न है जिसके उत्तर पर उसका भावी अस्तित्व निर्भर करता है। कुरुक्षेत्र में अर्जुन के समक्ष "वरण" की जो समस्या है वह अस्तित्ववादी "चयन" की समस्या है जो स्वयं उसका, उसके तरह के अन्यों का और समस्त मानवता का भविष्य निर्धारित करेगा। रामायण में राम का निर्णय, नचिकेता का यम के प्रलोभन पर निर्णय, इसी तरह का चयन है।

वस्तुतः जिन समस्याओं के कारण हम दार्शनिक गवेषणा की ओर प्रवृत्त होते हैं वह स्वयं हमारे अस्तित्व की समस्यायें होती हैं, भारतीय मत भी अस्तित्ववादियों के इस मत को स्वीकार करता है। और इनका उत्तर भी तटस्थ भाव से वस्तुओं के अध्ययन द्वारा नहीं होकर इनको जीते हुये, इनके एक तरह के संवेगात्मक अभिज्ञान द्वारा होता है और अन्ततः समाधान भी मानव-मुक्ति के निमित्त होता है। मानवीय जीवन का सत्य ज्ञान का विषय न होकर जीने एवं अनुभव करने का विषय है। अनाप्त एवं अप्रामाणिक अस्तित्व से मुक्ति तथा आप्त एवं प्रामाणिक अस्तित्व की ओर अभिगमन, यही मानव-स्वातन्त्र्य या मुक्ति है। भारतीय तथा अस्तित्ववादी दार्शनिकों की इस सन्दर्भ में समान दृष्टि है। बन्धन वस्तुतः स्वयं अपने से ही

व्यक्ति का निर्वासन है और मुक्ति इसी खोये हुये आत्म का प्रकटन है। स्वयं के प्रति विषयनिष्ठ दृष्टिकोण, दृष्टिकोण जो "अन्यों" द्वारा निर्धारित होता है, जो "इतर" की अपेक्षा से निर्धारित होता है, जो सर्व-सामान्य लोक की स्वीकृति से निर्धारित होता है, वह व्यवहार की दृष्टि है, बन्धन है। यही अप्रामाणिक अस्तित्व है। यह हाइडेगर के अनुसार "दे", वे (अन्य) की, जनसाधारण की दृष्टि है। यह सार्त्र के अनुसार अन्यों की दृष्टि से दमित स्थिति है। प्रामाणिक स्थिति में व्यक्ति स्वयं अपनी स्थिति का केन्द्रबिन्दु होता है। व्यवहार की स्थिति सुख के प्रति भागने की स्थिति है, दुःख, कुण्ठा, विपर्यास की स्थिति है। यह जगत् में लगाव की स्थिति है, लेप की स्थिति है, कषाय की स्थिति है। सार्त्र स्वनिष्ठ सत् के इस चिपचिपाहट का विशेष उल्लेख करता है।[8] प्रामाणिक स्थिति जगत् से दुराव की स्थिति है। यह निरन्तर अपने "स्व" के अतिक्रमण की स्थिति है। यह निषेध की स्थिति है। शंकर के अनुसार भी मनुष्य जब तक अपने अहंकार निर्देशित उपाधियों का अतिक्रमण नहीं कर लेता, निषेध नहीं कर लेता तब तक अपने मूल प्रामाणिक आत्म को नहीं पा सकता है।

आज जीवन की समस्याओं को एक नये दृष्टि से समझने, सामना करने और उनसे उबरने की जरूरत है। इसके लिये व्यक्ति को स्वयं अपने आपसे जोड़ना होगा और उन प्रश्नों को उठाना होगा जिसे वह जीवन की सामान्यचर्या, धर्म, समाज, संस्कृति, समुदाय में खोकर भुलाये हुये है। वस्तुतः यह उसकी दुरास्थापूर्ण स्थिति है। आवश्यकता है आत्मस्वरूप के विश्लेषण की और उसके स्वीकार की। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो" का उपदेश देता हुआ वेदान्त दर्शन उन समस्याओं के और गहन में जाने की चेष्टा करता है जिसे अस्तित्ववादियों ने रेखांकित किया है।

अस्तित्वपरक सत्य का जो अनुभव मनुष्य को होता है, उसे बौद्धिक एवं तार्किक शब्दावली में रखना सम्भव नहीं होता। इसीलिये उसका हम शांकर वेदान्त में निषेधात्मक वर्णन पाते हैं—नेति नेति के रूप में। बुद्धिवाद के प्रति यह प्रतिक्रिया भारतीय दर्शन तथा अस्तित्ववाद में समान रूप से दिखती है।

आत्मा के अस्तित्व को शंकर भी प्राथमिक मानते हैं तथा इसे सभी प्रमाणों से पूर्ववर्ती बताते हैं। सारा का सारा प्रमाण प्रमेय व्यवहार रूप सार इस आत्म के अस्तित्वपूर्वक ही सिद्ध होता है। शंकर के अनुसार भी यह आत्मा निधर्मक चेतना है तथा स्वतन्त्रता इसका स्वरूप है। हाँ, शंकर के अनुसार यह आत्मा ब्रह्म ही है जबकि सार्त्र के अनुसार यह आत्मा जिसका कि अस्तित्व सार का पूर्वगामी है जीवात्मा है, अहमात्मा है।

शंकर और सार्त्र की दार्शनिक शैली में समानता की विभिन्न बिन्दुयें जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है, संक्षेप में निम्न हैं–

1. दार्शनिक प्रस्थान का केन्द्र-बिन्दु मनुष्य को बनाकर चलना। मनुष्य के स्वरूप एवं उसकी नियति की खोज को दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मानना।
2. दोनों मनुष्य को ''जगत् में स्थित सत्'' मानकर उसका विश्लेषण करते हैं।
3. मूर्त मानवीय अनुभव के अन्तर्निरीक्षण पर आधारित विश्लेषण पद्धति।
4. दार्शनिक चिन्तन को जीवनोन्मुख बनाना ताकि जीवन की मूलभूत समस्याओं को स्पष्ट किया जा सके और मनुष्य को उससे मुक्ति मिल सके।
5. मानव-अस्तित्व का "सत्य" बौद्धिक गवेषणा की वस्तु नहीं है, अपितु उसकी उत्कृष्टतम संभावना है, उसकी नियति है, जिसका कि साक्षात्कार किया जाना चाहिये, जिसे जीया जाना चाहिये न कि जिसका बौद्धिक ज्ञान अपेक्षित है।
6. मानव-अस्तित्व का सत्य उसकी स्वतंत्रता है। उसके साथ मनुष्य को अपना तादात्म्य करना है। वस्तुतः यही मानव-अस्तित्व की चरम नियति है।
7. मानव अस्तित्व के अप्रामाणिक एवं प्रामाणिक अस्तित्व में भेद करना।
8. मानव जीवन की क्षणिकता, निरुद्देश्यता, आगन्तुकता की स्वीकृति जो अन्ततः मानवीय दुःख में द्योतित होती है!
9. जीवन के क्रूर यथार्थ दुःख की स्वीकृति। मानव-अस्तित्व की सीमा, अल्पता, दुश्चिन्ता, मृत्यु, भय आदि पक्षों की मीमांसा।
10. मृत्यु सम्बन्धी सत्य का स्वीकार। मृत्यु के सच को स्वीकारने से ही व्यक्ति अप्रामाणिक अस्तित्व के जाल से छुटकारा पा सकता है।
11. स्वतंत्रता की व्याख्या स्वयं को अप्रामाणिक स्थिति में पतन से प्रामाणिक स्थिति की ओर ले जाने के रूप में।
12. मनुष्य को अपनी नियति का स्वयं निर्माता मानना।
13. मानवीय-अस्तित्व की प्राथमिकता पर बल। विषयिता की दार्शनिक प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकृति।

जी॰ श्रीनिवासन के अनुसार[9] हाइडेगर और सार्त्र का दर्शन जहाँ मानव-अस्तित्व की सीमा का, परिच्छिन्नता का दर्शन है, वहीं भारतीय दर्शन उसकी अतिक्रामिता

का दर्शन है। जी॰ श्रीनिवासन के अनुसार मानव अस्तित्व को परिच्छिन्न मानने की तार्किक परिणति जगत् एवं मानवीय अस्तित्व के बेतुकेपन और अर्थहीनता में होती है। मानवीय सीमितता के दर्शन[10] में मृत्यु को मानव-अस्तित्व की समाप्ति के रूप में देखा जाता है। सारी की सारी मानवीय कार्ययोजनायें मृत्यु में समाप्त हो जाती हैं। जीवन की मृत्यु द्वारा समाप्ति जहाँ व्यक्ति के अन्दर दुश्चिन्ता और दुःख का कारण बननी है वहीं इसके बाद किसी अतिक्रामी लक्ष्य के अभाव में जीवन बोझ लगता है। जीवन के इस निराशाजनक पहलू पर जोर को हम तात्कालिक समय का प्रभाव मान सकते हैं। इसीलिये सार्त्र के दर्शन पर समकालीनता और तत्कालीनता का आरोप लगाया जाता है। मानवीय अस्तित्व की नियति दुःख की चरमता के स्वीकार में है। शंकर भी जगत् की और जीवन की दुःखात्मकता को स्वीकार करते हैं पर वे इस दुःख से परे होने की बात को भी स्वीकार करते हैं। यह दुःख तो उनके अनुसार आनुभविक जीवात्मा का है, मनुष्य की आत्मा तो इससे परे है। जबकि सार्त्र आदि दुःख को चरम मानते हैं और इस दुःख के, दुश्चिन्ता के स्वीकार को मानवीय मुक्ति का स्वरूप बताते हैं। जी॰ श्रीनिवासन[11] भारतीय दर्शन और सार्त्र-हाइडेगर के अस्तित्ववादी दर्शन में जो अन्तर देखते हैं वह यह कि अनुभवातीत आत्मा की तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के कारण भारतीय दार्शनिक अत्यानुभविक आनन्द, शान्ति को स्वीकार पाते हैं। चूँकि व्यक्ति की आत्मा परमार्थतः अनुभवातीत आत्मा है, जो कि समस्त सीमा-अल्पता से परे है फलतः वे मानव-अस्तित्व के सीमिततापरक दर्शन के परिणामों से बच निकलते हैं। सार्त्र के लिये अतिक्रमण वर्तमानकालिक "जगत् में स्थित सत्" का अतिक्रमण कर भविष्यकालिक "जगत् में स्थित सत्" की ओर गमन है और फिर उसका पुनः अतिक्रमण है। इस दृष्टि से यह जगत् में परिवेष्ठित अतिक्राम्यता का दर्शन है। दूसरे शब्दों में सार्त्र के मत में मानव-अस्तित्व एवं उसका अतिक्रमण देशकालिक "जगत् में स्थित सत्" है। इसके विपरीत शंकर के अनुसार मनुष्य परमार्थतः देशकालातीत परमब्रह्म स्वरूप है। वे देह-इन्द्रियादि से परे एक आत्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। देशकालिक दुःख तो वस्तुतः इसके "अज्ञान" की स्थिति है। परमार्थतः तो वह इनसे परे है। मनुष्य की नियति अपने इसी परमार्थ स्वरूप का साक्षात्कार है।

मानव नियति विषयक शंकर एवं सार्त्र के मतों में विभिन्नता का कारण सत्ता, जगत् एवं मनुष्य सम्बन्धी उनके विचारों की भिन्नता में देखा जा सकता है। पीछे हमने देखा कि इन दोनों दार्शनिकों की मूल समस्या मानव-अस्तित्व की व्याख्या तथा उसकी मुक्ति की रही है। समान ढंग से प्रश्न उठाने और समस्याओं को देखने के बावजूद अपनी-अपनी मूलभूत मान्यताओं के कारण जो समाधान और

उत्तर इन्होंने दिये वे भिन्न-भिन्न हैं। हम उन मूल बिन्दुओं का पहले संक्षेप में संकेत करेंगे जो इन दोनों की भिन्नता के मूल में हैं तथा बाद में एक-एक कर इनकी मानव-नियति के सन्दर्भ में पुनर्समीक्षा करेंगे।

शंकराचार्य के अनुसार मनुष्य मात्र "जगत् में स्थित सत्" नहीं है। "जगत् में स्थित सत्" का वर्णन मानव-अस्तित्व का पूर्ण विवरण न हो मात्र उसके व्यावहारिक सत् का ही वर्णन है। "जगत् में स्थित सत्" के अतिरिक्त उसका एक वास्तविक रूप है जो इससे अतीत है। यह पारमार्थिक रूप "जगत् में स्थित सत्" का भी पूर्ववर्ती और प्राथमिक है। यह रूप मनुष्य की आत्मा है जो देशकालातीत और कूटस्थ नित्य है। अतः सार्त्र के अनुसार आत्मा जहाँ कालिक है, सीमित है तथा आनुभविक है, शंकर के अनुसार यह अनुभवातीत है। पुनः सार्त्र के अनुसार "मानव-अस्तित्व" कोई प्रदत्त नहीं है। यह द्रव्यरूप न हो कर सतत् निर्माणाधीन है। यह निरन्तर स्वयं के सम्मुख एक संभावना है। द्रव्यरूप कूटस्थ नित्य न होकर यह कालिक है, सीमित है। यह निरन्तर होने की प्रक्रिया में है। "आत्मानं विद्धि" और "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यो" दोनों को स्वीकृत होने के बावजूद सार्त्र जहाँ मनुष्य को उसके आनुभविक आत्मा-जीवात्मा रूप सत्ता के प्रति उद्बुद्ध करना चाहते हैं वहाँ शंकर अनुभवातीत आत्मा के प्रति।

आत्मा सम्बन्धी उपरोक्त धारणा के कारण शंकर के अनुसार स्वतन्त्रता या मुक्ति एक तत्त्वमीमांसीय सत् हो जाता है। स्वतंत्रता वहाँ कूटस्थ नित्य देशकाल-व्यवहारातीत आत्मा का स्वरूप है। जबकि सार्त्र के मत में यह जगत् में स्थित व्यवहार का सत्य है। इसका अनुभवातीत आत्मा नाम की सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः अप्रामाणिक स्थिति से स्वतंत्रता या प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक सत् का सम्बन्ध आनुभविक धरातल पर ही है। सार्त्रीय दर्शन की स्वतन्त्रता जागतिक स्वतन्त्रता है। यह व्यवहारों, कार्यों, चुनावों में अभिव्यक्त होने वाली स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता यदि किसी द्रव्यता का, जगत् में स्थित सत् का, स्वरूप का निषेध करती है तो यह "जगत् में स्थित सत्" का ही किसी अन्य "जगत् में स्थित सत्" के लिये अतिक्रमण करती है। इसके विपरीत शंकर के मत में स्वतंत्रता पूरे आनुभविक आत्म का, अहमात्मा का ही निषेध करती है ताकि एक भावात्मक अत्यानुभविक सत् से उसका तादात्म्य हो सके जो स्वयं उसकी स्वरूप स्थिति है।

"सार्त्र का जीवन दर्शन मूलतः जीवन में चारो और द्विविधा और द्वन्द्व देखता है, हिन्दू विचारधारा भी यही देखती है जब वह निरन्तर दुःख और पीड़ा की बात करती है।"[12] सार्त्र के समान शंकर भी मानव जीवन की दुःखात्मकता को स्वीकार करते हैं और प्रामाणिक स्थिति को इस दुःख की साहसपूर्ण स्वीकृति के रूप

में लेते हैं। परन्तु जहाँ शंकर इससे परे जाने की भी बात करते हैं, सार्त्र ऐसा नहीं करते।[13] सार्त्र के लिये स्वतन्त्रता या स्वरूप स्थिति दुश्चिन्तापरक है, शंकर के लिए यह आनन्दस्वरूप में स्थिति है।

"सार्त्र के मानवीय सीमा के दर्शन में मृत्यु को बड़ा महत्त्व मिलता है क्योंकि यह सारे मूल्य न्यूनीकृत कर देती है, मृत्यु के बाद कोई मूल्य बचता नहीं।"[14] प्रामाणिक अस्तित्व के सन्दर्भ में सार्त्र और शंकर दोनों ने मृत्यु की विशद चर्चा की है। पर सार्त्र के अनुसार मृत्यु जहाँ अस्तित्व की समाप्ति है, शंकर के अनुसार यह मात्र इस जीवन की समाप्ति है। प्रभा खेतान लिखती हैं "मानव-जीवन के उच्चतम मूल्य मोक्ष के सामने मृत्यु एक बिचौलिया है, वह अपने में मानव-अस्तित्व का अन्तिम अन्त नहीं है, न वह मानवीय प्रयासों का लक्ष्य है। मौत व्यक्ति के अस्तित्व का वर्तमान आकार समाप्त करती है। यह एक अपरिहार्य, संरचनात्मक रूप से उसकी जिन्दगी से सम्बद्ध है, शारीरिक फिनॉमेना है। उसके प्रामाणिक अस्तित्व का मापक मात्र उसकी मृत्यु की "स्वीकृति" तथा सभी सांसारिक सम्पदाओं का अस्थायित्व नहीं, उससे भी अधिक बहुत कुछ है। उसे उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य मोक्ष हासिल करने का प्रयत्न करना होता है जो जन्म-मृत्यु-चक्र को अनुभवातीत कर सके।"[15] शंकर के अनुसार इस जीवन के बाद भी अनेकों जीवन है। पुनर्जन्म एवं अनेकों जन्म तथा मरण की अवधारणा के कारण शंकर के दर्शन में "मृत्यु" सम्बन्धी चिन्ता एक नया रूप लेती है। मानवीय दुःख का हेतु सिर्फ सम्मुख स्थित मृत्यु न हो, अनेकों बार की मृत्यु है। मृत्यु तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी ऐसी मान्यता के कारण कर्म सम्बन्धी भारतीय अवधारणा, जो शंकर को भी स्वीकार है, मनुष्य को न केवल इस जीवन का नियामक बनाता है, बल्कि आने वाले जीवन का भी। "कर्म एवं पुर्नजन्म" के सिद्धान्त में विश्वास के कारण मनुष्य यहाँ स्वयं अपने स्वरूप का निर्माता है, नियति का नियामक है। जन्म, मृत्यु एवं जीवन का स्वरूप वह स्वयं अपने कर्मों द्वारा विनिर्मित करता है। शंकर के अनुसार मानव-अस्तित्व का अर्थ व नियति सम्बन्धी विमर्श सत्ता सम्बन्धी तत्त्वमीमांसात्मक विमर्श से जुड़ा हुआ है। सार्त्र स्वनिष्ठ सत् एवं स्वनिमित्त सत् रूप सत्ता के दो प्रकारों को स्वीकार कर अपनी सत्तामीमांसा प्रस्तुत करते हैं। वे तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों से बचते हैं जिसकी परिणति उनके द्वैतवादी सत्तामीमांसा में होती है। इसके विपरीत शंकर मानव नियति की समस्या को परमतत्त्व की मामांसा के रूप में लेते हैं, परिणामतः वे भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

सार्त्र अनुभवातीत वस्तुगत मूल्यों में विश्वास नहीं करते हैं। सारे के सारे मूल्य विषयिगत, आनुभविक, लौकिक तथा मानवीय हैं। सभी मूल्य मानव सापेक्ष हैं।

मनुष्य सभी मूल्यों का सर्जक है, अधिष्ठान है। मृत्यु मानव-अस्तित्व और साथ ही सारे मूल्यों का अन्त कर देती है। मूल्यों की मूल्यता मनुष्य द्वारा चुनी जाने में है। मृत्यु के परे मानवीय निरूद्देश्यता और मूल्यों की सापेक्षता के विपरीत शंकर मोक्ष को परम-मूल्य मानते हैं। परम-मूल्य रूप मोक्ष को मृत्यु समाप्त नहीं करती, बल्कि यह मृत्यु से भी परे है। शांकर मत सार्त्र के विपरीत मानव-अस्तित्व को अनुभव-जगत् तक ही सीमित नहीं मानता, मृत्यु उसका अन्त नहीं करती है। फलतः मानवीय एकाकीपन, असहाय्यता, आकस्मिकता तथा निरूद्देश्यता के दर्शन से शांकर वेदान्त उसे त्राण प्रदान करता है।

शंकराचार्य के दर्शन की प्रमुख विशेषता उनका जगत् मिथ्यात्व का सिद्धान्त है। जगत् के मिथ्यात्व से शंकर का क्या तात्पर्य है? जगत्-मिथ्यात्व को न तो सत्तात्मक दृष्टि से समझना चाहिए और न ज्ञानात्मक दृष्टि से। शंकराचार्य को ज्ञाता से भिन्न जगत् की सत्ता में अविश्वास नहीं है। वे ज्ञान के वस्तुवादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[16] ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद के भाष्य में वे बौद्धों के विषयिनिष्ठ विज्ञानवाद की जमकर आलोचना करते हैं।[17] पुनः जीवन्मुक्ति में विश्वास यह सिद्ध करता है कि जगन्मिथ्यात्व का उसके देश कालिक अस्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जब शंकर जगत् के मिथ्यात्व की बात कर रहे होते हैं तब वे वस्तुतः जगत् की मूल्यात्मक दृष्टि से सम्परीक्षा कर रहे होते हैं। जगत् की सत्ता में विश्वास वस्तुतः अविद्या की दृष्टि है। विद्या और अविद्या शंकर में मूल्य दृष्टियाँ हैं।[18] जगत् मिथ्यात्व को जगत् की निस्सारता, अयुक्तता, व्यर्थता के रूप में लेना चाहिये। जगत-मिथ्यात्व के सिद्धान्त पर शंकर कैसे पहुँचते हैं? एक रास्ता तो यह हो सकता है कि तत्त्व के स्वरूप का विश्लेषण किया जाए और यदि परमतत्त्व एक हो तो नानात्व रूप जगत् को मिथ्या कहा जाए। पर तत्त्व के अद्वैत की मान्यता तो हमारी पूर्वमान्यता मात्र हो सकती है, और इसके आधार पर जगत् सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा। अतः यह रास्ता ठीक नहीं होगा। वस्तुतः भारतीय दर्शन अपने स्वरूप में मूल्यवादी दर्शन है। दर्शनिक मतों का निर्धारण यहाँ जीवन एवं जगत् सम्बन्धी हमारी विभिन्न अनुभूतियों के आधार पर होता है। "तत्त्वमीमांसा पूर्ववर्ती है अथवा ज्ञानमीमांसा पूर्ववर्ती है" इस तरह का विवाद दार्शनिकों में रुचि का विषय रहा है। पर वास्तविक विवाद इस पर होना चाहिये कि तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा पूर्ववर्ती है अथवा मूल्यमीमांसा पूर्ववर्ती है। निस्सन्देह भारतीय विचारधारा के अनुसार द्वितीय पूर्ववर्ती होगी। शंकर सहित प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने जगत् एवं जीवन पर विचार विमर्श पुरस्सर अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है। जरा, मरण, भय, निराशा एवं दुःख से भरा जीवन तथा तर्कों से व्याख्यायित न हो सकने वाला जगत् उनको दार्शनिक अनुचिन्तन के लिये विवश करता है। जगत्

की अस्सारता एवं व्यर्थता का बोध प्राथमिक है। अनेकों जन्म एवं मृत्यु के चक्र में फँसे हुये तथा इच्छाओं की अनन्त श्रृंखला में बँधे हुये मानवीय अस्तित्व की दु:खात्मकता उसे जगत् की तथा जगत् में स्थित स्वयं उसकी व्यर्थता एवं अस्सारता को इंगित करती है। जगत् मिथ्यात्व से शंकर का तात्पर्य जगत् की व्यर्थता तथा निस्सारता के इसी बोध से है। यह बोध कोई तथ्यात्मक ज्ञान नहीं है।[19] जगत् मिथ्यात्व मूल्य की दृष्टि से है। जगत् की व्यर्थता उसकी आगन्तुकता के कारण है। जगत् आकस्मिक है। यह अपने होने का कोई कारण नहीं प्रस्तुत करता। व्यक्ति में जगत् की अस्सारता और व्यर्थता के प्रति यह बोध उसके इहामुत्रार्थफलभोगविराग तथा मुमुक्षुत्व रूप मनोवृत्तियों में अभिव्यक्त होती है जो कि वेदान्त के अधिकारी के लिये अपेक्षित साधन चतुष्टय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जगत् की व्यर्थता का यह बोध मनुष्य में आत्मानुसंधान को प्रवृत्त करता है। समस्त दार्शनिक चिन्तन इसी आत्म या मनुष्य का स्वयं अपने स्वरूप के प्रति अनुचिन्तनात्मक विमर्श है। मनुष्य, शंकर के लिये, जगत् में स्थित मनुष्य है। मनुष्य शुद्ध चैतन्य नहीं है। देहेन्द्रियादि तथा अन्त:करण से अवच्छिन्नता उसकी अनिवार्य विशेषता है। इसी प्रकार जगत् मात्र अनात्म नहीं, जड़ नहीं। जगद् आत्मअपेक्षापूर्वक अनात्म है। जगत् जगत् केवल मनुष्य के लिये है। इस अर्थ में यह मनुष्य द्वारा संरचित और अर्थान्वित है। आत्म और अनात्म का संश्लेषण जगद्भाव के लिये भी उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार जीव-भाव के लिये। यद्यपि मनुष्य "जगत् में स्थित् सत्" है, फिर भी वह पूर्णत: जागतिक नहीं है। जागतिकता में पूर्ण संविलयन न होने का कारण मनुष्य की चेतना या आत्मा है। यह सत्य है कि सामान्य अवस्था में इस चेतना को जगत् की, विषय की अपेक्षा रहती है, पर यह अनिवार्य नहीं है। पुन: विषयाभाव का अर्थ मनुष्य के लिये चेतनाभाव नहीं है।[20] मनुष्य की आत्मा का निराकरण सम्भव नहीं है। मनुष्य अपने अस्तित्व को नकार नहीं सकता है।[21] अस्तु, हम देखते हैं कि "जगत् में स्थित सत्" होने के बावजूद मनुष्य की सत्ता में कुछ है जो व्यर्थ नहीं है, निरुद्येश्य नहीं है, आधारहीन नहीं है, आकस्मिक नहीं है। मनुष्य की आत्मा ऐसी ही है। यह स्वयं ज्योति, स्वत: सिद्ध तथा स्वयं प्रकाश है। विभिन्न मनोदशाओं, मनोव्यापारों में अनुविद्यमान होता हुआ भी यह उनका आधार और सतत् विद्यमान है। इसके विपरीत मनुष्य की जगत् में अनेक अवस्थायें हैं, दशायें हैं। ये दशायें उसके लिये आगन्तुक हैं। स्वयं उसका देह उसकी आत्मा की दृष्टि से आगन्तुक है। आगन्तुक होते हुये भी देह या अनात्म अस्तित्ववान है, पर चूँकि यह अनिवार्य नहीं है अत: सत् नहीं है। सत्ता के लिये बाधित न होना अर्थात कभी भी अभाव का विषय न होना, ऐसा लक्षण किया गया है। यहीं आत्मा की विलक्षण स्थिति है। इसके विपरीत देहादि की आगन्तुकता इनके विनाश से स्पष्ट है। अनात्म को

हम आत्म से पृथक् रूप में उसके अस्तित्व के विश्वास में घटित कर सकते हैं। यह मनुष्य का "अज्ञान" है। यह अज्ञान बाह्य जगत् की पृथक् सत्ता में विश्वास है। अथवा हम कह सकते हैं कि यह आत्मा के संकोच की स्थिति है जिसके कारण तदितर दिखता है। यह संकोच अनादि है, प्रदत्त है। मनुष्य स्वयं को अज्ञान के बन्धन में बद्ध ही पाता है। यह अज्ञान, भ्रान्ति, अनात्म, नानात्व, अयुक्तता या माया सबसे बड़ा रहस्य है। यह सत् नहीं होते हुये भी अस्तित्ववान है—और यही रहस्य है। वैष्णव और शैव दर्शनों में परमसत् की जो कल्पना की गयी है, उसमें उसे इस रहस्य-शक्ति से युक्त माना गया है।[22] तैत्तिरीय आदि उपनिषदों के कुछ मन्त्रों[23] को आधार बनाकर यह कहा जाता है कि आनन्द और ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिये अनात्म-विषय-रहस्य है।[24] इस प्रकार अनात्म या माया के रहस्य की सप्रयोजनवादी व्याख्या की जाती है। पर शांकर वेदान्त के मत से यह सुसंगत नहीं है। माया हमारे लिये रहस्य बनी रहती है यदि तर्क द्वारा हम जगत् को समझने का प्रयत्न करते हैं।[25] हाँ, एक बार तत्त्वज्ञान के पश्चात कुछ भी रहस्य नहीं रह जाता।

मनुष्य अज्ञान की स्थिति में बद्ध है। वह स्वयं को अज्ञान के गर्त में गिरा हुआ ही पाता है। लेकिन यह स्थिति उसकी अनिवार्य स्थिति नहीं है, यह तो आगन्तुक है। उसका वास्तविक रूप तो उसका सच्चिदानन्द रूप स्वभाव है। "मनुष्य अमृत स्वरूप (एशेंश्यल) है, यद्यपि अधिकांश में वह अपने को उसके साथ तादात्म्य समझे रहता है जो मात्र आगन्तुक है, और उसी आगन्तुक को वह अमृतत्त्व और अपना स्वरूप माने रहता है।"[26] इस तरह शंकर के अनुसार भी मनुष्य स्थितिप्रदता और अतिक्रमण का, युष्मद् और अस्मद् का, अनात्म एवं आत्म का संश्लिष्ट रूप है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुये भी मनुष्य स्वरूपतः ब्रह्म है, आत्मा है। अनात्म मिथ्या है। फलतः अनात्म एवं अनात्ममिश्रित देहेन्द्रियान्तःकरणादि का अतिक्रमण और अपने वास्तविक रूप में अवस्थिति—यही मानव नियति है। संसार में मनुष्य की स्थिति को अहन्ता और सार्वभौमता के बीच, वास्तव और साध्य के बीच तथा आगन्तुक एवं अनिवार्य के बीच तनाव के रूप में देखा जा सकता है। शंकराचार्य शारीरक भाष्य की भूमिका में मनुष्य विषयक इसी स्वरूप और उपाधि के तनाव को विश्लेषित करते हैं और बताते हैं कि मनुष्य की आत्मा ही उसका वास्तविक स्वरूप है तथा अनात्म अनित्य है, आगन्तुक है तथा मिथ्या है। स्वस्वरूप का बोध कराना, अपनी नियति से परिचित कराना, आत्मैकत्व विद्या का प्रतिपादन ही वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है।[27]

शंकर के अनुसार "इतर" दुःख का, भय का कारण है। यह इतर आत्मेतर है। यह इतर दूसरा मनुष्य भी है तथा अनात्म जगत् भी। आत्म से इतर जो भी

है वह आत्म की सीमा है। सीमा, अल्पता स्वभावत: दु:खदायी होती है। इस दृष्टि से इतर हमारी अपरिच्छिन्नता, असीमितता, अनन्तता का बाधक है। अथवा हम कह सकते हैं कि यह हमारी स्वतन्त्रता का बाधक है। आत्मेतर की वस्तुत: सत्ता नहीं है, फिर भी अज्ञानवश वह दिखता है। अत: इतर की सत्ता नहीं अपितु उसकी प्रतीति ही शंकर में दु:ख है। चूँकि यह इतर हमारी भ्रान्ति है, अत: तज्जन्य सीमा, अल्पता भ्रान्ति है। फलत: दु:ख अन्तत: मायिक है, भ्रान्ति है। हमें इसके इस स्वरूप को समझना होगा। दु:खों के इस मायिक स्वरूप का बोध तथा अपने परमार्थ आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार मनुष्य की नियति है। यही उसका प्रामाणिक सत् है।

मनुष्य जो कि "जगत् में स्थित सत्" है, जगत् में स्थित होते हुये भी जगत् से अतीत है। जगत् में उसकी स्थिति देहेन्द्रियान्त:करणादि से युक्तता है। अन्त:करण की उपाधि से अवच्छिन्न होता हुआ चैतन्य ही जीव है। वस्तुत: वह देहेन्द्रियान्त:करण से अतीत है। चेतना अपने मूल स्वरूप में, शंकर के अनुसार, निर्विषयक है। चेतना के लिये विषय या अन्त:करणादि की विषयापेक्षा आवश्यक नहीं है। निर्विषयक चेतना की यह स्थिति व्यावहारिक जीवन में सुषुप्ति से सिद्ध है।[28] अत: प्रमातृ, प्रमाण अथवा प्रमेय रूप में चैतन्य की अवच्छिन्नता उसकी आगन्तुक स्थिति है। इनका-देहेन्द्रियान्त:करणादि उपाधि का-सीमित अहं का-अतिक्रमण अपनी स्वरूपावस्थिति के साक्षात्कार के लिये आवश्यक है। इस अर्थ में चेतना का स्वभाव उसकी निधर्मकता तथा अनिर्धार्यता का स्वरूप है। अत: शंकर सार्त्र के विपरीत मानव का एक स्वरूप स्पष्ट करते हैं जो कि वह मूल प्रतिमा है जिसका मनुष्य को पर्येषण करना है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य निहिलेटिंग प्रोजेक्ट है-उपलब्ध से असन्तोष और अनुपलब्ध के प्रति अनन्त पर्येषणा है। निरन्तर उपलब्ध आत्म का अतिक्रमण और नये पर्येष्य के प्रति पर्येषणा उसका स्वरूप है। शंकराचार्य के अनुसार परम पर्येष्य सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म है। निषेधात्मक दृष्टि से कहें तो मनुष्य का साध्य या प्राप्य विवर्ज्य का विवर्जन, अपने से व्यवधान का निवारण, अनात्म से मुक्ति है। चेतना की निधर्मकता सार्त्र को भी स्वीकार है। अपनी निधर्मकता एवं निस्स्वभावता के कारण ही यह स्वतन्त्रता है। पर सार्त्र के अनुसार यह पूर्णत: सत्त्वशून्य, नत्व है तथा इसमें स्वनिष्ठ सत् की पूर्णता, ठोसता तथा आत्मसंगति का नितान्त अभाव है। शंकर यह नहीं मानते। उनके अनुसार जो चित् है, वही सत् है।

सार्त्र के दर्शन का मूल आधार ब्रेन्टानो और हुसर्ल द्वारा पोषित चेतना की विषयापेक्षा का सिद्धान्त है जिसके अनुसार चेतना सदैव किसी विषय की चेतना है। इस विषयापेक्षा के सिद्धान्त को सार्त्र उसकी तर्कसंगत परिणति तक पहुँचाता

है। हुसर्ल अन्त में विषय को संरचित मान लेता है, और इस तरह "स्वयं वस्तुओं की ओर लौटो" का नारा नारा ही रह जाता है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी तथा अनुभवातीत आत्म की सत्ता स्वीकार कर हुसर्ल अतीन्द्रिय विज्ञानवाद की ओर बढ़ जाता है। जिस जगत् को वह कोष्ठीकृत करता है उसे पुनः उसकी सत्ता वह नहीं दिला पाता है। सार्त्र का "नॉशिया" हुसर्ल के इसी इपाकी के खण्डन के रूप में देखा जा सकता है। वस्तुजगत् की सत्ता हमारे ऊपर मानो कूद पड़ती है, इसके लिये किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है एवं न तो यह तर्क एवं बुद्धि से व्याख्येय है। सार्त्र सत् एवं प्रतीति के भेद को नहीं स्वीकार करते हैं।[29] उसके अनुसार जो प्रतीति है वही सत् है। फलतः प्रतीति के पीछे छिपे किसी अज्ञेय सत् की खोज करना उसका लक्ष्य नहीं है। अतः जो कुछ भी मानवीय चेतना में प्रतीत होता है, सार्त्र उससे ही आगे बढ़ता है। चेतना सदा किसी विषय की चेतना होती है तथा इस चेतना के साथ ही उसे स्वयं इस चेतना की भी चेतना रहती है। चेतना स्वभावतः प्राग्विमर्शी है। चेतना को अनिवार्यतः किसी विषय की चेतना कहकर[30] सार्त्र अपने द्वैतवादी सत्तामीमांसा की पूर्वपीठिका तैयार कर देता है। चेतना का अन्तर्तत्व वह है जो वह नहीं है। इस तरह चेतना को हमेशा अचेतन की पूर्वापेक्षा रहती है। चेतना अन्तर्तत्व के इसी निषेध के रूप में परिभाषित होती है। इस तरह सत्ता का दो रूप सामने आता है। चेतना जिसे कि सार्त्र स्वनिमित्त सत् कहता है, शून्य है, रिक्त है। यह निरन्तर स्व का अतिक्रमण है। स्वतन्त्रता इसका स्वभाव है क्योंकि यह सत्वशून्य है। यह स्वतन्त्रता या चेतना कोई गुण नहीं जिसके लिये किसी आत्म नामक द्रव्य की अपेक्षा होगी, बल्कि यह आत्म (अहम्) द्रव्य ही द्वैतियिक तथा वैश्व है एवं वास्तविक चेतना इसका अतिक्रमण।[31] स्वनिमित्त सत् के विपरीत स्वनिष्ठ सत् वह है जो है। यह स्वयं से सुसंगत, ठोस तथा पूर्ण है। इसी की सत्ता को-पूर्णता को–स्वनिमित्त सत् निरन्तर प्राप्त करना चाहता है, होना चाहता है। पर चूँकि मानवीय चेतना या स्वतन्त्रता निस्स्वभाव है, अतः वह अपने किसी भी अर्जित स्वरूप का निरन्तर अतिक्रमण है। यह, स्वनिष्ठ सत् की पूर्णता, ठोसता, सत्ता को पाने के साथ ही स्वयं अपने को वस्तु मात्र न बना अपने अतिक्रामी स्वभाव को भी बनाये रखना चाहती है। दूसरे शब्दों में यह स्वनिमित्त-स्वनिष्ठ सत् होना चाहती है। पर चूँकि यह लक्ष्य ही विरोधपूर्ण है क्योंकि स्वयं से संगति-पूर्णता-ठोसपन एवं स्वयं से असंगति-दूरी-अपूर्णता-अतिक्रामिता दोनों एक साथ संभव नहीं। अतः मनुष्य या मानवीय चेतना अन्ततः एक व्यर्थ वासना के रूप में सामने आती है, असफलता जिसकी अनिवार्य नियति है।

सार्त्रीय सत्तामीमांसा सत्ता का जैसा रूप प्रस्तुत करती है वही उन तीन अभिवृत्तियों के मूल में है जो मानवीय स्वरूप की नियति बनकर सार्त्र के दर्शन

में सामने में आती हैं। मानव-अस्तित्व दुश्चिन्ता, व्यर्थता तथा नॉशिया के बोध से आक्रान्त रहता है। दुश्चिन्ता का बोध मनुष्य के स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व की दुर्वहता से पैदा होता है। यह स्वतन्त्रता स्वनिमित्त सत् या चेतना की स्वभावशून्यता, सत्वशून्यता के कारण है। अयुक्तता या व्यर्थता का बोध अस्तित्वमात्र की आगन्तुकता और अबुद्धिपरकता के कारण जन्य है। सार्त्र के अनुसार सत्ता का स्वरूप बोधगम्य नहीं है, यहाँ वस्तुओं के होने का कोई कारण नहीं है। "नॉशिया" सार्त्रीय सत्तामीमांसा का अनिवार्य परिणाम है। आत्म से पृथक् अनात्म (स्वनिष्ठ सत्) की अनिवार्य सत्ता–स्वनिष्ठ सत् की स्वनिमित्त सत् से पृथक् स्वतंत्र, अपारदर्शी और ठोस रूप में सत्ता–सत्ता जो आत्म द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती और जो आत्म पर अपने (अनात्म के) अस्तित्व को बरबस आरोपित करती है, इंगित करती है–मनुष्य में "नॉशिया" के भाव को उत्पन्न करती है। नॉशिया के मूल में सार्त्र की यही द्वैतवादी सत्तामीमांसा है। वस्तुनिष्ठ जगत् की स्वनिष्ठ सत्ता तो हममें नॉशिया पैदा करती ही है, स्वयं हमारे स्वरूप में निहित हमारा शरीर भी हममें नॉशिया उत्पन्न करता है। सामान्यावस्था में चेतना सुख, दुःख, संतोष आदि में रत रहती है पर जब वह इनसे विमुख होती है तो उस समय "देह" की अनिवार्यता–उसका बेतुका और निष्ठुर अस्तित्व–हममें नॉशिया उत्पन्न करता है। अयुक्तता या व्यर्थता का बोध व्यक्ति की तथ्यता से जुड़ा होता है। व्यक्ति की तथ्यता कुछ ऐसे आकस्मिक तथ्यों का समूह है जो उसके बारे में और केवल उसके बारे में सत्य है। जैसे व्यक्ति का किसी देश-काल रूप विशेष से, परिवार विशेष से सम्बद्ध होना। अब इसके पीछे कोई युक्तता नहीं है कि व्यक्ति क्यों उसी देश-काल, परिवार एवं रूप विशेष से सम्बद्ध है। व्यक्ति "जैसा है" उस रूप में होने के पीछे कोई प्रयोजन नहीं है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वनिमित्त सत् है। वह वह है जो वह नहीं है तथा वह नहीं है जो वह है। चेतना की अहंशून्यता तथा निर्धर्मकता उसके स्वतन्त्र रूप को दर्शाती है। अब यदि मनुष्य का कोई स्वरूप नहीं है तो वह स्वयं अपने स्वरूप का विनिर्माता है। "अस्तित्व सार का पूर्वगामी है" इस महत्त्वपूर्ण उक्ति का यही अर्थ है कि मनुष्य स्वयं अपनी रचना करता है। उसका कोई पूर्व निर्धारित स्वरूप नहीं है। सार्त्र मनुष्य की निरपेक्ष स्वतन्त्रता में विश्वास करते हैं। मनुष्य स्वयं सारे मूल्यों का स्रष्टा है। उसका चयन ही मूल्यों को मूल्यवत्ता प्रदान करता है। अपनी स्वतन्त्रता के सम्मुख मनुष्य नितान्त अकेला है। दूसरा मनुष्य, समाज अथवा ईश्वर कोई उसकी इस विषय में मदद नहीं कर सकता। मनुष्य को स्वयं अपना निर्माण करना है तथा जगत् को अर्थ प्रदान करना है। स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व का बोध

मनुष्य में दुश्चिन्ता पैदा करता है और मनुष्य इससे बचने के लिये दुरास्था के रूप में विभिन्न आत्म-प्रवंचनाओं का शिकार होता है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। मनुष्य की कोई पूर्वनिर्धारित नियति नहीं है। वह निरन्तर स्व का निर्माण कर रहा है। सार्त्र मनुष्य की कोई आदर्श प्रतिमा नहीं बताते जिस रूप में उसको "स्व" का निर्माण करना है। हर व्यक्ति अपने अपने ढंग से "स्व" का निर्माण कर रहा है। "एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म" में सार्त्र कुछ काण्ट के ढंग से प्रतिमा की सार्वभौमिकता की बात करते हैं और कहते हैं कि हम स्वयं के लिये वैसी ही प्रतिमा चाहते हैं जैसा कि हम चाहते हैं कि वह अन्यों का हो। पर सार्त्र स्वयं ही अपनी इस रचना को भूल बताते हैं। इस तरह सार्त्र के दर्शन में किसी सामान्य मापदण्ड की संभावना नहीं बनती। पुनः निर्मित प्रतिमा या स्व का प्रत्याख्यान करना मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है। इस तरह सार्त्र के मत में मनुष्य एक निरन्तर प्रक्रिया है, परियोजना है—आत्म निर्माण और उसके प्रत्याख्यान तथा अतिक्रमण की। अब यदि मानव प्रतिमा (इमेज) की कोई वस्तुपरक प्रामाणिकता नहीं है, मनुष्य के सामने ऐसा कोई आदर्श या प्रतिमा नहीं जिस रूप में उसे आत्म का सर्जन करना है, तो मनुष्य की यह स्वतन्त्रता क्या स्वैरिणी नहीं हो जाती? एक चोर अथवा एक कवि जिस भी रूप में हम अपने को स्वतन्त्रपूर्वक ढालें, बराबर महत्त्व रखता है। जहाँ तक स्वतन्त्रता के लिये प्रतिमा-प्रत्याख्यान की अनिवार्यता पर बल दिया जाता है, सार्त्र की इस सम्बन्ध में गलत व्याख्या की गयी है।[31] सार्त्र का तात्पर्य मात्र यह कहने से है कि मनुष्य अपने द्वारा निर्मित अपनी प्रतिमा से ही निर्धारित न होने लगे तथा उसको एक वस्तुनिष्ठ आदर्श समझ उसी से चिपका न रह जाए। अन्ततः उस प्रतिमा का महत्त्व तो उसके द्वारा उसके चुने जाने में ही है। सार्त्र का तात्पर्य यहाँ मात्र मनुष्य की आत्यन्तिक स्वतन्त्रता तथा उसकी सत्वहीनता एवं रिक्तता को बताने से ही है।

सार्त्र के सम्पूर्ण दर्शन का मूलभूत बिन्दु है—मानवीय स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता का प्रत्यय मानव सत्ता की शून्यता से जुड़ा हुआ है। मानव अस्तित्व या चेतना स्वभावतः शून्य है। विभिन्न क्रियाओं, योजनाओं में अभिव्यक्त होते हुये भी वह इनसे अतीत है, वह इनसे अपने को पृथक् कर लेती है। मानवीय चेतना की यह निधर्मकता या शून्यता ही उसकी अतिक्रामिता या स्वतन्त्रता है। वह निरन्तर स्व का अतिक्रमण है। अतः अपने किसी क्रिया या रूपविशेष से तादात्म्य उसका 'पतन' है। शंकर के अनुसार भी आत्मा "नेति नेति" द्वारा इंगित होती है। चेतना की किसी तरह की विषयता शंकर को स्वीकार नहीं है और न ही वह किसी तरह की विषयापेक्षा

को स्वीकार करते हैं। चेतना की निधर्मकता स्वीकार करने के बावजूद शंकर उसकी सत्शून्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। वह सत् एवं चित् दोनों है तथा किसी भी प्रकार की सीमा-अल्पता से अतीत होने से अनन्त है, आनन्द स्वरूप है। इस अर्थ में शंकर के लिये स्वतन्त्रता एक भावात्मक स्थिति है। शंकर के दर्शन में मुक्ति या स्वातन्त्र्य की अवधारणा एक कूटस्थ आत्मा की अवधारणा से जुड़ी हुयी है।[32] आत्मा की जीवभावापन्नता जो कि व्यवहार है, बन्धन है। यह बन्धन जो कि आत्मा की कथित सीमा है, संकोच है, वस्तुतः भ्रामिक है। मुक्ति या स्वातन्त्र्य कूटस्थ नित्य एवं स्वरूपसिद्ध है। तथाकथित बन्धन-मोक्ष अज्ञानजन्य है। शंकर के अनुसार भी मानव-अस्तित्व की एक प्रामाणिक स्थिति है और एक अप्रामाणिक। व्यक्ति की प्रामाणिक स्थिति वह है कि जिसमें वह अपने स्वस्वरूप के ज्ञान पूर्वक नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तावस्था का साक्षात्कार कर लेता है। प्रो०जी० श्रीनिवासन भारतीय दर्शनों की मुक्ति या स्वातन्त्र्य की अवधारणा एवं सार्त्र-हाइडेगर की स्वतन्त्रता विषयक अवधारणा में मौलिक भेद बताते हुये कहते हैं कि सार्त्र-हाइडेगर का दर्शन परिच्छिन्नता व सीमा का दर्शन है। वे मृत्यु को मानव-अस्तित्व की समाप्ति के रूप में देखते हैं और इस आनुभविक सत् से परे अत्यानुभविक क्षेत्र में अतिक्रमण को स्वीकार नहीं करते। एक पारमार्थिक आत्म की-इन्द्रियातीत आत्मा की-सत्ता अस्वीकार कर ये दार्शनिक मानवीय अस्तित्व को मृत्यु से सीमित मान लेते हैं। मृत्यु से परे इसकी कोई अर्थवत्ता नहीं रहती। स्वतन्त्रता, उनके मत में, व्यवहार या इन्द्रियानुभव के क्षेत्र तक ही सीमित रहता है।[33] सार्त्र के दर्शन में स्वतन्त्रता मात्र आनुभविक या व्यावहारिक जीवन के स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गये कार्ययोजनाओं, चुनावों, वरणों तक ही सीमित रह जाता है जिसे अन्ततः मृत्यु के द्वार पर समाप्त हो जाना होता है। मृत्यु आदि द्वारा निरर्थक सिद्ध जीवन में अपने विभिन्न कार्ययोजनाओं, निर्णयों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक वरण ही वहाँ स्वतन्त्रता है। इस तरह के प्रामाणिक अस्तित्व का स्वयं इसके अतिरिक्त कोई पुरस्कार नहीं।[34] इसीलिये स्वतन्त्रता वहाँ दुस्सह होती है तथा दुश्चिन्तापरक भी, पर इन्हें स्वीकार करना ही स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत शंकर के दर्शन में स्वतन्त्रता तात्त्विक एवं देशकालातीत है, जबकि सार्त्र में यह व्यावहारिक एवं कालिक है। स्वतन्त्रता का अर्थ यहाँ मात्र नैतिक संकल्पों में अभिव्यक्त होने वाली स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु यह तो मनुष्य के मूलभूत "आत्मा" की स्वतन्त्रता है। अतः यह मृत्यु द्वारा परिच्छिन्न न हो, इससे परे की स्थिति है। प्रामाणिक अस्तित्व इसी स्वरूप भूत आनन्दात्मा के अनुभव में फलित होती है। अतः नैतिक जीवन एवं प्रामाणिक अस्तित्व "व्यवहार" में स्थित स्वतन्त्रता के परिचायक हैं। इनका महत्त्व तो मूलभूत स्वतन्त्रता की प्राप्ति कराने में है जो कि हमें सर्वदा उपलब्ध है पर जिसे हम अज्ञानवश भूले हुये हैं।

सार्त्र मानव-स्वतन्त्रता की पूरी तरह आनुभविक, निराशाजनक और निषेधात्मक तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। वे विषयिता या चेतना को पूर्णतः निषेध के रूप में परिभाषित करते हैं। मानवीय चेतना या स्वतन्त्रता की निषेधात्मक अवधारणा प्रस्तुत करने के कारण सभाजीत मिश्र सार्त्र के मनुष्य और स्वतन्त्रता विषयक विचार को संतोषजनक नहीं पाते हैं।[35] स्वनिमित्त सत् निरन्तर स्व का निषेध एवं अतिक्रमण है। स्व के या विषयता के अतिक्रमण से हम चेतना की रिक्तता की अवस्था में नहीं पहुँचते हैं, बल्कि एक भावात्मक चेतना के स्तर पर पहुँचते हैं जिसका कि अद्वैत में उल्लेख है। चेतना की स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र विषयता का अतिक्रमण और निषेध नहीं हैं, अपितु यह स्वतन्त्रता या चेतना एक भावात्मक स्थिति होनी चाहिये। जैसा कि सभाजीत मिश्र लिखते हैं "सार्त्र इस बात को समझने में असफल रहे कि चेतना के निषेधीकरण वाले पक्ष के अतिरिक्त इसका एक भावात्मक पहलू भी है। सार्त्र की इस असफलता के कारण, असफलता मानव यथार्थता का परिभाषेय लक्षण बन जाता है।"[36] यहीं पर हमें शंकर की विशेषता दिखती है। शंकर के लिये भी मुक्ति या स्वतन्त्रता चेतना की अपने समस्त विषयता से मुक्ति है। वह किसी भी तरह के विषयकृत बन्धन से नितान्त असम्पृक्त है। चेतना के निर्गुण, निर्विशेष और विषयता से अतीत होने का यह अर्थ नहीं है कि वह सत् से भी शून्य या रिक्त होने की स्थिति है। अपितु यह सत्, चित् की स्थिति है, या कहिये कि यह सच्चिदानन्द की स्थिति है। इसके विपरीत सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र होते हुये भी अपनी सत्ता का आधार नहीं है। सत्ता की ठोसता, पूर्णता, स्वयंभू-आधारता, अथवा स्वयं सत्ता का उसमें अभाव है। इनके अभाव या रिक्तता के कारण ही तो वह स्वतन्त्र है। इस तरह सार्त्र के मत में मानवीय स्वतन्त्रता एक निरर्थक वासना के रूप में सामने आती है। उनके दर्शन में मनुष्य का जो स्वरूप उभरकर आता है वह बहुत निराशाजनक है। "मनुष्य एक निरर्थक वासना है।" अर्थात् मनुष्य अपने एकाकी, रिक्त और शून्य चेतना के रूप में अस्तित्ववान होने के लिये अभिशप्त है, वह सत्ता की पूर्णता, ठोसता और स्वयंभू-आधारता के स्वभाव को नहीं पा सकता।

"सार्त्र के लिये मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता मानवीय यथार्थता का सार है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के सम्मुख बिल्कुल अकेला है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता का कोई अत्यानुभविक स्रोत नहीं है। यह सार्त्र की मानव-स्वतन्त्रता की धारणा में निराशा का पुट लाता है........। मनुष्य स्वतंत्र है और पूर्ण स्वतन्त्र है, पर उसकी स्वतन्त्रता मानवीय दुःखों और कष्टों का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह दुःखों के सम्मुख स्वतन्त्रता है। दुःख सार्त्र के अनुसार मानवीय यथार्थता की अनिवार्य विशेषता है।"[37] सार्त्र के विपरीत शंकर की विषयिता या स्वतन्त्रता की

अवधारणा सकारात्मक अवधारणा है। यह सच्चिदानन्द की स्थिति है। मनुष्य परमार्थत: इसी सच्चिदानन्द स्वरूप का है। अज्ञानवश वह इसे भूले हुआ है। आत्मबोध समस्त दु:ख, सीमा, अलगाव, भय से मुक्ति है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। मनुष्य की यह निरपेक्ष स्वतन्त्रता उस पर उत्तरदायित्व का दुर्वह बोझ लादती है। अपनी स्वतन्त्रता के सम्मुख मनुष्य निपट अकेला है। ईश्वर, समाज, दूसरा अथवा स्वयं उसका स्व उसे उसके चुनाव, वरण या कार्य योजना में कोई मदद नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं अपना निर्माता है और वही जगत् का निर्माण करता है, उसे अर्थ देता है। वही समस्त मूल्यों का स्रोत एवं उनका जनक है। स्वतन्त्रता जन्य यह दायित्व मनुष्य में दुश्चिन्ता उत्पन्न करता है। मनुष्य इस दुश्चिन्ता से बचने के लिये नाना दुरास्थाओं का शिकार होता है। इस तरह सार्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता दुश्चिन्तापरक है। अपनी स्वतन्त्रता का अनुचिन्तनात्मक विमर्श, उनके अनुसार, दुश्चिन्ता है। जिस स्वतन्त्रता को सार्त्र अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाते हैं वह दुश्चिन्ता परक है। सार्त्र के विपरीत शंकर के मत में स्वतन्त्रता या मुक्ति आनन्द है। स्वस्वरूप का बोध दुश्चिन्तापरक न हो शंकर के अनुसार आनन्द रूप है। इस अर्थ में शंकराचार्य सार्त्र के निराशावाद के स्थान पर आशा का सन्देश देते हैं। सार्त्र के स्वतन्त्रता विषयक मत में एक विरोध यह है कि हमारी अप्रामाणिक स्थिति–स्थिति जिसमें हम दुरास्थापूर्वक जीवन जीते हैं–दुश्चिन्ताप्रद स्वतन्त्रता की स्थिति से अधिक शान्तिदायक स्थिति है। स्वतन्त्रता की वरेण्यता के पीछे मात्र यह तर्क है कि यह हमारी स्वरूपस्थिति है तथा सत्य चाहे कितना भी कटु क्यों न हो, आत्मप्रवंचना रूप असत्य से वरेण्य है। इसके विपरीत शंकर के अनुसार अप्रामाणिक स्थिति या बन्धन जो कि अपनी स्वतन्त्रता का विस्मरण है, दु:खात्मक है, जबकि स्वतन्त्रता "आनन्द" की अवस्था है, आनन्द है। अत: आनन्द रूप स्वतन्त्रता की वरेण्यता स्वयं सिद्ध है।

सार्त्र के "स्वतंत्रता" एवं "आत्मसर्जन" सम्बन्धी विचारों पर एक अन्य आपत्ति भी की जाती है। वह आपत्ति यह है कि स्वतन्त्रता जन्य उत्तरदायित्व के प्रति हमारी प्रतिबद्धता की व्याख्या वह नहीं कर पाते हैं और न ही वह "आत्म सर्जन" के लिए किसी प्रतिमा या आदर्श की बात करते हैं जिस रूप में हमें अपना सृजन करना है। अब हम चोर बने या लेखक यह बात समान महत्त्व रखता है क्योंकि प्रतिमा की कोई वस्तुमूलक प्रामाणिकता नहीं है। यशदेव शल्य कहते हैं[38] "स्वतंत्र मनुष्य तत्त्वरहित अस्तित्व है–जगत् में शून्य से धकेला हुआ, किन्तु तब उस प्रतिबद्धता के लिये, जिसे सार्त्र इतना महत्त्व देता है, क्या आधार होगा? मैं क्यों अपने कार्यों के परिणामों का उत्तरदायित्व स्वीकार करूँ? इसका उत्तर सार्त्रीय अस्तित्ववाद

नहीं दे सकता।" उसी पुस्तक में शल्य जी आगे लिखते हैं "किन्तु प्रश्न होगा, किस प्रतिमा (इमेज) या आदर्श के अनुसार आत्म का सर्जन करना है, क्योंकि यदि प्रतिमा की कोई वस्तुमूलक प्रामाणिकता नहीं है, तो वह किसी के लिये भी विश्वासप्रद नहीं हो सकती, वह केवल एक कपोल कल्पना अथवा यावद्-व्यवहार के लिये स्वीकृत नियम जैसी बात ही हो सकती। इसी प्रकार "उत्तरदायित्व" के लिये भी—मेरे उत्तरदायित्व का स्रोत और लक्ष्य क्या होगा? मैं समझता हूँ कि सार्त्र और उसके अनुयायियों के पास इसका कोई विश्वासप्रद उत्तर नहीं है।"[39] सार्त्र पर यह आपत्ति ठीक ही प्रतीत होती है क्योंकि सार्त्र के अनुसार मनुष्य का कोई स्वरूप नहीं है और मानव-अस्तित्व सत्वहीन है। इसके विपरीत शंकर मनुष्य को स्वतन्त्र एवं मुक्त स्वरूप मानते हुये भी "स्वरूपहीन" नहीं मानते हैं। मनुष्य ब्रह्मस्वरूप है, आनन्दरूप है और इस अर्थ में उसका स्वातन्त्र्य भाव रूप है। मनुष्य की इस "स्वरूपभूत" स्थिति को मानने से मानव-स्वातन्त्र्य तथा आत्म-सर्जन दोनों की वेदान्त की दृष्टि से व्याख्या हो जाती है। मनुष्य स्वरूपतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म स्वरूप है। अज्ञानवश वह अपने को सीमित, अल्पज्ञ, अशक्त और दुःखी समझे हुये है। मनुष्य की इस स्वरूप स्थिति को स्वीकार कर जहाँ शंकर स्वतन्त्रता के प्रति कमिटमेन्ट की व्याख्या कर सकने में समर्थ होते हैं और आत्मसर्जन के लिये एक आदर्श दे पाते हैं, वहीं जीवन में आचरण के लिये भी एक दिशानिर्देश देने में समर्थ हो पाते हैं। इस तरह एक तरह के नीतिशास्त्र की भी संभावना वेदान्त में बन पाती है जबकि सार्त्र स्वतन्त्रता की ऐसी निषेधात्मक व्याख्या करते हैं कि किसी तरह के नीतिशास्त्र की संभावना वहाँ नहीं बनती।

उपनिषद् एक स्वर से कहते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से समस्त शोक एवं भय दूर हो जाते हैं।[40] दुःख "जगत् में स्थित मानव" की मूलभूत संरचना में है और इसका कारण मानव-अस्तित्व के परमार्थ सत् कूटस्थ आत्म का विस्मरण है। मनुष्य स्वयं अपनी सत्ता का आधार होना चाहता है, पर दृश्यमान मानव-अस्तित्व स्वयं को ऐसा नहीं पाता, फलतः वह दुःखित होता है। अतः दुःख बाह्य कारणों से जन्य सुख-दुख की अपेक्षा कहीं अधिक तात्त्विक एवं मौलिक है। मनुष्य का यह दुःख या जगत् की दुःखात्मकता जगत् और मानव-अस्तित्व की क्षणिकता, सीमितता, आगन्तुकता एवं निरर्थकता को प्रकट करती हैं। शंकर के अनुसार दुःख के स्वाभाविक होते हुये भी प्रामाणिक अस्तित्व का अर्थ दुःख का सामना करना नहीं अपितु अपने को सुख-दुःख से अतीत समझना है। अतः शंकर दुःखात्मक स्थिति को स्वीकारने की नहीं अपितु उसके निरास की बात करते हैं। वेदान्त के अनुसार प्रामाणिक अवस्था स्थितप्रज्ञ या साक्षी की है जो कि सुख-दुःख से अतीत है। अद्वैत मत में न तो मृत्यु मानव-अस्तित्व की समाप्ति है और न दुःख

उसका वास्तविक एवं आत्यन्तिक स्वरूप। दुःख अपने स्वरूपभूत स्वरूप को भूलने का परिणाम है। हाँ, यह विस्मरण अवश्य अनादि है।

चूँकि शंकर के अनुसार मनुष्य ब्रह्मस्वरूप है, वह कूटस्थ नित्य देशकालातीत विभु है, अतः मनुष्य का "पतन" एक तत्त्वमीमांसीय या आध्यात्मिक तथ्य है, न कि नैतिक, जैसा कि सार्त्र के दर्शन में दिखता है। "मानव-अस्तित्व" ही शंकर के मत में बन्धन या "पतन" है, न कि उसकी किसी अवस्था विशेष में स्थिति।

सार्त्र के अनुसार मानव-अस्तित्व एक इच्छा है—इच्छा है कुछ होने की—होकर यह पुनः स्वंय को उससे विलग कर लेती है तथा कुछ और इच्छा करती है, नई योजना बनाती है। यह इच्छा मूल में ईश्वर होने की इच्छा है। सार्त्र इच्छाओं से परे होने की बात नहीं देख पाते हैं। शंकर के अनुसार यह सम्भव है, क्योंकि इच्छायें अविद्याजन्य हैं। शंकर कार्यों, योजनाओं, इच्छाओं से परे होने की बात देख पाते हैं क्योंकि यह मानव की स्वतन्त्रता का लक्षण न हो उसकी देहाबद्धता के कारण है। श्रेय सम्बन्धी अविवेक ही मनुष्य को बाह्य जगत् में सुख-सन्तोष तथा तृप्ति देखने के लिये विवश करता है, जबकि सत्य यह है कि "आनन्द" कहीं बाहर नहीं बल्कि स्वयं अपने में छिपा है। स्वस्वरूप के बोध से मनुष्य इच्छाओं-कामनाओं के इस दुःखगर्भित संसार से मुक्त हो जाता है।

शंकर एवं सार्त्र में इस अर्थ में समानता है कि दोनों ही जीवन की दुःखात्मकता पर बल देते हैं। जीवन को दुःख रूप मानने से ही व्यक्ति प्रामाणिक अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है। शंकर सार्त्र के विपरीत यहीं पर रुकने को न कहकर दुःख के मूल तक जाने को कहते हैं एवं इसके निदान की बात करते हैं।[41] शंकर पाते हैं कि यह दुःख वस्तुतः आत्म-अज्ञान के कारण है। मनुष्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" स्वरूप है, चिदानन्द स्वरूप है।

सार्त्र के अनुसार मनुष्य जो कि स्वनिमित्त सत् है, एक शून्य है, रिक्तता है, अभाव है। स्वनिमित्त सत् सत्ता के अभाव के रूप में परिभाषित की जाती है। स्वनिमित्त सत् ऐसी सत्ता है जिसके होने में स्वयं इसकी सत्ता एक पर्येष्य सत् के रूप में प्रश्नचिह्न से युक्त होती है। स्वनिमित्त सत् अथवा मानवीय चेतना अवस्तुत्व है, सत्ता का अभाव है, सत्ता में छिद्र है। चेतना सदैव किसी की चेतना होती है, इस "किसी के" अभाव में वह अवस्तुत्व हो जाती है। चेतना का यही अवस्तुत्व उसकी स्वतन्त्रता है। चेतना सत्ता का अभाव होने के कारण ही स्वतन्त्र है। सार्त्र कहते हैं "स्वनिष्ठ सत् चुनाव करती है क्योंकि यह अभाव है, स्वतन्त्रता और अभाव समानार्थी है।"[42] चेतना के विपरीत स्वनिष्ठ सत् एक पूर्णता है, स्वयं से

एकाकारता है। वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार है। वह अपारदर्शी सत्ता है। उसमें भीतर और बाहर का कोई भेद नहीं है, वह ठोस है। उसमें कोई दरार नहीं है, अलगाव नहीं है। वह पूर्ण संश्लेषण है, अपने साथ अपना संश्लेषण। दूसरी ओर चेतना रिक्तता है, अभाव है, स्वयं से अलगाव है। चेतना में यह अभाव या कमी सत्ता की है। अतः मनुष्य या मानवीय चेतना इसी सत्ता की कमी है–उसी की इच्छा है।[43] सार्त्र के दर्शन में मनुष्य एक योजना है, इच्छा है। यह इच्छा या योजना उस चीज की है जिसकी उसमें कमी है अर्थात् स्वनिष्ठ सत् की सत्ता की।[44] चेतना का आविर्भाव ही एक न के रूप में-अभाव के रूप में-निषेध के रूप में होता है, और निषिद्ध स्वनिष्ठ सत् तथा पर्येष्य स्वनिष्ठ सत् के बीच अभाव रूप में यह स्थित रहती है। निषेध का वस्तु तथा उद्देश्य स्वनिष्ठ सत् होता है।[45] इस तरह मानवीय सत् या चेतना जो कि एक कमी है, अभाव है, अपूर्णता है, अलगाव है, स्वनिष्ठ सत् की तरह होना चाहती है। यह उसकी तरह ठोस, पूर्ण और स्वयं से एकाकार सत् होना चाहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वनिष्ठ सत् के समान जड़, पूर्ण, ठोस होकर अपने अतिक्रामी और स्वतन्त्र स्वरूप को गँवाना चाहती है। वह एक साथ ही स्वनिष्ठ सत् की तरह ठोस, पूर्ण, स्वयं से एकाकार सत्ता होना चाहती है, साथ ही स्वयं के रूप को बनाये रखना चाहती है।[46] मनुष्य एक साथ 'स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत्' होने की इच्छा के रूप में सामने आता है। मनुष्य की मौलिक योजना, उसकी मूल कामना स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् होने की है–स्वयंप्रकाश विश्वरूप होने की है जो कि स्वयं अपनी सत्ता का आधार है। चेतना स्वाधार एवं स्वयंभू होना चाहती है। पर इस तरह का स्वाधार एवं स्वयंभू सत् तो ईश्वर है। 'स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत्' सार्त्र के मत में ईश्वर है। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य होने का अर्थ ईश्वर होने की इच्छा वाला होना है। सार्त्र कहते हैं "मनुष्य होने का अर्थ ईश्वर होना है–अथवा हम कह सकते हैं कि मनुष्य मूल रूप से ईश्वर होने की इच्छा है।"[47]

इस तरह संसार में मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर होने की इच्छा के रूप में सामने आता है। समस्त मानवीय कार्यव्यापार एवं योजनाओं के पीछे मनुष्य की इस मौलिक योजना को देखा जा सकता है। मानवीय इच्छा क्या सिद्ध करती है? हम कुछ 'करना' या कुछ 'पाना' अथवा कुछ 'होना' चाहते हैं।[48] जगत् में मनुष्य के अस्तित्व क़ो मानवीय व्यवहार के तीन रूपों में विघटित किया जा सकता है। इसमें भी कार्यों को कुछ "पाने" की इच्छा के रूप में विघटित किया जा सकता है। हम कुछ निर्माण करते हैं–सृजन करते हैं और ऐसा करके कुछ "पाना" चाहते हैं। इस तरह मानव-अस्तित्व को कुछ "पाने" और "होने" में विघटित किया जा सकता है। ज्ञान, प्रेम, कला, खेल, उदारता आदि सभी मानव-व्यापार वस्तुतः

''अधिगत करने'' के, "पाने" के विभिन्न प्रकार हैं। इन सभी में मनुष्य कुछ चीज प्राप्त करता है, उन्हें "अपना" बनाता है। इनको पाने की इच्छा इनसे एकरूप होने की इच्छा है। एवं प्रकारेण मनुष्य जगत् को अधिगत करना चाहता है, उससे एकरूप होना चाहता है। वह ईश्वर होना चाहता है–ईश्वर जो कि अपनी सत्ता में वस्तु जगत् को समाहित किये हुये है–ईश्वर जो कि स्वयंभू एवं स्वाधार है। इस तरह "अधिगत करने" या "पाने" की इच्छा को भी स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् होने की मूल सत्तामीमांसीय परियोजना की स्थूल अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। मनुष्य मूलतः ईश्वर होने की इच्छा है। सत्तामीमांसीय दृष्टि से ऐसी स्थिति होने पर भी हर मनुष्य स्वतन्त्र है कि वह कैसे अपने आनुभविक जीवन में इस मौलिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। अपनी-अपनी मूर्त इच्छाओं द्वारा हर व्यक्ति कैसे उस मौलिक योजना को चरितार्थ कर रहा है, यह उसका व्यक्तित्व निर्माण करता है। सार्त्र कहते हैं "इस तरह मेरी स्वतन्त्रता ईश्वर होने का चयन है और मेरे सभी कार्य-व्यापार तथा योजनायें इसी चयन की अनुकृति हैं और हजार एक ढंग से इसी को प्रतिबिम्बित करती हैं।"[49]

लेकिन क्या मनुष्य की मूलभूत योजना अथवा वरण सफलता को प्राप्त होती है? हम देख चुके हैं कि स्वनिमित्त सत् या चेतना बिना अपना स्वरूप त्यागे स्वनिष्ठ सत् नहीं हो सकती। मानवीय चेतना निरन्तर स्वयं अपना ही अतिक्रमण है, रिक्तता है। वह अपना स्वरूप त्यागे बिना स्वनिष्ठ सत् की सत्ता को नहीं पा सकती। अतः स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् की अवधारणा व्याघात ग्रस्त है। पूर्ण सन्तुष्ट तथा स्वाधार-स्वयंभू चेतना असंभव है क्योंकि चेतना का लक्षण ही है अपूर्णता तथा इसका नत्व। इसीलिये सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य की मूल कामना-ईश्वर होने की कामना-व्यर्थ की कामना है। मानवीय मूल योजना असफलता को प्राप्त करने के लिये अभिशप्त है। चूँकि ईश्वर का प्रत्यय ही विरोधग्रस्त है, अतः ईश्वर होने की उसकी मौलिक योजना अपने स्वरूप में ही असफलता को धारण किये हुये है। मनुष्य एक असंगत और आत्मव्याघाती आदर्श को साकार करने की वृथा वासना के रूप में सामने आता है। "....... मनुष्य की वासना ईसामसीह की वासना के विपरीत है, इस विश्वास से कि ईश्वर का जन्म होगा मनुष्य स्वयं के मनुष्य रूप को खो देता है, पर चूँकि ईश्वर की अवधारणा आत्मविरोधी है, अतः हम व्यर्थ ही अपने को खोते हैं। मनुष्य व्यर्थ की वासना है।"[50] इस तरह "बीइंग एण्ड नथिंगनेस" का अन्त सार्त्र मनुष्य की निराशाजनक नियति के चित्रण के साथ करते हैं। मनुष्य की मूलभूत योजना या चयन के असफलता गर्भित होने से मनुष्य एक व्यर्थ वासना के रूप में सामने आता है। उसके समस्त आनुभविक व्यापार-कार्ययोजना-वरण इस मूल योजना के असफल होने से असफलता की नियति के लिये अभिशप्त

हैं। मनुष्य का अस्तित्व एक व्यर्थ तथा अभिशप्त अस्तित्व के रूप में सामने आता है। इस दृष्टि से समस्त मानवीय गतिविधियाँ तथा कार्यकलाप भी समान रूप से असफलता की नियति के लिये अभिशप्त हैं, क्योंकि मनुष्य की मूलभूत योजना-स्वयंभू व स्वाधार चेतन होने की योजना-सफल नहीं हो सकती।

हमने देखा कि सार्त्र के अनुसार सारा का सारा मानवीय व्यापार-उसकी इच्छायें, योजनायें, कर्म और ज्ञान तथा उसके समस्त प्रयास के मूल में स्वयं को पूर्ण करने का प्रयास है। यह स्वनिमित्त सत् की एक साथ ही स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् होने की इच्छा है-यह स्वयंभू होने की इच्छा है-ईश्वर होने की इच्छा है। धन-सम्पत्ति-ज्ञान ये सब के सब आत्म विस्तार और आत्म आधार की तलाश के एक ढंग विशेष हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि ये मत समझना कि पत्नी पति को इसलिये प्रिय है कि वह पत्नी है, अपितु यह आत्म को प्रेम करने का एक तरीका है। इसी प्रकार धन-धान्य, पति-पत्नी, पुत्र-पौत्रादि स्वयं में प्रेमास्पद नहीं हैं, अपितु वास्तविक प्रेमास्पद तो आत्मा है। वस्तुतः देखा जाए तो उनकी प्रेमास्पदता एक तरह का अध्यास है। याज्ञवल्क्य हमारी बाह्य गतिवधियों तथा व्यवहारों के पीछे छिपे मूल योजना की और इशारा करते हैं और बताते हैं कि आत्मा सबसे अधिक प्रेमास्पद है और हमारी विभिन्न कार्य-योजनायें वस्तुतः आत्म-प्रेम की ही "विकृत" अभिव्यक्ति हैं। मैत्रेयी वहाँ[5] भी प्रश्न उठाती है कि जीवन के तमाम भोगों को पाकर भी मैं क्या पा सकूँगी यदि अमृतत्त्व मुझे नहीं मिलता। सामान्य मानव-अस्तित्व वेदान्त में भी व्यर्थ की वासना है, पर इसका कारण आत्म-अनात्म का अध्यास है। मनुष्य आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण बाह्य जगत् में आत्म-तृप्ति ढूँढ़ रहा है, अपने को अशक्त, अत्यल्प, अपूर्ण, दुःखी समझ रहा है, जबकि परमार्थतः वह नित्यतृप्त तथा आनन्द स्वरूप है, पूर्ण है। मनुष्य के इस तात्त्विक स्वरूप को स्वीकार कर-अमृतत्त्व स्वरूप को स्वीकार कर-शंकर उसे पूर्णतः आगन्तुक, आकस्मिक एवं व्यर्थ बनने से बचा लेते हैं। मनुष्य तत्त्वतः ब्रह्मरूप है, अतः किसी भी तरह के सीमा, द्वैत, अल्पता, अपूर्णता से वह परे है। शंकर सार्त्र की तरह सत् एवं चित् के द्वैत को स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः सार्त्र का दर्शन बीइंग और नथिंगनेस, सत् एवं चित् के द्वैत से मुक्त नहीं हो सका। इसी कारण वह इन दोनों का पृथक्-पृथक् परस्पर विपरीत लक्षण करते हैं तथा एक को पूर्ण एवं ठोस तथा दूसरे को अपूर्ण एवं रिक्त बताते हैं। शंकर का दर्शन इस द्वैत से मुक्त है, इसीलिये वहाँ सत् ही चित् है तथा चित् ही सत् है। फलतः स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् का जो आदर्श सार्त्र के लिये असंगत होने से अप्राप्य है, वही शंकर के मत में मनुष्य के लिये प्राप्य है अथवा कहिये कि प्राप्त है। मनुष्य ईश्वर होने की असफल इच्छा के रूप में यहाँ

सामने नहीं आता, अपितु वह तो ईश्वर (ब्रह्म) है ही। "अहं ब्रह्मास्मि" शांकर वेदान्त के लिये मूल महावाक्य है, परम सत्य है।

सार्त्र के दर्शन की मुख्य कमजोरी उनका द्वैतवाद है–स्वनिष्ठ सत् एवं स्वनिमित्त सत् के रूप में दो तरह की सत्ता की स्वीकृति। सार्त्र चेतना की विषयापेक्षा के सिद्धान्त को अपने दर्शन में प्रस्थान-बिन्दु बनाते हैं, फलतः चेतना उनके लिये सर्वदा किसी वस्तु की चेतना है। चेतना का यह रूप उसे विषयापेक्षी बना देता है। चेतना को सर्वदा एक विषय की आवश्यकता रहती है, यह अपेक्षा उसे उस चीज पर आश्रित बना देती है जो वह स्वयं नहीं है। अनात्म या अचित् चित् के आश्रय के रूप में सामने आता है। यह एक तरह के जड़वाद की स्वीकृति होती है। चेतना की विषयापेक्षा उसे जगत् से बाँधे रहती है, जागतिक बनाये रहती है। अतः चेतना की निधर्मकता, स्वतन्त्रता तथा अतिक्रामिता की सार्त्र के दर्शन में अपनी सीमायें हैं। आत्म से पृथक् अनात्म का अस्तित्व नॉशिया, अयुक्तता तथा दुश्चिन्ता के मूल में है। आत्म से "इतर" का अस्तित्व मानो स्वयं को आत्म के ऊपर बरबस आरोपित करता हो तथा आत्म की सीमा दर्शाता हो। यह आत्मेतर कहीं से व्याख्येय नहीं है। शंकराचार्य इस "आत्मेतर" को माया और मिथ्या रूप बताते हैं। चेतना के लिए विषय की अपेक्षा तथा अतिक्राम्यता के लिये तथ्यता की अनिवार्यता के कारण सार्त्र इनकी पूर्वापेक्षा स्वीकार करते हैं। इन दोनों की तार्किक परस्परापेक्षा सार्त्र को द्वैतवाद स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है, भले ही सार्त्र विज्ञानवाद और वस्तुवाद के विरोध को सुलझा लेने का दावा करते हों। अभिव्यक्ति के रूप में जगद् (अनात्म) की अपेक्षा अद्वैत में भी स्वीकृत है। मुक्ति के लिये एक तरह की बध्यता (बंधन) शंकर भी मानते हैं। पर वे चेतना के स्वरूप को मूलतः निधर्मक तथा निर्विषयक स्वीकार करते हैं तथा मुक्तावस्था को मनुष्य का वास्तविक एवं शाश्वत स्वरूप बताते हैं। विषय या तथ्यता रूप अपेक्षा व्यावहारिक है, मायिक है। इस माया या व्यवहार के "तत्त्वबोध" के बाद कहीं इनकी पूर्वापेक्षा नहीं रह जाती। सार्त्र इस माया या व्यवहार की अवधारणा को नहीं स्वीकार करते हैं। फलतः उनके लिये मनुष्य "जगत् में स्थित सत्" ही रहता है जो निरन्तर अपना निर्माण और ध्वंश (अतिक्रमण) करता है। मनुष्य उनके लिये पूर्णतः लौकिक है। विषय की अपेक्षा चेतना के लिये आगन्तुक है, यह सार्त्र नहीं देख पाये। अनात्म का अस्तित्व वह प्रधान कारण है जो मनुष्य के अन्दर अयुक्तता का, व्यर्थता का बोध उत्पन्न करता है, दुश्चिन्ता पैदा करता है तथा उबकाई लाता है। यह अनात्म शंकर की दृष्टि में हमारा अज्ञान है। आत्म से पृथक् अनात्म का कोई अस्तित्व नहीं है। फलतः अनात्म जनित सीमा, अल्पता, दुःख, भय का शंकर के दर्शन में परमार्थतः कोई स्थान नहीं है। सब कुछ ब्रह्म रूप

है तथा यह आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा से इतर कुछ नहीं है—वह भूमा है। आत्मा से इतर कुछ भी नहीं होने से वहाँ कोई दुःख या भय नहीं है।[52] वह आनन्द रूप है।

सन्दर्भ

1. Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psycho-analysis, Vision Press Ltd., London , 1968, p. 47.
2. 'It is nausea—his kind of suffering from the world's absuridity—which motivates Sartre's philosophical system'.
   Alfred Stern, Sartre : His Philosophy and Existential Psycho-analysis, p. 37.
3. न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्।
   ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/1/27.
4. John Macquarrie, Existentialism, Penguin Books, New York, 1986, p. 14.
5. द्रष्टव्य, वहीं आगे, पृ॰ 15.
6. Exist शब्द ex और sist से बना है, जिसका अर्थ है उद्गमन (emerging) अथवा उभरना या उठ खड़ा होना (standing out)। उभरना या उठ खड़ा होना तभी अर्थ रखेगा जब उभरने की अनुभूति भी हो। अतः "अस्तित्व" का अर्थ है अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना, सतत् आविर्भावित होते रहना। इस अर्थ में कोई वस्तु अस्तित्ववान नहीं है, अपितु मनुष्य ही अस्तित्ववान है।
7. एक्जिस्टेन्शियलिज्म फ्रॉम विदिन में ई, एल, एलन कहते हैं कि अस्तित्ववाद कर्ता की दृष्टि से दार्शनिक चिन्तन करने की दृष्टि है, न कि जैसा सामान्यतः होता आया है-द्रष्टा की दृष्टि से।
   E.L. Allen : Existentialism from Within, Routledge & Kegan Paul, London, 1953, p. 3.
8. द्रष्टव्य-बीइंग एण्ड नथिंगनेस के चौथे भाग के दूसरे अध्याय का तृतीय खण्ड Quality as a Revelation of Being। सार्त्र यहाँ चिपचिपाहट (the viscosity) के विश्लेषण द्वारा यह दिखाते हैं कि चिपचिपाहट न केवल वस्तु जगत् के स्वरूप को द्योतित करता है, अपितु एण्टी-वैल्यू का भी प्रतीक है जिससे हम कितना भी बचना चाहें बच नहीं सकते। वस्तु जगत् का यही स्वरूप रोक्वेन्टिन में नॉशिया उत्पन्न करता है। चिपचिपे वस्तु का यह स्वरूप होता है कि हम भले ही उनको पकड़ने जायें, वे खुद ही हमको पकड़ लेती हैं। अब यह रूप सत्ता के उस रूप को दिखाता है जिसमें स्वनिष्ठ सत् स्वनिमित्त-सत् को विलीन कर लेगी, पकड़ लेगी।
9. G. Srinivasan, The Existentialist Concepts and the Hindu Philosophical Systems, Udayana Publications, Allahabad, 1967, p. 18.

10. यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि हाइडेगर के अनुसार मृत्यु और परिमितता एक ही है। पर सार्त्र कहते हैं कि मानवीय सत्ता की परिमितता का कारण उसके स्वतन्त्रता का वह स्वरूप है जो अनेक विकल्पों में मात्र एक का चयन करती है तथा अन्यों का निषेध। मनुष्य स्वयं को विनिर्मित करता है, और यह विनिर्माण अनेकों विकल्प में से मात्र एक विकल्प के चयन द्वारा होता है। अब मनुष्य अमर हो तो भी, उसका स्वयं का चुनाव अनेकों विकल्प में से मात्र एक विकल्प के चयन और अन्यों के निस्सरण या निषेध के कारण होने से, उसका सीमित स्वरूप बना रहेगा।

    द्रष्टव्य-Jean Paul Sartre, Being and Nothingness, tr. H.E. Barnes, WSP pocket books, Philosophical Library Inc. New York, 1966, pp. 698-699.
11. G. Srinivasan, The Existentialist Concepts and the Hindu Philosophical Systems, p. 22.
12. प्रभा खेतान, सार्त्र का अस्तित्ववाद, दिल्ली : सरस्वती विहार, 1984. पृ० 192.
13. Sujata Miri, Suffering, IIAS, Simla, 1976, p. 38
14. प्रभा खेतान, सार्त्र का अस्तित्ववाद, पृ० 189.
15. देखें, वहीं, पृ० 190.
16. ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वात् --। शंकराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, 4/5/15.
    केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 1/1/4.
17. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, 2/2/28-30.
18. "अविद्या मूलतः मूल्यात्मक अवधारणा है, और इस अवधारणा के अनुसार ही माया जो कि व्यावहारिक-प्रातिभासिक रूप से सत्य है, मूल्यात्मक दृष्टि से माया : अनात्म : है।"

    यशदेव शल्य, मनुष्य और जगत् : वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ० 117.
19. न ही यह ज्ञान अमूर्त प्रत्ययों का संज्ञान है और न समाधिजन्य अथवा श्रुति द्वारा निर्दिष्ट कोरा तत्त्वज्ञान। शंकर स्पष्ट कहते हैं कि यदि हजार श्रुतियाँ एक स्वर से अग्नि की शीतलता का अभिकथन करेंगी तो भी यह उन्हें स्वीकार नहीं होगा। अतः जगत् मिथ्यात्व को हमारे अनुभव द्वारा सत्याप्य होना चाहिए। और सामान्य अनुभव स्पष्ट संकेत करता है, जैसा कि शल्य जी कहते हैं "वेदान्त की इस बात को समझने के लिये किसी ट्रान्सेन्डेंटल मेडिटेशन की आवश्यकता नहीं है; यह तथ्य किसी पश्चाताप की अनुभूति पर या किसी एषणा की निरर्थकता के बोध की संरचना (स्ट्रक्चर) पर मनन करने से भी देखा जा सकता है।" मनुष्य और जगत्, पृ० 111.
20. विषयाभावादियमचेतनता, न चैतन्याभावादिति।
    ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/18.

21. "आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपं। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/7.
सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 1/1/1.

22. शंकराचार्य ईश्वरवादी नहीं हैं। ईश्वरवाद में जगत् की व्यर्थता के भाव की व्याख्या नहीं हो सकेगी। अनात्म का ईश्वर के लिये प्रयोजन हो जाता है, फलतः वह **दिव्य** हो जाता है। वहाँ अनात्म एवं आत्म दोनों ईश्वर से नियम्य, नियन्त्रित और अधिशासित होने के कारण, समतुल्य हो जायेंगे, फलतः आत्म की अनात्म पर सर्वसिद्ध या प्रत्यक्ष श्रेष्ठता की व्याख्या नहीं हो सकेगी। ईश्वर को मानने पर आत्मा भी अनात्मवत् हो जायेगा और अनात्म भी आत्मवत्।

23. सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति।
तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/6.
आनन्दात् एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/6.

24. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।
ब्रह्मसूत्र, 2/1/33.
एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।
बृहादरण्यक उपनिषद्, 1/4/3.

25. तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥
विद्यारण्य, पंचदशी-6/130.

26. यशदेव शल्य, मनुष्य और जगत् : वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ० 111.

27. अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।
शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के उपोद्घात में।

28. विषयाभावादियमचेतनता, न चैतन्याभावादिति।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/18.

29. सार्त्र आभास और सारतत्त्व, सम्भावना (पोटेन्शियलिटि) और यथार्थता के अन्तर को स्वीकार नहीं करते हैं। सार्त्र मात्र आभास और यथार्थ को स्वीकार कर उसके पीछे छिपे किसी सारतत्त्व या साध्य को अस्वीकार करते हैं। फलतः जगत् या यथार्थता जो है सो है, किसी तरह के ईश्वर, अज्ञेय परमतत्त्व, निर्गुण निर्विशेष परमसत् अथवा अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व का सार्त्र के दर्शन में कोई स्थान नहीं बनता

जो कि आभासों के पीछे हो। यह आभास सापेक्ष-निरपेक्ष है, सापेक्ष इसलिए क्योंकि प्रतीत होने का मूलभूत अर्थ किसी को प्रतीत होना है तथा निरपेक्ष इसलिये क्योंकि वह जो है ठीक उसी रूप में स्वयं को उद्घाटित करता है।

30. '—Subjectivity is powerless to constitute the objective. To say that consciousness is consciousness of something is to say that it must produce itself as a revealed-revelation of a being which is not it and which gives itself as already existing when consciousness reveals it.' Being and Nothingness, p. 24.

31. देखिये, सार्त्र की रचना "द ट्रान्सेन्डेन्स ऑफ द इगो"।

32. "स्वतन्त्रता की भारतीय अवधारणा मूलभूत आत्मा की अवधारणा पर आधारित है जो अपनी मौलिक अवस्था में विशुद्ध सत् है और अपनी आनुभविक अवस्था में "जगत् में सत्" है।

प्रभा खेतान, सार्त्र का अस्तित्ववाद, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1984. पृ० 141.

33. G. Srinivasan : The Existentialist Concepts and the Hindu Philosophical Systems, p. 190.

34. Authentic existence is not its own reward as affirmed by Sartre and Heidegger but has essentially a spiritual and trans-empirical reward in as much as it restores human existence to its original state of transcendent atman characterised by eternal freedom. G. Srinivasan : The Existentialist Concepts and the Hindu Philosophical Systems, p. 190.

35. Sabhajit Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 155.

36. The Anguished Freedom, p. 172.

37. देखें, वहीं, पृ० 167-168.

38. यशदेव शल्य, मनुष्य और जगत् : वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ० 108.

39. वहीं, पृ० 111.

40. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत: तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:।।

ईशावास्योपनिषद्-7.

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन"।

तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/9.

41 Sujata Miri, Suffering, IIAS, Simla, 1976, p. 38.

42. 'The for-itself chooses because it is a lack; freedom is really synonymous with lack.

Jean Paul Sartre, Being and Nothingness, p. 722.

43. 'The for-itself is defined ontologically as a *lack of being*, ...Fundamentally man is *the desire to be*,..... .'

Being and Nothingness, p. 722.

44. 'The being which the for-itself lacks is the in-itself, ...human reality is the desire of being-in-itself.'

Being and Nothingness, p. 723.

45. 'The for-itself arises as the nihilation of the in-itself and this nihilation is defined as the project toward the in-itself. Between the nihilated in-itself and the projected in-itself the for-itself is nothingness. Thus the end and the goal of the nihilation which I am is the in-itself.'

Being and Nothingness, p. 723.

46. 'It is as consciousness that it wishes to have the impermeability and infinite density of the in-itself.----The fundamental value which presides over this project is exactly the in-itself-for-itself; that is the ideal of a consciousness which would be the foundation of its own being-in-itself by the pure consciouness which it would have of itself.'

Being and Nothingness, pp. 723-24.

47. Being and Nothingness, p. 724.

48. 'Having', 'doing', and 'being' are the cardinal categories of human reality. Under them are subsumed all types of human conduct.'

Being and Nothingness, p. 557.

49. Being and Nothingness, p. 764.

50. Being and Nothingness, p. 784.

51. द्रष्टव्य-बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय का चौथा ब्राह्मण।

52. के० गुरुदत्त अपनी पुस्तक एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड इण्डियन थॉट में कहते हैं-

'For only when the 'other', which is but the objectification of the self, is merged in the Self, in the supreme realization TAT TVAM ASI (THAT THOU ART), does that freedom manifest itself in which there is no more room for anguish : Ko mohah kah sokah ekatvam anupasyatah.'

K. Guru Dutt, Existentialism and Indian Thought, Philosophical Library, New York, 1960. pp. 91-92.

❑ ❑ ❑

उपसंहार

ज्ञान की अन्य विधाओं से दार्शनिक विधा इस अर्थ में भिन्न होती है कि यह प्रत्यङ्मुखी होने के सामर्थ्य से युक्त होती है। यह प्रत्यङ्मुखता जिज्ञासा को स्वयं अपनी ओर मोड़ना और केन्द्रित करना होता है। हमारा व्यवहार का जीवन इस अर्थ में अदार्शनिक होता है कि इसमें हमारी चेतना अनुचिन्तनात्मक नहीं होती, यह अनुचिन्तनपूर्वी या प्राग्विमर्शी होती है। हमारा सामान्य जीवन भोग में रत (मुण्डकोपनिषद् के स्वादरत पक्षी की तरह)[1] जीवन है, यहाँ चेतना क्रियारत चेतना होती है, व्यापार में मग्न होती है। दार्शनिक चेतना अपने इसी रूप पर विमर्श है। हम कह सकते हैं कि दार्शनिक चेतना स्वभाव से अनुचिन्तनात्मक होती है।[2] दार्शनिक चेतना का विषय किसी न किसी रूप में चेतना स्वयं होती है।[3] पर चेतना किसी भी रूप में विषय नहीं हो सकती, वह स्वयं को नहीं पकड़ सकती, क्योंकि पकड़ने वाले के रूप में वह स्वयं अविज्ञात ही रहेगी।[4] इस तरह दर्शन उसे पकड़ने का प्रयास है जिसे पकड़ा नहीं जा सकता, उसे दिखाने का प्रयास है जिसे दिखाया नहीं जा सकता। मानवीय चेतना के लिये मूलभूत दार्शनिक प्रश्न यह है कि स्वयं उसका स्वरूप क्या है? देहेन्द्रियादि एवं अन्तःकरण से आवेष्ठित एवं अन्य-सहकृत जगत् में अवस्थित मानव-यथार्थता का क्या स्वरूप है? उसका अन्यों से, जगत् से, स्वयं सत् से क्या सम्बन्ध है? दूसरे शब्दों में मानव-नियति की जिज्ञासा वह मूलभूत जिज्ञासा है जो सदियों से दार्शनिकों को उलझाये हुये है। मानव-नियति विषयक इस जिज्ञासा का उदय जीवन-पथ पर "ठोकरें" लगने से होता है।[5] बाह्य जीवन में, विषय-भोगों में सुख ढूढ़ने की एषणा हमें तृप्त करने के बजाय और अधिक अतृप्त कर इस जीवन की व्यर्थता को ही दरसाती है। ज्यों ज्यों हम जगत् में अर्थ ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं, हमें समस्त जागतिक एवं मानवीय व्यापारों की आगन्तुकता ही दिखायी देती है। हमें उसकी तलाश होती है जो सार्थक हो, अनिवार्य हो और निरर्थक एवं आगन्तुक न हो। शंकर आत्मा रूप चेतना को ऐसी ही अनिवार्य सत्ता के रूप में पाते हैं, जबकि सार्त्र जीवन एवं जगत् की निरर्थकता एवं आगन्तुकता से परे नहीं देख पाते हैं।

जीवन के दुःखात्मक एवं निरर्थक स्वरूप की स्वीकृति शंकर एवं सार्त्र दोनों के दर्शन में हम पाते हैं। दोनों के लिये दार्शनिक जिज्ञासा मात्र बौद्धिक जिज्ञासा

नहीं है बल्कि उस आधारभूत समस्या का उत्तर है जिस पर मनुष्य का सारा का सारा जीवन टिका है। यह स्वयं मनुष्य होने का अर्थ ढूँढ़ना है, यह स्वयं उसके स्वरूप एवं नियति की खोज है। दार्शनिक सत्य मात्र बौद्धिक जिज्ञासा की वस्तु न हो जीने का विषय है। अत: इन समस्याओं का उत्तर उनको जीते हुए ही दिया जा सकता, इनसे दूरी बनाकर नहीं। शंकर एवं सार्त्र दोनों के लिए दार्शनिक प्रस्थान का केन्द्रबिन्दु मनुष्य है। दोनों के लिये दर्शन का अर्थ मनुष्य को उसकी मुक्ति का मार्ग दिखलाना है। उसे उसके अप्रामाणिक एवं अनाप्त अस्तित्व से प्रामाणिक एवं आप्त अस्तित्व की ओर ले जाना तथा अस्तित्व की उन गहराइयों से परिचय कराना है जो स्वयं उसके अस्तित्व का सत् है। मानव-अस्तित्व का सत्य उसकी स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता स्वयं मनुष्य का अपना स्वरूप है, यद्यपि सामान्य दैनिक जीवन में वह इसे भूले रहता है। अनाप्त अस्तित्व में "पतन" स्वतन्त्रता का अपलाप है और इस "पतन" से स्वयं को उबारना उसकी स्वतंत्रता है। इस तरह मानव-नियति का दर्शन मनुष्य की मूलभूत स्वतंत्रता का दर्शन है।

यद्यपि शंकराचार्य एवं ज्याँ पाल सार्त्र कहीं से भी एक ही वर्गणा के अन्तर्गत रखे जाने योग्य नहीं दिखायी पड़ते हैं, पर मानव-नियति विषयक चर्चा के क्रम में हम जब इस अध्ययन में आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं कि "चेतना सम्बन्धी अस्तित्ववादी सिद्धान्त"[6] शंकर के निधर्मक, निस्स्वभाव, स्वयंप्रकाश चेतना के सिद्धान्त के कितना अधिक नजदीक है। सार्त्र चेतना को निस्स्वभाव, सत्वहीन, अहंद्रव्यहीन, स्वप्रकाश बताते हैं और यह लक्षण तो शंकर के अनुसार भी चेतना पर घटित होता है। शांकर मत में भी चेतना निर्वैयक्तिक है तथा "अहम्" द्वितीय स्तरीय आत्म है एवं अन्य वस्तुओं के समान जगत् की वस्तु है। सार्त्र के समान शंकर भी चेतना के द्रव्य रूप का खण्डन करते हैं। सार्त्रीय चेतना के समान शांकर मत में भी चेतना स्वयंप्रकाश है, विषय के प्रकाश के साथ ही यह स्वयं भी प्रकाशित होती है।[7] सार्त्र और शंकर के चेतना सम्बन्धी मत के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फेनॉमेनॉलॉजी की व्यापक परम्परा (जिसमें अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी भी सम्मिलित है) में प्रस्तुत चेतना सम्बन्धी मत को शंकर की एतद्विषयक दृष्टि परिपूर्णता प्रदान कर सकती है। आर॰ बालासुब्रमण्यम का लेख जो कि "इण्डियन फिलॉसफी एण्ड फेनॉमेनॉलाजी" में संग्रहित है, इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।[8]

अनुभवातीत आत्म के खंडन द्वारा तथा चेतना की अवस्तुत्व रूप में स्थापना द्वारा सार्त्र चेतना के प्राग्विमर्शी स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। चेतना के अहंशून्य और सत्वशून्य रूप की स्थापना द्वारा सार्त्र उसकी मूलभूत स्वतन्त्रता को प्रतिस्थापित

करते हैं। सार्त्र मनुष्य को पूर्ण एवं निरपेक्ष स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। सार्त्र के अनुसार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। सार्त्र के दर्शन का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं मानव मात्र को आशा एवं उत्साह प्रदान करने वाला योगदान है कि वे मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्र मानते हैं तथा उसे अपनी नियति आप निर्मित करने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। स्वतन्त्रता में यह विश्वास सार्त्र का अनूठा योगदान है तथा इसी स्वतन्त्रता के कारण वह ईश्वर तक को स्वीकार नहीं करते।[9] पर यह स्वतन्त्रता जो कि मानव-यथार्थता का स्वरूप है, अभिशाप रूप है क्योंकि मनुष्य जगत् में अपनी स्वतन्त्रता के साथ एकाकी रूप में फेंका हुआ है। मनुष्य चुनावों के लिये तो स्वतन्त्र है, पर इस स्वतन्त्रता के लिये स्वतन्त्र नहीं है। दूसरे शब्दों में मनुष्य स्वतन्त्रता जन्य उत्तरदायित्व के दुर्वह बोझ से नहीं बच सकता। स्वतन्त्रता की चेतना सार्त्र में दुश्चिन्ता पैदा करती है, इसीलिये वह अभिशाप है। जिस स्वतन्त्रता को सार्त्र अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाते हैं वह दुश्चिन्तापरक होती है, इसके विपरीत शंकराचार्य के मत में स्वतन्त्रता या मुक्ति आनन्द रूप है और इस स्वतन्त्रता का बोध आनन्द रूप है न कि दुश्चिन्ताप्रद।[10] जिस स्वतन्त्रता को सार्त्र मनुष्य को गरिमा तथा आशा प्रदान करने के लिए इतने उत्साह से महत्व देते हैं, उसकी परिणति निराशा एवं दुःख में होती है। इसके विपरीत शंकर परम आशावाद का सन्देश देते हैं। सार्त्र के स्वतन्त्रता विषयक मत में एक विरोध यह है कि हमारी अप्रामाणिक स्थिति–स्थिति जिसमें हम दुरास्थापूर्वक जीवन जीते हैं तथा अपनी स्वतन्त्रता का तिरस्कार करते हैं–अपनी स्वरूपभूत स्वतन्त्रता की स्थिति से, दुश्चिन्ताप्रद स्वतन्त्रता की स्थिति से अधिक शान्तिदायक है। स्वतंत्रता की वरेण्यता के पीछे मात्र यह तर्क है कि यह हमारी स्वरूप स्थिति है तथा सत्य चाहे कितना भी कटु क्यों न हो आत्म-प्रवंचना रूप असत्य से वरेण्य है। इसके विपरीत शंकर के अनुसार अप्रामाणिक स्थिति या बन्धन, जो कि अपनी स्वतन्त्रता का अनादि विस्मरण है, दुःखात्मक है जबकि स्वतन्त्रता आनन्द की अवस्था है, आनन्द है। अतः आनन्द रूप स्वतन्त्रता की वरेण्यता स्वयं सिद्ध है।

सार्त्र अस्तित्व को आकस्मिक एवं आगन्तुक बताते हैं। न केवल वस्तुओं के बीच सम्बन्ध आगन्तुक है, अपितु वस्तुयें आगन्तुक हैं। इस तरह अस्तित्व मात्र, चाहे वह वस्तुओं का हो या स्वयं का, आगन्तुक है–अतिरेक है, अनिवार्य नहीं है। किसी तरह का बौद्धिक या तार्किक औचित्य वस्तुओं का, संसार का, मनुष्य का नही बनता। सभी कुछ बेतुका है। अस्तित्व मात्र नितान्त बेहूदा, निष्प्रयोजन, असंगत और आकस्मिक है, फिर भी वह निश्चित रूप से नंगे सत्य के रूप में विद्यमान है–यह बात हममें दुश्चिन्ता और ऊब पैदा करती है। जीवन एवं जगत् की–अस्तित्व मात्र की–इस निरर्थकता और आकस्मिकता से सार्त्र परे नहीं जा

पाते हैं। शंकर के अनुसार भी जगत् एवं जगत् में बद्ध मनुष्य का स्वरूप आगन्तुक एवं निरर्थक है। बाह्य विषयों तथा विषय भोगों में सुख ढूँढ़ने वाली हमारी इच्छा अन्तत: अतृप्त ही रहती है तथा जीवन के प्रति हमारे लगाव को निरर्थक सिद्ध करती है। "अगं गलितं पलितं केशं दशनविहीनं जातं तुण्डम्" तथा "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं" एतद्रूप जीवन प्रक्रिया स्वयं अपनी ही निरर्थकता को द्योतित करती है। शांकर वेदान्त में "मिथ्यात्व" एक मूल्यात्मक अर्थ रखता है और जगत् को मिथ्या कहने का तात्पर्य ज्ञाता से पृथक् जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व के निषेध से न होकर उसकी अस्सारता से है। सार्त्र के लिये अस्तित्व की यह आगन्तुकता, अस्सारता, व्यर्थता नित्यसिद्ध है, वह इससे मुक्ति का कोई उपाय नहीं देख पाते। जबकि दूसरी और शंकराचार्य इस नित-प्रति के अस्तित्व में ही कुछ ऐसा पाते हैं जो कत्तई निरर्थक, आकस्मिक न हो नितान्त अनिवार्य है। आत्म रूप में उपलब्ध हमारी चेतना ऐसी ही अनिवार्य सत्ता है। इसी के प्रकाश में सब कुछ प्रकाशित होता है, रससिक्त होता है—जीवन में जो कुछ भी प्रिय एवं आनन्दप्रद है वह इसी के कारण है।[11] स्वनिमित्त सत् को भी आगन्तुक एवं निरर्थक मान लेने से सार्त्रीय दर्शन की अनिवार्य परिणति निराशावाद और जड़वाद में होती है।[12] शंकर के लिये यद्यपि एकमात्र निर्गुण निर्विशेष आनन्दरूप परमचैतन्य की ही सत्ता है, पर वस्तुस्थिति में चेतना जिस रूप में उपलब्ध होती है वह जगद्भावापन्न है। शंकर के अनुसार देहेन्द्रियादि तथा अन्त:करण से आवेष्ठित जो जगद्भावापन्न चेतना है वह वस्तुस्थिति होते हुये भी स्वरूपत: नहीं है। जगद्भावापन्नता, जगद्भाव अथवा कहिये कि जगत् आगन्तुक एवं आकस्मिक घटना है, यह निरर्थक एवं निस्स्वभाव है। लेकिन फिर भी यह है—और यही परम रहस्य है कि जो अतार्किक है, अव्याख्येय है, वह भला है कैसे? यह समस्या उठती है, परन्तु आत्मस्वरूप के बोध से अतार्किक अतार्किक नहीं रह जाता, माया माया नहीं रह जाती, सब कुछ ब्रह्मरूप में भासित होता है और तदितर कुछ भी भासित नहीं होता। मार्गरेट चटर्जी निरीश्वरवादी अस्तित्ववादियों की व्यर्थता या निरर्थकता के प्रत्यय के विरोध को दिखाते हुए कहती हैं कि एक नास्तिक के लिये जो चीज अस्तित्व रखती है वह महज तथ्य रूप में-सार्थक और निरर्थक रूप में नहीं। प्रयोजनवादी या ईश्वरवादी ही वस्तुत: किसी की सार्थकता और निरर्थकता की बहस कर सकते हैं।[13] इसी तरह का प्रश्न रमाकान्त सिनारी भी उठाते हैं जब वे जगत् के बेतुकेपन और बौद्धिकता का विश्लेषण करते हैं, उनके अनुसार भी एक बुद्धिवादी ही इस तरह की कोटियों का इस्तेमाल कर सकता है।[14] पर शंकर पर यह आपत्ति नहीं उठायी जा सकती क्योंकि जगत् की व्यर्थता, अस्सारता और आकस्मिकता के पीछे वे सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म की भावात्मक सत्ता को पाते हैं जो कि आत्मरूप में सब मनुष्यों में अनुस्यूत है तथा मानवीय यथार्थता का परमसत् एवं चरम पर्येष्य है।

सार्त्र के अनुसार मानवीय यथार्थता या चेतना एक कमी है, अभाव है, रिक्तता है। यह कमी या रिक्तता स्वनिष्ठ सत् की ठोसता, पूर्णता, अपारदर्शिता या स्वयं से एकाकारता की है। स्वनिमित्त सत् या मानवीय चेतना स्वनिष्ठ सत् की तरह स्वयं से एकाकार और पूर्ण होना चाहती है तथा साथ ही स्वयं के अतिक्रामी और अवस्तुत्व रूप को भी बनाये रखना चाहती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य एक साथ स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत्, जो कि सार्त्र के मत में ईश्वर है, होना चाहता है। समस्त जागतिक व्यापारों के पीछे मनुष्य की इस मूलभूत योजना या कामना–ईश्वर होने की कामना–को देखा जा सकता है। जगत् में मनुष्य का अस्तित्व एक विशेष ढंग से होने का अस्तित्व है। यह जगत् को अधिग्रहीत कर स्वयंप्रकाश विश्वरूप होने की योजना है। पर चूँकि स्वनिमित्त-स्वनिष्ठ सत् या स्वयम्भू-स्वाधार सत् का प्रत्यय विरोधपूर्ण है, अतः ईश्वर होने की कामना व्यर्थ की वासना के रूप में सामने आती है। यह विडम्बना है कि निरीश्वरवादी सार्त्र इस ईश्वरविहीन जगत् में मनुष्य को ईश्वर होने की इच्छा के रूप में परिभाषित करते हैं तथा उसके समस्त कार्यों, व्यापारों, गतिविधियों को उससे "हॉन्टेड" बतलाते हैं। मनुष्य की मूलभूत योजना के असफल होने से मनुष्य सार्त्र के दर्शन में वृथा वासना के रूप में सामने आता है। मानव यथार्थता एक विरोधपूर्ण आदर्श को चरितार्थ करने का वृथा प्रयास है। एवंभूत मानवीय यथार्थता की अनिवार्य नियति दु:ख है तथा आनन्द का उसके लिए कोई अवकाश नहीं है। हमने देखा कि सार्त्र के अनुसार सारा का सारा मानवीय व्यापार, उसकी इच्छायें, योजनायें, कर्म और ज्ञान तथा उसके समस्त प्रयास मूल में स्वयं को पूर्ण करने की और एकाकार होने की इच्छा है। यह **स्वनिमित्त सत्** की एक साथ ही **स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत्** होने की इच्छा है, यह ईश्वर होने की इच्छा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि ये मत समझना कि पत्नी पति को इसलिये प्रिय है कि वह पत्नी है, अपितु यह आत्म को प्रेम करने का एक तरीका है। इसी प्रकार धन-धान्य, पति-पत्नी, पुत्र-पौत्रादि स्वयं में प्रेमास्पद नहीं हैं, अपितु वास्तविक प्रेमास्पद तो आत्मा है। वस्तुतः देखा जाये तो उनकी प्रेमास्पदता एक तरह का अध्यास है। याज्ञवल्क्य हमारी बाह्य गतिविधियों तथा व्यवहारों के पीछे छिपे मूल योजना की ओर इशारा करते हैं और बताते हैं कि "आत्मा" सबसे अधिक प्रेमास्पद है तथा हमारी विभिन्न कार्य-योजनायें वस्तुतः "आत्मप्रेम" की ही विकृत अभिव्यक्ति हैं। मैत्रेयी वहाँ भी प्रश्न उठाती है कि जीवन के तमाम भोगों को पाकर भी मैं क्या पा सकूँगी यदि अमृतत्त्व मुझे नहीं मिलता। सामान्य मानव-अस्तित्व वेदान्त में भी व्यर्थ की वासना है, पर इसका कारण आत्म-अनात्म का अनादि अध्यास है। मनुष्य आत्मस्वरूप के अनादि अज्ञान के कारण बाह्य जगत् में तृप्ति ढूढ़ रहा

है, अपने को अशक्त, अत्यल्प, अपूर्ण दु:खी समझ रहा है, जबकि परमार्थत: वह नित्यतृप्त तथा आनन्दस्वरूप है, पूर्ण है। मनुष्य के इस तात्त्विक स्वरूप–अमृततत्त्व स्वरूप–को स्वीकार कर शंकर उसे पूर्णत: आगन्तुक, आकस्मिक एवं व्यर्थ होने से बचा लेते हैं। प्रो०जी० श्रीनिवासन भारतीय तथा सार्त्र एवं हाइडेगर के दर्शन में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि अनुभवातीत आत्मा की तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के कारण भारतीय दार्शनिक अत्यानुभविक शान्ति एवं आनन्द को स्वीकार करने में सक्षम होते हैं; चूँकि व्यक्ति की आत्मा परमार्थत: अनुभवातीत आत्मा है जो कि समस्त सीमा अल्पता से परे है, फलत: वे मानव-अस्तित्व के सीमितततापरक दर्शन के परिणामों से बच निकलते हैं।[15] अनुभवातीत आत्मा में विश्वास के कारण शंकर के अनुसार मुक्ति या स्वतन्त्रता एक तत्त्वमीमांसीय सत् है। स्वतन्त्रता यहाँ कूटस्थ नित्य, देशकालव्यवहारातीत आत्मा का स्वरूप है। जबकि सार्त्र के मत में यह जगत् में स्थित व्यवहार का सत् है। सार्त्रीय दर्शन की स्वतन्त्रता जागतिक स्वतन्त्रता है। यह व्यवहारों, कार्यों, चुनावों में अभिव्यक्त होने वाली स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता यदि किसी द्रव्यता का, 'जगत् में स्थित सत्' का, स्वरूप का निषेध करती है तो यह "जगत् में स्थित सत्" का ही किसी अन्य "जगत् में स्थित सत्" के लिये अतिक्रमण करती है। इसके विपरीत शंकर में स्वतन्त्रता सत्ता की, परम चेतना की स्वरूपभूत स्थिति है। शंकर के मत में स्वतन्त्रता पूरे आनुभविक आत्म-अहमात्मा का ही-निषेध करती है ताकि एक भावात्मक अत्यानुभविक सत् से उसका तादात्म्य हो सके जो स्वयं उसकी स्वरूप स्थिति है। सार्त्र मानव-स्वतन्त्रता की पूरी तरह से आनुभविक, निराशाजनक और निषेधात्मक छवि प्रस्तुत करते हैं। वे विषयिता या चेतना को पूर्णत: निषेध के रूप में परिभाषित करते हैं। मानवीय चेतना या स्वतन्त्रता की इस निषेधात्मक अवधारणा के कारण सार्त्र के मनुष्य एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी मत को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। स्वनिमित्त सत् निरन्तर स्व का निषेध एवं अतिक्रमण है। स्व के निषेध या विषयता के अतिक्रमण से हम चेतना की रिक्तता की अवस्था में नहीं पहुँचते, बल्कि एक भावात्मक चेतना के स्तर पर पहुँचते हैं जिसका कि अद्वैत में उल्लेख है। चेतना की स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र विषयता का अतिक्रमण अथवा स्व का निषेध नहीं हैं बल्कि सच तो यह है कि इस स्वतन्त्रता या चेतना की एक भावात्मक स्थिति होनी चाहिए। जैसा कि सभाजीत मिश्र लिखते हैं "सार्त्र इस बात को समझने में असफल रहे कि चेतना के निषेधीकरण वाले पक्ष के अतिरिक्त इसका एक भावात्मक पहलू भी है। सार्त्र की इस असफलता के कारण, असफलता मानव-यथार्थता का परिभाषेय लक्षण बन जाता है।"[16] यहीं पर हमें शंकर की विशेषता दिखती है। शंकर के लिये भी मुक्ति या स्वातन्त्र्य चेतना की अपने समस्त विषयता से मुक्ति है। यह

किसी भी तरह के विषयकृत बन्धन से नितान्त असम्पृक्त है। चेतना की निर्विशेषता और विषयनिष्ठता से अतिक्रामिता का यह अर्थ नहीं कि वह सत् से भी शून्य या रिक्त होने की स्थिति है। अपितु यह सत् चित् की स्थिति है या कहिये कि सच्चिदानन्द की स्थिति है। इसके विपरीत सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी सत्ता का आधार नहीं है। सत्ता की ठोसपन-पूर्णता-स्वयं से तदाकारता अथवा स्वयं सत्ता का उसमें अभाव है। इस अभाव के कारण ही तो वह स्वतन्त्र है। इस तरह सार्त्र के मत में मानवीय स्वतन्त्रता एक निरर्थक वासना के रूप में सामने आती है। मनुष्य एकाकी, रिक्त तथा शून्य चेतना के रूप में अस्तित्ववान होने के लिए अभिशप्त है, वह सत्ता की पूर्णता, ठोसता और स्वयं से तदाकारता के स्वरूप को नहीं पा सकता है। "सार्त्र के लिये मनुष्य पूर्णत: स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता मानवीय यथार्थता का सार है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के सम्मुख बिल्कुल अकेला है क्योंकि उसकी स्वतन्त्रता का कोई अत्यानुभविक स्रोत नहीं है। यह सार्त्र की मानव-स्वतन्त्रता की धारणा में निराशा का पुट लाता है....। मनुष्य स्वतन्त्र है और पूर्ण स्वतन्त्र है, पर उसकी स्वतन्त्रता मानवीय दु:खों और कष्टों का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह दु:खों के सम्मुख स्वतन्त्रता है। दु:ख सार्त्र के अनुसार मानवीय यथार्थता की अनिवार्य विशेषता है।"[17] सार्त्र के विपरीत शंकर की विषयिता या स्वतन्त्रता की अवधारणा सकारात्मक अवधारणा है। यह सच्चिदानन्द की स्थिति है।[18] मनुष्य परमार्थत: इसी सच्चिदानन्द स्वरूप का है। अनादि अज्ञान के कारण वह इसे भूला हुआ है। आत्मबोध समस्त दु:ख, सीमा, अलगाव, भय से मुक्ति है। शंकर सार्त्र की तरह सत् एवं चित् के द्वैत को नहीं स्वीकार करते हैं। दूसरी और सार्त्र का दर्शन बीइंग और नथिंगनेस, सत् एवं चित् के द्वैत से मुक्त नहीं हो सका। शंकर का दर्शन इस द्वैत से मुक्त है।"[19] इसीलिये वहाँ सत् ही चित् है तथा चित् ही सत् है। फलत: स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् का जो आदर्श सार्त्र के लिये असंगत होने से अप्राप्य है, वही शंकर के मत में मनुष्य के लिये प्राप्य है अथवा कहिये कि सतत प्राप्त है। मनुष्य ईश्वर होने की असफल इच्छा के रूप में यहाँ सामने नहीं आता, अपितु वह तो ईश्वर (ब्रह्म) है ही। "अहं ब्रह्मास्मि" शंकर के लिये चरम दार्शनिक सत्य है।

तो जिस पूर्णत्व की तलाश में मनुष्य है—जिस पूर्णता या आनन्द की खोज में मनुष्य का सारा का सारा सांसारिक व्यापार होता है—वह पूर्णता या आनन्द स्वयं मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है, उसे वह नित्य उपलब्ध है। अपनी अज्ञानतावश वह इसे अपने से बाहर ढूढ़ रहा है तथा नित्योपलब्ध स्वरूपसिद्ध पूर्णता और आनन्द को भूलकर वह स्वयं को अपूर्ण और दु:खी, सीमित और अशक्त, एकाकी एवं व्यर्थ समझे हुए है। इस तरह जो दु:ख है, अतृप्ति है, अपूर्णता है, वह स्वयं अपने

स्वरूप के विस्मरण के कारण है। ऐसा नहीं है कि व्यावहारिक अपूर्णता, दुःख, भय और अज्ञान को अद्वैत झुठलाता है, अपितु यह तो इसके अनित्य और दुःखात्मक स्वभाव को और भी चित्रित करता है तथा इसे व्यावहारिक मनुष्य की नियति बताता है। हाँ, यह अपूर्णता वास्तविक नहीं है, यह दुःख वास्तविक नहीं है। हमारी अविद्या के कारण यह है। इसी दृष्टि से मनुष्य स्वयं अपनी दुःस्थिति के लिये उत्तरदायी है। न केवल यह जीवन अपितु अनेकों बार का हमारा जन्म एवं मरण स्वयं हमारे अज्ञान जन्य कर्म के कारण है। शंकराचार्य मनुष्य के स्वरूपसिद्ध स्वातन्त्र्य का साक्षात्कार करने को कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार द्वारा मनुष्य जिस परमपद को प्राप्त होता है वहाँ सत्ता एवं ज्ञान का कोई द्वैत नहीं है।[20] वह अपनी सत्ता का स्वयं आधार है। उससे "इतर" कुछ भी नहीं होने से वहाँ भय का कोई अवकाश नहीं है क्योंकि "इतर" ही भय का कारण होता है। वह भूमा है–असीमित है–अनन्त है। इसीलिये आनन्द स्वरूप है। यह परम स्वातन्त्र्य की स्थिति है। यह मृत्यु से स्वतन्त्रता की स्थिति है। यह भय, अल्पता, सीमा अथवा दुःख से स्वतन्त्रता की स्थिति है। यह इनसे स्वतन्त्रता की स्थिति इसलिये है कि यह भूमा की स्थिति है ; और जहाँ अल्पता है–सीमा है वहीं दुःख एवं भय है। इस अवस्था में कुछ भी अनुपलब्ध नहीं है, इसीलिये यह **आप्तकाम** की स्थिति है, यह **अकाम** की स्थिति है क्योंकि यहाँ किसी चीज की कामना नहीं है अथवा हम कह सकते हैं कि यह **आत्मकाम** की स्थिति है।[21] मोक्ष स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य की स्थिति है। जैसा कि के०सी० भट्टाचार्य कहते हैं कि यहाँ स्वतन्त्रता आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं है बल्कि आत्मा ही स्वतन्त्रता है।[22] यह स्वतन्त्रता स्वयं सत्ता की स्वतन्त्रता है, परम चेतना की स्वतन्त्रता है। अतः शंकर जब मोक्ष का वर्णन कर रहे होते हैं तो वह वस्तुतः ब्रह्म का वर्णन कर रहे होते हैं।[23] मूलभूत स्वतन्त्रता तो स्वयं सत्ता की स्वतन्त्रता है।[24]

सार्त्र के दर्शन की मुख्य कमजोरी उनका द्वैतवाद है–स्वनिष्ठ सत् एवं स्वनिमित्त सत् के रूप में दो तरह की सत्ता की स्वीकृति। सार्त्र चेतना की विषयापेक्षा के सिद्धान्त को अपने दर्शन का प्रस्थानबिन्दु बनाते हैं, फलतः चेतना उनके लिये सर्वदा किसी वस्तु **की चेतना** है। चेतना का यह रूप उसे विषयापेक्षी बना देता है। चेतना को सर्वदा एक विषय की आवश्यकता रहती है, यह अपेक्षा उसे उस चीज पर आश्रित बना देती है जो वह स्वयं नहीं है। अनात्म या अचित् चित् के आश्रय के रूप में सामने आता है तथा यह एक तरह के जड़वाद की स्वीकृति होती है। चेतना की विषयापेक्षा उसे जगत् से बांधे रहती है, जागतिक बनाये रहती है। अतः चेतना की निधर्मकता, स्वतन्त्रता एवं अतिक्रामिता की सार्त्र के दर्शन में अपनी सीमायें हैं। आत्म से पृथक् अनात्म का अस्तित्व नॉशिया, अयुक्तता तथा

दुश्चिन्ता के मूल में है। आत्म से "इतर" का अस्तित्व मानो स्वयं को आत्म के ऊपर बरबस आरोपित करता है तथा आत्म की सीमा दर्शाता है। यह **आत्मेतर** कहीं से व्याख्येय नहीं है। शंकराचार्य इस **आत्मेतर** को माया और मिथ्या स्वरूप बतलाते हैं। चेतना के लिये विषय की अपेक्षा तथा अतिक्राम्यता के लिये तथ्यता की अनिवार्यता के कारण सार्त्र इनकी पूर्वापेक्षा स्वीकार करते हैं। इन दोनों की तार्किक परस्परापेक्षा सार्त्र को द्वैतवाद स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। अभिव्यक्ति के रूप में जगत् (अनात्म) की अपेक्षा अद्वैत में भी स्वीकृत है। मुक्ति के लिये एक तरह का बन्धन शंकर भी मानते हैं। पर वे चेतना का स्वरूप मूलतः निधर्मक तथा निर्विषयक स्वीकार करते हैं तथा मुक्तावस्था को मनुष्य का वास्तविक स्वरूप बताते हैं। विषय या तथ्यता रूप अपेक्षा व्यावहारिक है, मायिक है। इस माया या व्यवहार के "तत्त्वबोध" के बाद कहीं इनकी पूर्वापेक्षा नहीं रह जाती। सार्त्र इस माया या व्यवहार की अवधारणा को नहीं स्वीकार करते। फलतः उनके लिए मनुष्य "जगत्-में-स्थित-सत्" ही रहता है जो निरन्तर अपना निर्माण और ध्वंश (अतिक्रमण) करता है। मनुष्य उनके लिये पूर्णतः लौकिक है।[25] विषय की अपेक्षा चेतना के लिये आगन्तुक है, यह सार्त्र नहीं देख पाये। अनात्म का अस्तित्व वह प्रधान कारण है जो मनुष्य के अन्दर अयुक्तता का-व्यर्थता का-बोध उत्पन्न करता है, दुश्चिन्ता पैदा करता है तथा उबकाई लाता है। यह अनात्म शंकर की दृष्टि में अज्ञान है। आत्म से पृथक् अनात्म का कोई अस्तित्व नहीं है। फलतः अनात्म जनित सीमा, अल्पता, दुःख, भय, शोक का शंकर के दर्शन में परमार्थतः कोई स्थान नहीं है। सब कुछ ब्रह्मरूप है, और यह आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मा से इतर कुछ नहीं है-वह भूमा है। आत्मा से इतर कुछ भी न होने से वहाँ कोई दुःख या भय नहीं है। वह आनन्द रूप है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि जिस दुःख, दुश्चिन्ता, अलगाव, सन्त्रास एवं ऊब की चर्चा हम सार्त्र को करते पाते हैं, वह सामान्य अनुभव में आने वाला अनुभव न होकर कहीं गहरा अर्थ रखता है। इसकी अनुभूति जीवन और जगत् के प्रति विमर्शात्मक चिन्तन करने वाला ही करता है, दिन-प्रतिदिन के संस्थागत जीवन में, अप्रामाणिक अस्तित्व में डूबा रहने वाला व्यक्ति नहीं। इस दृष्टि से जन-सामान्य की साधारण दृष्टि की अपेक्षा अस्तित्ववादियों की रूदन और उबकाई, त्रास और अलगाव-उनका निराशावाद "सत्य" से कहीं अधिक नजदीक है। लेकिन जैसा कि सुजाता मिरि लिखती हैं, अस्तित्ववादियों की सबसे बड़ी कमजोरी है कि वे दुश्चिन्ता और त्रास रूपी अस्तित्व के पक्ष का तो उजागर करते हैं पर इससे बाहर निकलने का मार्ग नहीं दिखला पाते। वे रोगी को यह तो बताने में समर्थ होते हैं कि वह एक सत्तामीमांसीय कैंसर से ग्रस्त है, पर वे

इससे मुक्ति का मार्ग नहीं दिखा पाते।[26] यहाँ पूर्वी दर्शन इस दिशा में अधिक गहरे जाता है।[27] जहाँ "अस्तित्ववाद सूर्योदय से पूर्व के अंधेरे घण्टों का प्रतीक है"[28] हम "एक कदम और आगे बढ़ें तो अस्तित्ववादियों का सन्त्रास ब्रह्मज्ञान में विलीन हो जायेगा।"[29]

आज के भौतिकवादी, तकनीकी एवं आस्थाहीन विश्व में व्यक्ति कितना अकेला, असुरक्षित तथा अनिश्चित भविष्य की आशंका से भयभीत है–इसका विश्लेषण सार्त्र ने बखूबी किया है। मानव-अस्तित्व की जिन मूलभूत समस्याओं को उपनिषद् के ऋषियों ने उठाया सार्त्र भी अपनी रचनाओं में आज की भाषा में उन्हीं प्रश्नों को उठाते हैं। हर युग की अपनी भाषा होती है, आज के युग की भाषा अस्तित्ववादी है। समकालीन मनुष्य की चिन्ता, हताशा, कुण्ठा, असहाय्यता, अलगाव की उन्होंने अनूठी दार्शनिक व्याख्या की है। सार्त्र का अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी मानव-अस्तित्व की जिन मूलभूत समस्याओं को उठाता है, शांकर वेदान्त के आलोक में उन समस्याओं का बेहतर और सर्वसमाधेयी समाधान दिया जा सकता है। मानव-नियति की जिज्ञासा का प्रश्न युगों-युगों से दार्शनिकों द्वारा उठाया जाता रहा है, पर आज यह समस्या उसके अस्तित्व की निर्णायक समस्या हो गयी है। सार्त्र के विषयिता एवं स्वतंत्रता सम्बन्धी मत तथा मूलभूत योजना सम्बन्धी अस्तित्वपरक मनोविश्लेषण को शांकर वेदान्त के संदर्श में समझने से तथा शांकर वेदान्त की अस्तित्ववादी ढंग से विश्लेषण द्वारा "मानव-नियति" के सम्बन्ध में एक ऐसा समग्र दर्शन प्रस्तुत करना सम्भव हो सकता है जो न केवल समकालीन मनुष्य के बौद्धिक एवं दार्शनिक जिज्ञासा को शान्त कर सकेगा, अपितु उसे उसकी "पतितावस्था" से त्राण एवं मुक्ति दिला सकेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक लघु प्रयास है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य, मुण्डकोपनिषद्, 3/1/1.
2. R.K. Tripathi, 'The Concept of Philosophy' in Problems of Philosophy and Religion, Centre of Advanced Study in Philosophy, B.H.U., 1971, p. 2.
3. इस अर्थ में यदि फेनॉमेनॉलॉजिकल मूवमेण्ट को लिया जाय तो दार्शनिक प्रणाली वस्तुतः फेनॉमेनॉलॉजी की है।
4. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्। विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति। बृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/14.
5. (क) देखें, रमाकान्त त्रिपाठी का लेख "द कन्शेप्ट ऑफ फिलासफी"।

(ख) 'नॉशिया' में जड़ वस्तुओं का मूर्त और नंगा अस्तित्व रोक्वेन्टिन के नित-प्रति के दैनिक अस्तित्व को मानों ठोकर लगाता है।

6. सार्त्र की पुस्तक The Transcendence of the EGO का उपशीर्षक 'An Existentalist Theory of Consciousness' है।
7. शंकराचार्य के अनुसार चेतना विषय के अभाव में भी प्रकाशित होती है जबकि सार्त्र के मत में चेतना अनिवार्यतः विषयापेक्षी है।
8. R. Balasubramanian : Advaita Vedanta on the Problem of Enworlded Subjectivity. in D.P. Chattopadhyaya, Lester Embree, J.N. Mohanty, ed. Indian Philosophy & Phenomenology, 1992.
9. वस्तुतः मानव-स्वतन्त्रता और ईश्वर इन दोनों में एक साथ विश्वास की व्याख्या ईश्वरवादियों के लिये बहुत बड़ी समस्या रही है। स्वतन्त्रता के दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं बनता। अतः आश्चर्य नहीं होना चाहिये जब हम शंकर के मत में भी पाते हैं कि ईश्वर की परमार्थतः सत्ता नहीं है।
10. 'Samkara's concept of freedom is not anguished freedom of Sartre, it is rather Saccidananda. Freedom is the state of Brahman-hood.'
    R.R. Pandey, Scientific Temper and Advaita Vedanta, p. 75, Sureshonmesh Prakashan, Varanasi, 1991.
11. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठोपनिषद्, 2/5/15
    लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्रा....। शंकराचार्य, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य, 2/8/4
12. "सार्त्र में भी, जो बीइंग-इन-इट् सेल्फ को ही मूल और स्वतन्त्र भाव मानता है, जगद्भाव का मूल "मैं" ही है। इस प्रकार सार्त्र में भी "मैं" की आगन्तुकता, या तो आगन्तुकता को ही परमार्थ रूप में स्थापित कर देगी अथवा जड़भाव (इन-इट-सेल्फ) को "मैं" के आधार के रूप में प्रतिष्ठित कर देगी।"
    यशदेव शल्य, मनुष्य और जगत्, दिल्ली : इन्दु प्रकाशन, 1985, पृ० 90.
13. Margaret Chatterjee, The Existentialist Outlook, New Delhi, Orient Longman Ltd., 1973, p. 166.
14. Ramakant Sinari, Reason in Existentialism, Popular Prakashan, Bombay, 1966, pp. 240-243.
15. G. Srinivasan : The Existentialist Concepts and The Hindu Philosophical Systems, Udayana Publications, Allahabad, 1967, p. 22
16. Sabhajit Mishra, The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979, p. 172.
17. The Anguished Freedom, p. 172.
18. R.R. Pandey, The Concept of Freedom in the Samkara Vedant, in Scientific Temper and Advaita Vedanta, p. 72.

19. इस सम्बन्ध में मोशे क्रॉय के Beyond Being and Nothingness: Introduction to Transpersonal Phenomenology की चर्चा प्रासंगिक होगी। हुसर्ल और सार्त्र के दर्शन की समीक्षापूर्वक मोशे क्रॉय जिस ट्रान्स पर्सनल फेनॉमेनॉलॉजी पर पहुँचते हैं उसका आधार शंकर का दर्शन है।
Beyond Being and Nothingness : Introduction to Transpersonal Phenomenology, Dr. Moshe Kroy, Navrang, New Delhi, 1990.
20. तुलनीय सार्त्रकृत बीइंग और नथिंगनेस के भेद से।
21. R.K. Tripathi—Freedom, in Problems of Philosophy and Religion, p. 114.
22. द्रष्टव्य के०सी० भट्टाचार्य का लेख The Subject as Freedom.
23. देखिये ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/4.
24. 'We would agree with Sartre that freedom is basic and so it can never be completely lost, but we cannot agree that freedom means merely the freedom to choose. There can be such a thing as the freedom of being which is logically prior to the freedom of choice.' p. 112, Problems of Philosophy and Religion, R.K. Tripathi.
25. वस्तुत: सार्त्र का दर्शन पूरी तरह से लौकिक है। यह लोक में अवस्थित मनुष्य की समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा करता है एवं उसकी मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ता है। इसके विपरीत शंकर लोक की मान्यता को कोष्ठीकृत कर "मनुष्य" की समस्याओं और उसकी 'मुक्ति' का विश्लेषण करते हैं और पाते हैं कि लोक में अवस्थिति एक तरह की स्थितिप्रदता है जिससे मुक्ति अपेक्षित है क्योंकि सारी समस्याओं की जड़ यही लोक में अवस्थिति है। शंकर किसी भी ढंग से लौकिक दर्शन की स्थापना नहीं करते हैं। वस्तुत: सार्त्र का मनुष्य सीमित और देह-इन्द्रिय से बद्ध है, और यदि मनुष्य ऐसा है तो जगत् के दु:खों को भोगने के लिये अभिशप्त है। अत: मुक्ति के प्रयास के बावजूद अपने बन्धन का अहसास ही वहाँ मुक्ति है, क्योंकि वास्तविक स्वतन्त्रता वहाँ सम्भव नहीं है।
26. 'But the weakness of the most powerful exponents of existential philosophy—some might consider it their strength—is that they resolutely restore anxiety and anguish, but really show no way out. They tell the victim that he is suffering from a deadly ontological cancer, but offer no remedy.'
Suffering, p. 38, Sujata Miri, IIAS, Simla, 1976.
27. प्रो०जी० श्रीनिवासन, सभाजीत मिश्र, सुजाता मिरि और प्रभा खेतान द्वारा किया गया सार्त्र का अध्ययन इस अर्थ में समान रूप से अद्वैत की महत्ता और अर्थवत्ता को स्वीकार करता है।
28. P.J. Saher, Eastern Wisdom and Western Thought, p. 100.
29. Sujata Miri, Suffering, p. 38.

❑ ❑ ❑

ग्रन्थ-सूची

आचार्य शंकर से सम्बन्धित ग्रन्थ

आचार्य शंकर के ग्रन्थ

शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, वाचस्पति मिश्रकृत भामती तथा अमलानन्दकृत कल्पतरु एवं अप्पय्यदीक्षितकृत परिमल व्याख्या सहित, (दो भाग) सं॰ श्री कन्हैयालाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, भामती एवं योगीन्द्रानन्द कृत हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या से युक्त (दो भाग), षड्दर्शनप्रकाशन–प्रतिष्ठान वाराणसी, 1982.

शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, सत्यानन्द सरस्वतीकृत हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या से युक्त, गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सं॰ 2040.

शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (चतु:सूत्री), व्याख्या एवं अनुवाद–रमाकान्त त्रिपाठी, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1975.

शंकराचार्य : ईशादिदशोपनिषद: : शांकरभाष्य सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1992.

शंकराचार्य : श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1943.

शंकराचार्य : भगवद्गीता-भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं॰ 2008.

शंकराचार्य : उपदेशसाहस्री, स्वामी जगदानन्दकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, 1989.

शंकराचार्य : विवेकचूड़ामणि, स्वामी माधवानन्दकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1982.

□ □ □

शंकराचार्य : आत्मबोध, प्रौढ़ानुभूति, लघुवाक्यवृत्ति, तत्त्वोपदेश, अपरोक्षानुभूति; **प्रकरणपञ्चकम्** में संगृहीत, सं॰ श्रीकृष्णपन्त, हिन्दी अनुवादयुक्त, अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, सं॰ 1990.

शंकराचार्य : पञ्चीकरण, शतश्लोकी, दशश्लोकी, एकश्लोकी, अद्वैतपञ्चरत्नम्, निर्वाणमंजरी, जीवन्मुक्तानन्दलहरी, ब्रह्मज्ञानावली-माला। **वेदान्तसन्दर्भ** में संगृहीत, महेश-अनुसन्धान-संस्थानम, माउण्ट आबू,वाराणसी, 1989.

शंकराचार्य : चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्, **वेदान्तसन्दर्भ** में संगृहीत, महेश-अनुसन्धान-संस्थानम्, माउण्ट आबू, वाराणसी, 1989.

शांकर वेदान्त के अन्य मूल संस्कृत ग्रन्थ

अप्पय्य दीक्षित : सिद्धान्तलेशसंग्रह, अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, सं॰ 2011.

अप्पय्य दीक्षित : परिमल, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

अमलानन्द : कल्पतरु, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

आनन्दबोध भट्टारक : न्यायमकरन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

गोविन्दानन्द : ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य-रत्नप्रभा टीका, अनुवादक: श्री भोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-वाराणसी, 1998.

गंगाधरेन्द्र सरस्वती : स्वाराज्यसिद्धिः, स्वोपज्ञ कैवल्यकल्पद्रुमटीका सहित, सं॰ के॰ नटेश शास्त्री, आर्यमतसंवर्धनी संस्कृतग्रन्थावली-25, मद्रास, 1927.

चित्सुखाचार्य : तत्त्वप्रदीपिका, नयनप्रसादिनी व्याख्या सहित, सं॰ एवं अनुवादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1985.

धर्मराजाध्वरीन्द्र : वेदान्तपरिभाषा, सं॰ एस॰एस॰ सूर्यनारायण शास्त्री, आड्यार लाइब्रेरी, आड्यार, 1942.

नृसिंहाश्रम : वेदान्ततत्त्वविवेक, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर 1955.

नृसिंहाश्रम : अद्वैतदीपिका, खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, काशी, 1919.

पद्मपाद : पंचपादिका, प्रकाशात्मन्‌कृत विवरणसहित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, 1958.

प्रकाशात्मन् : पंचपादिका-विवरण, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, 1958.

प्रकाशानन्द : वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, 1936.

मण्डनमिश्र : ब्रह्मसिद्धि, सं॰एस॰ कुप्पूस्वामी शास्त्री, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स सीरिज, मद्रास, 1937.

मधुसूदन सरस्वती : अद्वैतसिद्धि, योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, षड्दर्शनप्रकाशनस्थानम्, वाराणसी, 1986.

मुरलीधर पाण्डेय : शाङ्करवेदान्तकोश, वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1998.

रामद्वय : वेदान्तकौमुदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतग्रन्थमाला, 1973.

वाचस्पति मिश्र : भामती (दो भाग), हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या-स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1984.

विद्यारण्य स्वामी : पंचदशी, अनुवादक स्वामी स्वाहानन्द, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1987.

विद्यारण्य स्वामी : विवरणप्रमेयसंग्रह, अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी, 1936.

विद्यारण्य स्वामी : जीवन्मुक्तिविवेक, सं॰ एवं अंग्रेजी में अनुवाद-एस॰ सुब्रह्मन्य शास्त्री और टी॰आर॰ श्रीनिवास आयंगर, द आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, आड्यार, मद्रास, 1978.

विमुक्तात्मा : इष्टसिद्धि, सं०एम० हिरियन्ना, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1953.

सदानन्द : वेदान्तसार, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या-पं० बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1993.

सर्वज्ञात्ममुनि : संक्षेपशारीरक, योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणी के साथ, षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1987.

सुरेश्वर : तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, सं० एवं अंग्रेजी अनुवाद-आर० बालासुब्रमण्यन्, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1984.

सुरेश्वर : नैष्कर्म्यसिद्धि, सं० एवं अंग्रेजी अनुवाद-आर० बालासुब्रमण्यन्, मद्रास यूनिवर्सिटी, 1988.

सुरेश्वर : सम्बन्धवार्तिक, सं० एवं अंग्रेजी अनुवाद-टी०एम०पी० महादेवन, मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास, 1958.

सुरेश्वर : बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

श्रीहर्ष : खण्डनखण्डखाद्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्दकृत हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1979.

BOOKS IN ENGLISH

A.B. Shastri : Studies in Post-Samkar Dialectics, Calcutta : University of Calcutta, 1936.

A.G.K. Warrier : The Concept of Mukti in Advaita Vedanta, University of Madras, Madras, 1981.

A.G.K. Warrier : God in Advaita, Indian Institute of Advanced Studies, Simla, 1977.

A.K. Chatterji, R.R. Dravid : The Concept of Saksi in Advaita Vedanta, Banaras Hindu University, 1979.

Anil Kumar Ray Chaudhary : Self and Falsity in Advaita Vedanta, Calcutta: Progressive Publishers, 1955.

A. Ramamurty : Advaita—A Conceptual Analysis, New Delhi, D.K. Printworld (P.) Ltd., 1996.

Bina Gupta : Perceiving in Advaita Vedanta, Delhi : Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, 1995.

D.M. Datta : The Six Ways of Knowing, Calcutta : University of Calcutta, 1960.

Debabrata Sinha: The Metaphysic of Experience in Advaita Vedanta, Motilal Banarsidass, Delhi, 1983.

G. Sundara Ramaiah : A Philosophical Study of the Mysticism of Sankara, K.P. Bagchi & Company, New Delhi, 1982.

G.R. Malkani : Metaphysics of Advaita Vedanta, Amalner : Indian Institute of Philosophy, 1961.

G.R. Malkani : Vedantic Epistemology, Amalner : Indian Institute of Philosophy, 1953.

G.R. Malkani, R. Das & T.R.V. Murti : Ajnana, Luzac and Co., London, 1933.

Herbert Herring : Reflections on Vedanta, University of Madras, Madras, 1978.

J.F. Stall : Advaita and Neo-Platonism : A Critical Study in Comparative Philosophy, Madras : University of Madras, 1961.

John Levi : The Nature of Man according to the Vedanta, Routledge & Kegan Paul, London, 1956.

John Levi : Immediate Knowledge and Happiness, Thorsons Publishers Ltd., London, 1970.

K.S. Murti : Revelation and Reason in Advaita Vedanta, Waltair : Andhra University, 1959.

Kokileswar Sastri : An Introduction to Advaita Philosophy, Calcutta, University of Calcutta, 1924.

M.T. Sahasrabudhe : A Survey of Pre-Sankar Advaita Vedanta, Puna : University of Puna, 1968.

N.B. Chakraborty : The Advaita Concept of Falsity—A Critical Study, Calcutta : Sanskrit College, 1967.

N.K. Devaraja : An Introduction to Shankara's Theory of Knowledge, Motilal Banarsidass, Banaras, 1972.

P.K. Sundaram : Advaita Epistemology with Special Reference to Istsiddhi, Madras : University of Madras, 1984.

P. Sankaranaraya : Jivanmukti and its Individual and Social Dimensions, University of Madras, Madras, 1976.

Paul Deusson : The Philosophy of the Upanishads, translated by A.S. Gedden, New York : Dover Pub. 1966.

R. Balasubra-manian : Advaita Vedanta, Centre for Advanced Study in Philosophy, University of Madras, Madras, 1976.

R.D. Ranade : Vedanta : The Culmination of Indian Thought, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1970.

R.P. Singh : The Vedanta of Samkara, Jaipur : Bharat Publishing House, 1949.

R.R. Pandey : Scientific Temper and Advaita Vedanta, Sureshonmesh Prakashan, Varanasi, 1991.

R. Thangaswami: Advaita Vedanta Literature, A Bibliographical Survey, University of Madras, 1980.

Satkari Mookherjee : Modern Polity and Vedanta, Sanskrit College, Calcutta, 1972.

Sangam Lal Pandey : Pre-Shankara Advaita Philosophy, Darshan Peeth, Allahabad, 1974.

Sanjukta Gupta : Studies in the Philosophy of Madhusudana Saraswati, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1966.

S.K. Maitra : The Main Problems of Philosophy : An Advaita Approach (two volumes), Calcutta : Progressive Publishers, 1962.

S.S. Hasurkar : Vacaspati Mishra on Advaita Vedanta, Darbhanga, Mithila Institute, 1954.

S.S Roy : The Heritage of Sankara, Allahabad : Udayana Publication, 1965.

Swami Satprakashananda : Methods of Knowledge according to Advaita Vedanta, Advaita Ashrama, Calcutta, 1965.

T.M.P. Mahadevan : Gaudapada : A Study in Early Advaita, Madras: University of Madras, 1960.

T.M.P. Mahadevan : The Philosophy of Advaita, Ganesh and Co. (Madras) Private Ltd., Madras, 1969.

T.M.P. Mahadevan : The Pancadasi of Bharatitirth-Vidyaranya, Centre for Advanced Study in Philosophy, University of Madras, Madras, 1975.

Thomos O'Neil : Maya in Sankara, Delhi : Motilal Banarsidass, 1980.

T.P. Ramachandran : The Concept of Vyavaharika in Advaita Vedanta, Madras : University of Madras, 1980.

Vidhushekhara Bhattacharya : The Agamasastra of Gaudapada, Calcutta, University of Calcutta, 1943.

V.H. Date : Upanishads Retold (two vols.), Allied Publishers Private Ltd., New Delhi, 1979.

V.H. Date : Vedanta Explained (two vols.), Bombay : Popular Book Depot, 1954.

William M. Indich : Consciousness in Advaita Vedanta, Motilal Banarsidass, Delhi, 1980.

हिन्दी ग्रन्थ

अभेदानन्द : शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973.

उर्मिला शर्मा : अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान, छन्दस्वती प्रकाशन, वाराणसी, 1978.

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय : शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1992.

चन्द्रधर शर्मा : बौद्ध दर्शन और वेदान्त, बिजन-विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986.

जगदीश सहाय श्रीवास्तव : अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद, 1986.

जी०आर० मलकानी : वेदान्त ज्ञानमीमांसा, अनुवादक-शत्रुसूदन प्रसाद पाण्डेय, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973.

टी०एम०पी० महादेवन : शंकराचार्य, अनुवादक-सुमंगल प्रकाश, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1986.

पाल डायसन : वेदान्त दर्शन, अनुवादक-संगमलाल पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1971.

महेन्द्र सिंह शेखावत : वेदान्त का विकास और स्वरूप, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971.

यशदेव शल्य : मनुष्य और जगत् : वेदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1985.

रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे : उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, अनुवादक-रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983.

राममूर्ति शर्मा : अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1972.

रामस्वरूप सिंह नौलखा : आचार्य शंकर : ब्रह्मवाद, अनुवादक-प्रतापचन्द्र शुक्ल एवं हृदयनारायण मिश्र, किताबघर, कानपुर।

वीणा झा : शंकर का अद्वैत वेदान्त, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1988.

सेठ गोविन्ददास, कृष्णकान्त चतुर्वेदी : अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, श्री निम्बार्क पीठ, प्रयाग

शशी देवी सिंह : शांकर वेदान्त में चैतन्य तत्त्व, गौरव प्रकाशन, वाराणसी, 1988.

सार्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

ENGLISH

Works by Jean Paul Sartre

Jean Paul Sartre : The Transcendence of the Ego, translated by Forrest Williams and Robert Kirkpatrick, The Noonday Press, New York, 1960.

Jean Paul Sartre : The Emotions, translated by Bernard Frechtman, New York, Philosophical Library, 1948.

Jean Paul Sartre : The Psychology of Imagination, London, Methuen & Co. Ltd., 1972.

Jean Paul Sartre : Being and Nothingness, translated by Hazel E. Barnes, Washington Square Press Publication of Pocket Books, New York, 1966.

Jean Paul Sartre : Existentialism and Humanism, translated by Philip Mairet, London : Methuen & Co. Ltd., 1982.

Jean Paul Sartre : Search for a Method, translated by Hazel E. Barnes, New York : Vintage Books, 1968.

Jean Paul Sartre : Critique of Dialectical Reason Vol. 1, translated by Alan Sheridan-Smith, edited by Jonathan Ree, Verso, New Left Books, London, 1991.

Jean Paul Sartre : Nausea, translated by Robert Baldick, Penguin Books, 1988.

Jean Paul Sartre : The Age of Reason, translated by Eric Sutton, Penguin Books, 1984.

Jean Paul Sartre : The Reprieve, translated by Eric Sutton, Penguin Books, 1984.

Jean Paul Sartre : Iron in the Soul, translated by Gerard Hopkins, Penguin Books, 1986.

Jean Paul Sartre : No Exit and three other plays, New York : Vintage Books, 1971.

Jean Paul Sartre : Intimacy and Other Stories, translated by Lloyd Alexander, New York : Berkley Medallion, 1956.

Jean Paul Sartre : Words, translated by Irene Clephane, Penguin Books, 1967.

Jean Paul Sartre : Saint Genet : Actor and Martyr, translated by Bernard Frechtman, George Braziller, New York, 1963.

Jean Paul Sartre : Baudelaire, translated by Martin Turnell, New York: New Directions, 1967.

Jean Paul Sartre : The Condemned of Altona, translated by Sylvia and George Leeson, New York : Vintage Books, 1961.

Works on Sartre and Existentialism

Allen, E.L. : Existentialism from Within, London : Routledge and Kegan Paul, 1953.

Anderson, Thomas C. : Sartre's two ethics, Chicago and La Salle, Illinois: Open Court, 1993.

Aron, Raymond : Marxism and the Existentialists, translated by Helen Weaver and Robert Addis and John Weightman, New York : Harper and Row, 1969.

Aronson, Ronald : Jean Paul Sartre : Philosophy in the world, New Left Books, Verso, London, 1980.

Aronson, Ronald : Sartre's second Critique : An Explanation and Commentary, University of Chicago Press, Chicago, 1987.

Barnes, H.E. : An Existentialist Ethics, New York : Knopf, 1967.

Barret, W. : Irrational Man, New York : Doubleday, 1958.

Beauvoir, Simone de : The Ethics of Ambiguity, Philosophical Library, New York, 1948.

Berdyaev, N. : The Destiny of Man, translated by N. Duddington, New York : Harper and Row, 1960.

Bhadra, M.K. : A Critical Study of Sartre's Ontology of Consciousness, Burdwan University, Burdwan, 1978.

Bhadra, M.K. : A Critical Survey of Phenomenology and Existentialism, ICPR in association with Allied Publishers New Delhi, 1990.

Blackham, H.J. : Six Existentialist Thinkers, London : Routledge and Kegan Paul, 1956.

Catalano, J.A. : A Commentary on Jean Paul Sartre's Being and Nothingness, Harper Torch Books, New York, 1974.

Catalano, J.A. : A Commentary on Jean Paul Sartre's Critique of Dialectical Reason, University of Chicago Press, Chicago 1987.

Caws, Peter : *Sartre*, Routledge and Kegan Paul, London, 1984.

Chatterjee Margaret : The Existentialist Outlook, Orient Longman, 1973.

Cranston, M. : *Sartre*, London : Oliver and Boyd, 1962.

Danto, A.C. : Sartre, Fontana, 1979.

Desan, Wilfred : The Tragic Finale, Harper Torch Books, New York, 1960.

Desan, Wilfred : The Marxism of Jean Paul Sartre, New York : Doubleday Anchor Book, 1966.

Green, Norman : Jean Paul Sartre : The Existentialist Ethic, Ann Arbor : The University of Michigan Press, 1963.

Hartman, Klaus : Sartre's Ontology, Evanston, Illinois : Northwestern University Press, 1966.

Howells, Christina : Sartre : The Necessity of Freedom, Cambridge University Press, Cambridge, 1988.

Heidegger, Martin : Being and Time, translated by John Macquarrie and Edward Robinson, Harper and Row Publishers, 1962.

Husserl, Edmund : Ideas, translated by W.R. Boyce Gibson, London : The MacMillan Company, 1967.

Husserl, Edmund : Cartesian Meditations, translated by Dorion Cairns, The Hague : Martinus Nijhoff, 1973.

Husserl, Edmund : The Paris Lectures, translated by Peter Koestenbaum, The Hague : Martinus Nijhoff, 1970.

Kaufmann, Walter, ed.: Existentialism from Dostoevsky to Sartre, New York : Meridian, 1956.

Kierkegaard, S. : Concluding Unscientific Postscript translated by D.F. Swenson and Walter Lowrie, Princeton : Princeton University Press, 1941.

Kierkegaard, S. : Philosophical Fragments, translated by D.F. Swenson, Princeton : Princeton University Press, 1936.

King, Thomas M. : Sartre and the Sacred, The University of Chicago Press, Chicago, 1974.

Kingston, F. : French Existentialism : A Christian Critique, Toronto : Toronto University Press, 1961.

Macquarrie, J. : Existentialism, Penguin Books, 1986.

Manser, Anthony : Sartre : A Philosophical Study, The Athlone Press, London, 1965.

McMahon, Joseph H. : Human Being, The World of Jean Paul Sartre, Chicago, The University of Chicago Press, 1971.

Mishra, Sabhajit : The Anguished Freedom, GDK Publications, Delhi, 1979.

Murdoch, Iris : Sartre : Romantic Rationalist, Fontana, 1974.

Natanson, Maurice : A Critique of Jean Paul Sartre's Ontology, Nebraska University Press, Lincoln, 1951.

Sheridan, J.F. : The Radical Conversion, Ohio University Press, Athens, 1973.

Sinari, Ramakant : Reason in Existentialism, Bombay : Popular Prakashan, 1966.

Sinha, D. : Phenomenology and Existentialism : An Introduction, Calcutta, Progressive Publishers, 1974.

Sinha, D. : Studies in Phenomenology, The Hague, Martinus Nijhoff, 1969.

Solomon, R. : From Rationalism to Existentialism, New York : Harper and Row Publishers 1972.

Spiegelberg, H. : The Phenomenclogical Movement, The Hague : Martinus Nijhoff, 1965.

Stern, Alfred : Sartre : His Philosophy and Existential Psychoanalysis, Vision Press Ltd. London, 1968.

Thody, P. : Jean Paul Sartre : A Literary and Philosophical Study, MacMillan, New York, 1961.

Tripathi, B.N. : Meaning of Life in Existentialism, Varanasi : Aradhana Prakashan, 1992.

Warnock, Mary : The Philosophy of Sartre, Hutchinson University Library, London, 1965.

Warnock, Mary : Existentialism, Oxford University Press, Oxford, 1985.

हिन्दी ग्रन्थ

पाल रुचिबेक : अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष, अनुवादक-प्रभाकर माचवे, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973.

प्रभा खेतान : सार्त्र का अस्तित्ववाद, सरस्वती विहार, 1984.

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय : फिनामिनालॉजी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974.

लक्ष्मी सक्सेना एवं सभाजीत मिश्र : अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1988.

शान्ति जोशी : अस्तित्ववादी दार्शनिक, किताब महल, इलाहाबाद, 1983.

शिवप्रसाद सिंह : आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1988.

हृदयनारायण मिश्र एवं प्रतापचन्द्र शुक्ल : अस्तित्ववाद, किताबघर, कानपुर, 1968.

अन्य सहायक ग्रन्थ

संस्कृत-हिन्दी

अशोक कुमार लाड : भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973.

ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, व्याख्याकार-डॉ॰ आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988.

उमास्वाति : तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक-सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1985.

एकादशोपनिषद् : अनुवाद एवं व्याख्या-डॉ॰ सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, चन्द्रावती लखनपाल ट्रस्ट सोसाइटी, नयी दिल्ली, 1983.

चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन, वाराणसी : मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

दयाकृष्ण सम्पादित : पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-1, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1988.

दयाकृष्ण सम्पादित : पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग-2, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1984.

पार्थसारथी मिश्र : शास्त्रदीपिका, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, 1940.

यशदेव शल्य : सत्ताविषयक अन्वीक्षा, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, नयी दिल्ली, 1987.

याकूब मसीह : तुलनात्मक धर्म-दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1990.

रेवतीरमण पाण्डेय : समग्र योग, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, 1985.

लक्ष्मी सक्सेना,
सभाजीत मिश्र एवं
शिवानन्द शर्मा
सम्पादित : समकालीन पाश्चात्य दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983.

सुमन गुप्ता : बीसवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र, अनुवादक नरेश अदीम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992.

ENGLISH

Bhattacharyya, K.C. : Studies in Philosophy, ed. by Gopinath Bhattacharyya, Motilal Banarsidass, Delhi, 1983.

Chatterji, A.K. : The Yogachara Idealism, B.H.U., Varanasi, 1962.

Chattopadhyaya, D.P., Lester Embree & Mohanty, J.N. ed. : Phenomenology and Indian Philosophy, ICPR in association with Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1992.

Coward, H.G. ed. : Studies in Indian Thought (collected papers of T.R.V. Murti) Motilal Banarsidass, Delhi, 1983.

Dasgupta, S.N. : A History of Indian Philosophy, Vol. I and Vol. II, Motilal Banarsidass, Delhi, 1991.

Daya Krishna : Indian Philosophy : A Counter Perspective, Delhi : Oxford University Press, 1991.

Gaur, V.P. : Indian Thought and Existentialism, Eastern Book Linkers, Delhi, 1985.

Guru Datt, K. : Existentialism and Indian Thought, Philosophical Library, New York, 1960.

Hiriyanna, M. : Indian Conception of Values, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1975.

Kroy, Moshe : Beyond Being and Nothingness, Navrang, New Delhi, 1990.

Lal, B.K. : MAN—A Study in Contemporary Indian Philosophy from an Existentialist Standpoint, Bharati Bhawan, Patna, 1982.

Larson, G.J. : Classical Sankhya, Delhi : Motilal Banarsidass, 1969.

Maitra, S.K. : The Ethics of the Hindus, Unversity of Calcutta, 1963.

Miri, Sujata : Suffering, Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1976.

Mukerji, A.C. : The Nature of Self, The Indian Press Ltd., Allahabad, 1943.

Murti, T.R.V. : The Central Philosophy of Buddhism, London : George Allen and Unwin, 1955.

Pandey, R.C. : Indian Studies in Philosophy, Delhi : Motilal Banarsidass, 1977.

Pandey, R.R. : Man and the Universe (In the Orthodox Systems of Indian Philosophy), GDK Publications, Delhi, 1978.

Radhakrishnan, S. & P.T. Raju, ed. : The Concept of Man : A Study in Comparative Philosophy, Motilal Banarsidass Publishers Private Ltd., Delhi, 1992.

Radhakrishnan, S. : Indian Philosophy (Two vols), Delhi : Oxford University Press, Centenary Edition, 1989.

Raju, P.T. : Spirit, Being and Self, South Asian Publishers, Delhi, 1982.

Raju, P.T. : Structural Depths of Indian Thought, South Asian Publishers, Delhi, 1985.

Sengupta, Anima : The Evolution of the Samkhya School of Thought, Patna : Patna University, 1959.

Sinari, R.A. ed. : Concept of Man in Philosophy, Indian Institute of Advanced Studies, Simla, 1991.

Sinari, Ramakant : The Structure of Indian Thought, Delhi : Oxford University Press, 1984.

Singh, A.K. : From Anguish to Bliss, Bharat Bharati Prakashan, Jaunpur, 1984.

Srinivasan, G. : The Existentialist Concepts and the Hindu Philosophical Systems, Udayana Publications. Allahabad, 1967.

Srinivasachari, P.N. : The Philosophy of Bhedabhed, Adyar : Adyar Library, 1950.

Srinivasachari,, P.N. : The Philosophy of Visistadvaita, Adyar Library, Adyar, 1943.

Sri Aurobindo : The Life Divine, Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955.

Thilly, Frank : A History of Philosophy, Central Publishing House, Allahabad, 1985.

Tripathi, R.K. : Problems of Philosophy and Religion, Centre of Advanced Study in Philosophy, B.H.U., Varanasi, 1971.

Tripathi, R.K. : Spinoza in the Light of Vedanta, Banaras Hindu University, Banaras, 1957.

Articles

Agarwal, M.M. : Sartre of Pre-relective Consciousness, Journal of Indian Council of Philosophical Research, Vol. VI., No. 1, September-December 1988.

Agarwal, M.M. : Nothingness and Freedom : Sartre and Krishnmurty, Journal of Indian Council of Philosophical Research, Vol. IX, No.1, September-December 1991.

Baldwin, Thomas : Sartre, Existentialism and Humanism, Royal Institute of Philosophy Lecture

Series-20, Supplement to PHILOSOPHY 1986, University Press Cambridge.

Birt, Robert, E. : The Prospects for Community in the Later Sartre, International Philosophical Quarterly, Vol. XXIX, No. 2, June 1989.

Chaudhari, Haridas : Existentialism and Vedanta, Philosophy East and West, Vol. XII, 1:3, April 1962.

Das, Somen : The Problem of Alienation in Hinduism with Particular Reference to Dharma as an Ethical Concept. Proceedings of the Seminar on the Problem of Alienation, Indian Philosophical Annual, Vol. XIII, 1978-79, Dr. S. Radhakrishnan Institute for Advanced Study in Philosophy, University of Madras, Madras.

Iyer, M.K.V. : Existentialism and Indian Thought, Prabuddha Bharata, 1961, pp. 63-68.

Jhingran, Saral : Some Self-Centric tendencies in Sankar Advaita, JICPR, Vol. VII, No. 2, Jan.-April 1990.

Krishna, Daya : Adhyasa—A Non-Advaitic Beginning in Samkara Vedanta, Philosophy East and West, Vol. XV, 3-4 : 343-349.

Larson, G.J. : Classical Samkhya and the Phenomenological Ontology of Jean Paul Sartre, Philosophy East and West, Vol. 19, (Jan., 1969) : 45-58.

Lee, S.A. : The Central Role of Universalization in Sartrean Ethics, Philosophy and Phenomenological Research, Vol. XLVI. No. 1, September 1985.

Malkani, G.R, : A Discussion of Daya Krishna's View on Advaitic Adhyasa, Philosophy East and West, Vol. XVI, 1-2 : 81-83.

Pal, Jagat : The Concept of Bliss, JICPR Vol. IX, No. 3, May-August 1992.

Pandey, R.R. : The Advaitic Theory of Causation, Philosophy East and West, Vol. XXVIII, 1978.

Potter, Karl : The Development of Advaita Vedanta as a School of Philosophy, JICPR Vol. IX, No. 2, Jan.-April, 1992.

Robbins, C.W. : Sartre and Moral Life, Philosophy Vol. 52, No. 202, October 1977.

Saida, S.A. : Sartre's Early Views on Consciousness and his Critique of Husserl, JICPR Vol. III, No. 2, Spring 1986.

Singh, Navjyoti : Phenomenology and Indian Philosophy, JICPR Vol. VII, No. 3, May-August, 1990.

Valone, James, J. : Peeping Through the Keyhole : Sartre and Sociology, International Philosophical Quarterly Vol. 25, No. 3, September, 1985.

❑ ❑ ❑

पुस्तक परिचय

आज के भौतिकवादी, तकनीकी एवं आस्थाहीन विश्व में व्यक्ति कितना अकेला, असुरक्षित तथा अनिश्चित भविष्य की आशंका से भयभीत है–इसका विश्लेषण सार्त्र ने बखूबी किया है। मानव–अस्तित्व की जिन मूलभूत समस्याओं को उपनिषद् के ऋषियों ने उठाया, सार्त्र भी अपनी रचनाओं में आज की भाषा में उन्हीं प्रश्नों को उठाते हैं। हर युग की अपनी भाषा होती है, आज के युग की भाषा अस्तित्ववादी है। समकालीन मनुष्य की चिन्ता, हताशा, कुण्ठा, असहाय्यता, अलगाव की सार्त्र ने अनूठी दार्शनिक व्याख्या की है। सार्त्र का अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी मानव–अस्तित्व की जिन मूलभूत समस्याओं को उठाता है शांकर वेदान्त के आलोक में उन समस्याओं का बेहतर और सर्वसमाधेयी समाधान दिया जा सकता है। सार्त्र के विषयिता एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी मत तथा मूलभूत योजना सम्बन्धी अस्तित्वपरक मनोविश्लेषण को शांकर वेदान्त के सन्दर्श में समझने से तथा शांकर वेदान्त की अस्तित्ववादी ढंग से विश्लेषण द्वारा 'मानव नियति' के सम्बन्ध में एक ऐसा समग्र दर्शन प्रस्तुत करना संभव हो सकता है जो न केवल समकालीन मनुष्य की बौद्धिक एवं दार्शनिक जिज्ञासा को शान्त कर सकेगा अपितु उसे उसकी 'पतितावस्था' से त्राण एवं मुक्ति दिला सकेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में एक प्रयास है।

लेखक परिचय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आनन्द मिश्र सम्प्रति महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ–वाराणसी में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक है।

भारतीय विद्या प्रकाशन

१, यू॰ बी॰ जवाहर नगर, बंग्लो रोड,
दिल्ली–११०००७.
फोन (०११) ३९७१५७०

पो॰ बॉक्स नं॰ ११०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी–२२१००१.
फोन (०५४२) ३९२३७६